श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेव विरचित

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

भाषा टीका :

आचार्यकल्प पण्डितप्रवर टोडरमल

अनुवाद :

वैद्य गंभीरचन्द जैन, अलीगंज

प्रस्तावना

पण्डित रतनचन्द शास्त्री, जयपुर

प्रकाशक :

सत्साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग

श्री कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट।

ए-४, बापूनगर, जयपुर (राज.) - ३०२ ०१५

प्रथम दो संस्करण : ४१००
(दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा)
तृतीय संस्करण : ५२००
२२ अप्रेल, १९८६
(महावीर जयन्ती)

मूल्य : छह रुपये मात्र

मुद्रक :
प्रिन्ट 'ओ' लैण्ड
न्यू कॉलोनी, जयपुर

प्रकाशकीय

प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, मोक्षशास्त्र, समयसारनाटक, मोक्षमार्गप्रकाशक तथा भक्तामर प्रवचन आदि अनेक ग्रंथों के प्रकाशन के उपरान्त 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' का प्रकाशन करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष हो रहा है।

इस ग्रंथ के प्रणेता श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव हैं, जिन्होंने आचार्य कुन्दकुन्द रचित समयसार, प्रवचनसार तथा पंचास्तिकाय संग्रह ग्रंथों की अपूर्व टीकाएं कर कलिकाल गणधर की उपाधि प्राप्त की। उपरोक्त शास्त्रों की संस्कृत टीकाओं के उपरान्त 'तत्त्वार्थसार' और 'पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय' उनकी मौलिक कृतियां हैं। प्रस्तुत कृति को 'जिन प्रवचन रहस्य कोष' के नाम से भी जाना जाता है।

इसकी भाषा टीका पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने मूल ढूंढारी में की है जो कि अपूर्ण रह जाने के कारण सं. १८२७ में पं. दौलतरामजी ने पूर्ण की। इसे पूर्ण करने के लिए जयपुर ने तात्कालिक महाराजा पृथ्वी-सिंह के मुख्य दीवान श्री रतनचन्दजी ने पं. दौलतरामजी को प्रेरित किया था। इसका गुजराती अनुवाद ब्र. भाई ब्रजलाल गिरधरलाल शाह ने किया था जिसका हिन्दी अनुवाद अध्यात्म रसिक भाई वैद्य गम्भीरचन्दजी जैन, अलीगंज ने किया। इस ग्रंथ के प्रथम दो संस्करण ४१०० की संख्या मे दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा प्रकाशित किए गए तथा इसका यह तृतीय सस्करण अब इस ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित किया जा रहा है।

यद्यपि प्रस्तुत प्रकाशन का लागत मूल्य ८/- रु. आया है, तथापि दानदाताओ के आर्थिक सहयोग से इसका विक्रय मूल्य ६/- रु. रखा गया है, अत: हम सभी सहयोगियों का हृदय से आभार मानते हैं। जिन महा-नुभावो ने आर्थिक सहयोग प्रदान किया है, उनकी सूची आगे के पृष्ठों में पृष्ठ न. ७ व ८ पर दी जा रही है।

यहाँ श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट जिसने बडे बड शास्त्रों को प्रकाशित करने का सकल्प लिया है कि गतिविधियों का संक्षिप्त परिचय देना अप्रासांगिक नहीं होगा।

भगवान महावीर के २५००वें निर्वाण महोत्सव वर्ष में सोनगढ़ में सम्पन्न परमागम मन्दिर पचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के अवसर पर स्व. पूज्य कानजी स्वामी की छत्र-छाया में उनके मंगल आशीर्वाद एव स्व. पण्डित श्री बाबूभाई चुन्नीलाल मेहता के सद्प्रयासों से स्थापित श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट से अब दिगम्बर जैन समाज अपरिचित नही रहा है। तीर्थों एवं जीवन्त तीर्थ जिनवाणी की

सुरक्षा में तत्पर इस ट्रस्ट ने १० वर्ष के इस अल्पकाल में ही दिगम्बर जैन समाज में अपना स्थान बना लिया है। इसका जन्म ही प्राकृतिक और अप्राकृतिक आक्रमणों से तीर्थों एवं जीवन्त तीर्थ जिनवाणी की सुरक्षा की पवित्र भावना से हुआ है। समाज से भी इसे आशातीत सहयोग प्राप्त हुआ है तथा इसने भी अपने कार्यों से समाज का मन मोह लिया है, जिसका मुख्य श्रेय स्व. पण्डित बाबूभाई चुन्नीलाल मेहता को है।

(१) **तीर्थक्षेत्रों का जीर्णोद्धार** : तीर्थक्षेत्रों पर होने वाले प्राकृतिक आक्रमणों से सुरक्षा हेतु उनका जीर्णोद्धार करना आवश्यक है। एतदर्थ विभिन्न क्षेत्रों को दिनांक ३० जून, १९८४ तक ३ लाख, ८४ हजार रुपयों की राशि ट्रस्ट की ओर से दी जा चुकी है।

(२) **तीर्थ सर्वेक्षण योजना** : अप्राकृतिक आक्रमणों से तीर्थों की सुरक्षा हेतु सम्बन्धित वैधानिक दस्तावेजों का होना आवश्यक है; अत: एक तीर्थ सर्वेक्षण योजना तैयार की गई है, जिसके अन्तर्गत अनेक क्षेत्रों का प्रामाणिक इतिहास, आवश्यक दस्तावेज, चल अचल सम्पत्ति का विवरण आदि जानकारी सुरक्षित की जा चुकी है।

सर्वेक्षण योजना एवं आर्थिक समायोजना में प. ज्ञानचन्दजी का अभूतपूर्व योगदान मिलता है।

(३) **जिनवाणी की शोध, प्रकाशन एवं विक्रय** : हमारे प्राचीन ग्रंथ वर्तमान में यत्र-तत्र अव्यवस्थित और असुरक्षित रूप में पड़-पड़े नष्ट हो रहे हैं, जिनकी सूची बनाकर उन्हें सुरक्षित रखना सर्वप्रथम कर्त्तव्य जानकर बेंगलौर एवं मद्रास में श्री जैन लिटरेचर रिसर्च इन्स्टीट्यूट की स्थापना की गई है।

इस दिशा में श्री १००८ गोम्मटेश्वर बाहुबली सहस्त्राब्दी महोत्सव के अवसर पर हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती, मराठी, तमिल और कन्नड़ इस प्रकार छह भाषाओं में सत्साहित्य प्रकाशित करके उसे लागत से भी कम मूल्य में जन-जन तक पहुंचाने की व्यवस्था के सन्दर्भ में ट्रस्ट ने पाच लाख से भी अधिक रुपये खर्च किए थे।

(४) **श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय** : जिस प्रकार सुयोग्य पुरातत्व और कानूनविद् कार्यकर्ताओं के अभाव में तीर्थों की सुरक्षा सम्भव नहीं है, उसी प्रकार जिनागम के मर्मज्ञ विद्वानों के अभाव में जिनवाणी की सुरक्षा एव प्रचार भी सम्भव नहीं है।

इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु नवीन पीढ़ी में अध्यात्म रुचि सम्पन्न ठोस विद्वान तैयार करने के लिए १५ जुलाई, १९७७ को पण्डित टोडरमल स्मारक भवन, जयपुर में श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय की स्थापना की गई है।

निरन्तर अध्ययन-मनन-चिन्तन का वातावरण एवं एकमात्र आत्म-हित की तीव्र रुचि इस महाविद्यालय की मौलिक विशेषता है, जिसका वास्तविक श्रेय स्व. पूज्य श्री कानजी स्वामी द्वारा उत्पन्न आध्यात्मिक क्रान्ति को ही है, जिसके प्रभाव से लाखों व्यक्ति जिनागम के अभ्यास द्वारा आत्महित में तत्पर हुए हैं।

इस महाविद्यालय के छात्र श्री दिगम्बर जैन आचार्य संस्कृत कॉलेज, जयपुर के माध्यम से राजस्थान विश्वविद्यालय की जैनदर्शन, शास्त्री तथा आचार्य परीक्षा देते हैं, जो क्रमशः बी.ए. तथा एम.ए. में समकक्ष हैं। इसके साथ ही वीतराग-विज्ञान विद्यापीठ परीक्षा बोर्ड, जयपुर की प्रवेशिका, विशारद आदि अनेक ग्रन्थशः परीक्षाओं में भी यहां के छात्र सम्मिलित होते हैं।

यह लिखते हुए अत्यन्त प्रसन्नता है कि प्रारम्भ से ही प्रतिवर्ष इस महाविद्यालय के छात्र बोर्ड एवं विश्वविद्यालय की परीक्षाओं में सर्वोच्च स्थान प्राप्त करते आ रहे हैं।

विद्यार्थियों के आध्यात्मिक चिन्तन को प्रखर बनाने हेतु विद्वद्वर्य श्री लालचन्द भाई राजकोट, श्री जुगलकिशोरजी 'युगल' कोटा आदि विद्वानों को भी वर्ष में समय-सयय पर आमन्त्रित करके छात्रों की आध्यात्मिक प्यास बुझाई जाती है।

उक्त विद्यालय के सम्पूर्ण कार्य डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल के निर्देशन में होते हैं। छात्रों को जिनागम का ठोस विद्वान तैयार करने के साथ-साथ उनके जीवन को आध्यात्मिक, सात्विक सदाचारमय व निष्प्रही बनाना ही संस्था का मुख्य उद्देश्य है।

इस महाविद्यालय के प्राचार्य, मत्री एवं अधिष्ठाता क्रमशः श्री पं रतनचन्दजी शास्त्री, श्री नेमीचन्दजी पाटनी तथा ब्र० रावजीभाई है। छात्रों के अध्यापन कार्य में श्री अभयकुमारजी जैनदर्शनाचार्य, एम. कॉम. श्री शान्तिकुमारजी पाटिल, जैनदर्शनाचार्य; श्री प्रेमचन्दजी शास्त्री, श्री वीरसागरजी शास्त्री, जैनदर्शनाचार्य श्रीमती कमला बाई भरिल्ल, श्री परमेश्वरदासजी मिश्र व्याकरणाचार्य आदि का भी सहयोग प्राप्त होता है।

यह महाविद्यालय समाज को प्रतिवर्ष १२ विद्वान शास्त्री) उपलब्ध कराता है। अब तक ५९ विद्वान समाज में विभिन्न स्थानों पर कार्यरत हैं।

(५) सत्साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग : आत्मार्थी सत्पुरुष पूज्य श्री कानजी स्वामी के स्वर्गवास के बाद यह बड़ी व्यग्रता से अनुभव किया जा रहा था कि बडे-बड़े ग्रन्थों का प्रकाशन दुर्लभ सा होता जा रहा है। एक तो इन ग्रन्थों के प्रकाशन में लाखों रुपयों की आवश्यकता होती है

और दूसरे बहुत समय देने के साथ-साथ शुद्ध प्रकाशन की भी जिम्मेदारी होती है।

इस दिशा में श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट ने अपने जीवन्त तीर्थ जिनवाणी के प्रचार-प्रसार के उद्देश्य की पूर्ति हेतु अनुकरणीय कदम उठाया है। परिणामस्वरूप सत्साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग श्री टोडरमल स्मारक भवन, जयपुर में कार्यरत है। वर्तमान में इस विभाग का प्रबन्ध एक समिति की देखरेख में श्री अखिल बसल एम.ए., जे.डी सम्हाल रहे हैं।

इस विभाग द्वारा अब तक नाटक समयसार, नियमसार, मोक्षशास्त्र, पंचास्तिकाय सग्रह, मोक्षमार्ग प्रकाशक, श्रावकधर्म प्रकाश, भक्तामर प्रवचन एव चिद्विलास आदि ग्रंथों का प्रकाशन हो गया है तथा पुरुषार्थसिद्ध्युपाय आपके हाथ में है ही। शीघ्र ही अन्य महत्वपूर्ण ग्रंथों का प्रकाशन भी किया जाएगा।

सत्साहित्य प्रकाशन के साथ ही इस विभाग के द्वारा गाव-गाव में तत्त्व प्रचार की गतिविधियों में सक्रियता लाने हेतु प्रचार विभाग के द्वारा दस विद्वानों को नियुक्त किया गया। ये विद्वान गाव-गाव में भ्रमण करके प्रवचन, पाठशाला, स्वाध्याय, शिविर, युवा वर्ग में तत्त्वरुचि इत्यादि तत्त्व-प्रचार प्रसार की विभिन्न महत्वपूर्ण गतिविधियों को अधिकतम सक्रिय बनाते है।

इस विभाग के अन्तर्गत कार्य कर रहे श्री अशोककुमारजी लुहाडिया शास्त्री के कार्यक्रम अत्यधिक सफल रहे है। श्री लुहाड़िया के अतिरिक्त श्री आलोककुमार शास्त्री भी सफलतापूर्वक प्रचार कार्य कर रहे हैं।

इस ट्रस्ट के सस्थापक एव आजीवन अध्यक्ष स्व. श्री प बाबूभाई चुन्नीलाल मेहता के बारे मे कुछ कहना सूर्य को दीपक दिखाना है। आज वे हमारे बीच नही है, पर जीवन के अन्तिम क्षण तक इस ट्रस्ट को उनका सर्वस्व समर्पण प्राप्त रहा है।

इस ग्रंथ को अल्प मूल्य में प्राप्त कराने का श्रेय इस विभाग के प्रबन्धक श्री अखिल बसल एम.ए, जे.डी. को है, जिन्होंने कागज खरीदने में, मुद्रण व्यवस्था में सस्ते खर्च से सुन्दर कार्य अल्प समय में सम्पन्न किया। अतः उनको ट्रस्ट की ओर से धन्यवाद देता हूँ। श्री शांतिकुमार पाटिल ने प्रूफ रीडिंग का कार्य सम्पन्न किया है अतः मै उनका भी आभारी हूँ।

विश्वास है कि यह ट्रस्ट और भी अनुपलब्ध साहित्य शीघ्र से शीघ्र प्रकाशित किया जाकर स्वाध्याय प्रेमियों की पिपासा को शान्त करेगा।

— नेमीचन्द पाटनी

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करने वाले दातारों की सूची

१.	श्री झूमरलालजी पाण्ड्या, गौहाटी	५०१/-
२.	श्री वीरेन्द्रकुमारजी जैन, बम्बई	५०१/-
३.	श्री नेमीचन्दजी अजमेरा, इन्दौर	५००/-
४.	श्रीमती कमला जैन ध. प. श्री फूलचन्दजी जैन, कलकत्ता	५००/-
५.	श्री जवरचन्द गम्भीरचन्दजी जैन (सेमारी वाले), अहमदाबाद	३००/-
६.	श्री सुमेरमलजी अग्रवाल, सरदारशहर	२५१/-
७.	श्रीमती विजयलक्ष्मी ध. प. श्री नेमदास रपरिया, करहल	२५१/-
८.	श्रीमती केशरदेवी जैन ध.प. श्री पारसदास भारतीय, करहल	२५१/-
९.	श्रीमती केशरदेवी जैन, मातेश्वरी श्री झूमरलालजी पाण्ड्या, गौहाटी	२५१/-
१०.	श्री प्रेमचन्दजी जैन, महावीर टेन्ट हाऊस, अजमेर	१३१/-
११.	स्व. श्रीमती कुसुमलता एवं सुनन्द बंसल स्मृति निधि, द्वारा डॉ. राजेन्द्र बंसल, अमलाई	१११/-
१२.	श्री जयन्ती भाई धीरज भाईजी दोशी, बम्बई	१११/-
१३.	श्रीमती जनगोंडा करनाले, कुपवाड़	१११/-
१४.	श्री गुलकन्दा बेन सुन्दरलाल जैन, मार्फत ब्र. श्रीचन्दजी, भिण्ड	१०१/-
१५.	श्री मदनराजजी छाजेड़, जोधपुर	१०१/-
१६.	श्रीमती जैनोदेवी जैन ध. प. श्री जयकुमारजी जैन, दिल्ली	१०१/-
१७.	मै. नन्दराम सूरजमल जैन, दिल्ली	१०१/-
१८.	चौ. फूलचंदजी जैन, बम्बई	१०१/-
१९.	श्रीमती सविता बेन माणिकलाल गांधी, बम्बई	१११/-
२०.	श्री विनोदचंद सुनीलकुमार सर्राफ, मुरार	१०१/-
२१.	श्रीमती निर्मलाकुमारी गोधा ध. प. श्री राजकुमारजी गोधा, जयपुर	१०१/-
२२.	श्री पूनमचंदजी छाबड़ा, इन्दौर	१०१/-
२३.	श्री शांतिकुमारजी पाटिल, जयपुर	१०१/-

२४.	श्री कपूरचन्द महावीरजी जैन, लवाण	१०१/-
२५.	श्रीमती इन्दुबाई ध. प. श्री कुंवरचंदजी जैन, शाहपुर	१०१/-
२६.	हकीम श्री मेहरचंदजी जैन, दिल्ली	१०१/-
२७.	श्री गेन्दीलाल कपूरचंद जैन, लवाण	१०१/-
२८.	श्रीमती रतनबाई पाण्ड्या, इन्दौर	१०१/-
२९.	श्री रतनलाल बालचंदजी गंगवाल पारमर्थिक ट्रस्ट, इन्दौर	१०१/-
३०.	श्री प्रेमकांत ताराचंदजी सा जैन, शाहपुर	१०१/-
३१.	श्री मोहनलालजी ५ ाला, इन्दौर	१०१/-
३२.	श्रीमती पानादेवी ध. प. श्री मोहनलालजी सेठी, गौहाटी	५१/-
३३.	श्रीमती सूरजदेवी जैन द्वारा श्री वीरेन्द्रकुमार विजयकुमारजी, दिल्ली	५१/-
३४.	श्री रूपचंदजी जैन, जयपुर	५१/-
३५.	श्रीमती राजमती ध. प. बापूसो नरदेकर, कुपवाड़	५१/-
३६.	श्री जबरचन्द्र, जाम्बूवती परमार्थक ट्रस्ट, इन्दौर	१००/-
	कुल रु.	६३४१/-

……अमृतचन्द्रज्योति जाज्वल्यमान रहो ।

अविचलितचिदात्मन्यात्मनात्मानमात्म-
न्यनवरतनिमग्नं धारयद् ध्वस्तमोहम् ।
उदितममृतचन्द्रज्योतिरेतत्समंता-
ज्ज्वलतु विमलपूर्णं निःसपत्नस्वभावम् ॥

जो अविचल चेतनास्वरूप आत्मा में आत्मा को अपने आप ही निरन्तर निमग्न रखती है (अर्थात् प्राप्तस्वभाव को कभी नहीं छोड़ती), जिसने मोह (अज्ञानांधकार) का नाश किया है, जिसका स्वभाव निःसम्पन्न (अर्थात् प्रतिपक्षी कर्मों से रहित) है, जो निर्मल और परिपूर्ण है—ऐसी अमृतमय चन्द्रमा के समान ज्योति अर्थात् ज्ञानमय आत्मा सर्व प्रकार से जाज्वल्यमान रहो ।

आचार्य अमृतचन्द्र, समयसार कलश, २७६

प्रस्तावना

<table>
<tr>
<td>आचार्य अमृतचन्द्र
और
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय</td>
<td>पण्डित रतनचन्द भारिल्ल
शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्य रत्न,
एम. ए., बी. एड.</td>
</tr>
</table>

आचार्य अमृतचन्द्र व्यक्तित्व:—अपने विषय में सदा मौन रहने वाले आचार्य अमृतचन्द्र के जीवन परिचय से हमारा धर्म प्रेमी समाज जितना अपरिचित है, उनके कर्त्तृत्व से वह आज उतना ही अधिक परिचित हो चुका है; क्योंकि दिगम्बर समाज में श्री कानजी स्वामी के उदय से आज कुन्दकुन्द और अमृतचन्द्र का साहित्य सर्वाधिक पढ़ा-सुना जाने लगा है।

लोक और लोकेषणा से दूर रहने वाले बनवासी निरीह-निःस्पृह, साधु-सन्तों का स्वभाव ही कुछ ऐसा होता है कि वे केवल आत्मा-परमात्मा का ही चिन्तन-मनन एव उसी की चर्चा-वार्ता करते हैं, अन्य लौकिक वार्ता से एवं अपनी-पराई व्यक्तिगत बातों से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं होता। यदि लिखने-पढ़ने का विकल्प आता है तो केवल वीतराग वाणी को लिखने-पढ़ने का ही आता है। अतः उनसे स्वयं के जीवन-परिचय के विषय में कुछ कहने-सुनने या लिखने की अपेक्षा नहीं की जा सकती।

हाँ, उनके साहित्य-दर्पण में उनके व्यक्तित्व की झांकी अवश्य देखी जा सकती है।

वस्तुत: तो उनका कर्त्तृत्व ही उनका परिचय है और सौभाग्य से आज का स्वाध्यायी समाज उनके कर्त्तृत्व से अपरिचित नहीं रहा। एक साधु का इससे अधिक और परिचय हो भी क्या सकता है? न उनका कोई गाँव होता है, न ठाँव, न कोई कुटुम्ब होता है, न परिवार। उनके व्यक्तित्व का निर्माण उनकी तीव्रतम आध्यात्मिक रुचि, निर्मल वीतराग परिणति एवं जगतजनों के उद्धार की वात्सल्यमयी पावन भावना से ही होता है, जो उनके साहित्य में पग-पग पर प्रस्फुटित हुई है।

अब उनमें मोह-मग्न विश्व के प्रति वात्सल्यभाव जागृत होता है तो वे करुणा विगलित हो कहने लगते हैं:—

"त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीढं ।
रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत् ।।"[1]

हे जगत के जीवो ! अनादिकालीन मोह-मग्नता को छोड़ो और रसिकजनों को रुचिकर उदीयमान ज्ञान का आस्वादन करो ।

तथा

"मज्जन्तु निर्भरममी सममेव लोका:
आलोकमुच्छलति शान्तरसे समस्ता ।
आप्लाव्य विभ्रम तिरस्करणीं भरेण—
प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिन्धु: ।।[2]

यह ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा भ्रमरूप चादर को समूलरूप से हटाकर सर्वांग से प्रगट हुआ है, अत: अब समस्त लोक (विश्व) एक साथ ही उस शान्त रस में पूरी तरह निमग्न हो जाओ, डूब जाओ - उसी में बारम्बार गोते लगाओ ।"

और भी देखिए, वे आत्महित में प्रवृत्त होने की प्रेरणा कितने कोमल शब्दों में दे रहे हैं—

"अयि कथमपि मृत्वा तत्त्व कौतूहली सन्न-
नुभवभवमूर्ते: पार्श्ववर्ती मुहूर्तम्........"[3]

अरे भाई ! तू किसी भी तरह मरकर भी अर्थात् महाकष्ट उठाना पड़े तो भी, तत्त्व का कौतूहली होजा और केवल दो घड़ी के लिए ही सही इस शरीर का भी पड़ौसी बनकर आत्मा का अनुभव कर ! तेरे सब दु:ख दूर हो जायेंगे ।"

मानो उनका हृदय शिष्यों को समझाने से थकता नहीं है, तो अपने ही मन को समझाने लगते हैं—

"अलमलमिति जल्पै दुर्विकल्पैरनल्पै: ।
इयमिह परमार्थश्चिन्त्यतां नित्य लोक: ;।[4]

---

१. समयसार कलश २२
२. वही ३२
३. वही २३
४. वही २४४

बहुत कथन से और बहुत दुर्विकल्पों से बस होओ, बस होओ और एक मात्र परमार्थ का ही निरन्तर अनुभव करो, क्योंकि समयसार के शिवाय दूसरा कुछ भी सारभूत नहीं है।"

आचार्य कुन्दकुन्द के कंचन को कुन्दन बनाने वाले एक मात्र आचार्य अमृतचन्द्र ही हैं, जिन्होंने एक हजार वर्ष बाद उनके ग्रन्थों पर रहस्योद्घाटक बेजोड़ टीकायें लिखकर उनकी गरिमा को जगत के सामने रखा।

यह तो संभव नहीं है कि अमृतचन्द्र के पूर्व कुन्दकुन्द का साहित्य पठन-पाठन में न रहा हो; क्योंकि परवर्ती साहित्यकारों ने जिस सम्मान के साथ उन्हें याद किया है, उससे प्रतीत होता है कि वे जिन परम्परा में कभी भी अपरिचित या अचर्चित नहीं रहे, तथापि अमृतचन्द्र की टीकाओं के पूर्व उनके साहित्य पर लिखी गई टीकायें आज हमें उपलब्ध नहीं हैं और न ऐसे उल्लेख ही प्राप्त होते हैं, जिनमें इस प्रकार की चर्चा हो। एक सम्भावना यह भी हो सकती है कि अमृतचन्द्र की सशक्त टीकाओं के सामने उनके पूर्व लिखी गई टीकायें टिक न सकी हों और काल-कवलित हो गई हों।

जो भी हो, पर कुन्दकुन्द के सशक्त टीकाकार के रूप में आज अमृतचन्द्र ही विख्यात हैं। उनके बाद आचार्य जयसेन ने भी बहुत ही सुन्दर, सरल एवं सुबोध टीकायें लिखीं, परन्तु उन्होंने भी सर्वत्र ही आचार्य अमृतचन्द्र को आगे रखा, तथा स्थान-स्थान पर उनका उल्लेख टीकाकार के नाम से बड़े ही आदर के साथ किया है।

आचार्य अमृतचन्द्र की कृतियों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वे परम आध्यात्मिक संत, गहन तात्त्विक चिन्तक, रससिद्ध कवि, तत्त्वज्ञानी एवं सफल टीकाकार थे। आत्मरस में निमग्न रहने वाले आचार्य अमृतचन्द्र की सभी गद्य-पद्य रचनायें अध्यात्मरस से सराबोर हैं।

वे अपने परवर्ती आचार्यों एवं विद्वानों द्वारा भी बहुत आदर पूर्वक स्मरण किए गए हैं।

समयसार के भाषा टीकाकार पण्डित जयचंद छाबड़ा ने उन्हें 'सुधाचन्द्र सूरि करी संस्कृत टीका वर' तथा तत्त्वार्थसार के टीकाकार ने 'अमृतेन्दु महा सूरि नाना नय विशारदः' कह कर अमृतचन्द्र को 'सूरि' विशेषण लगाकर तथा 'नानानय विशारदः' कहकर स्तुति की है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के टीकाकार ने इन्हें 'मुनीन्द्र' उपाधि से अलंकृत करते हुए ग्रन्थ की प्रशस्ति में लिखा है:—

"अमृतचन्द्र मुनीन्द्र कृत ग्रन्थ श्रावकाचार,
अध्यातमरूपी महा आर्याछन्द सु सार।
पुरुषारथ की सिद्धि को जामें परम उपाय,
जाहि सुनत भव भ्रम मिटै आतम तत्त्व लखाय,।:[1]

इसप्रकार मुनीन्द्र, आचार्य, सूरि जैसी गौरवशाली उपाधियों से उनके महान व्यक्तित्व का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

निश्चय में अनारूढ़, व्यवहार में विमूढ़ जगत के प्रति उनके हृदय में अपार करुणा थी। उनके चित्त में तत्त्व प्रतिपादन के अनन्त विकल्प उमड़ते, उनके वशीभूत हो उनकी लेखनी चल पड़ती, वाणी फूट पड़ती, परन्तु विवेक निरंतर जागृत रहता। वाणी और लेखनी से प्रसूत परमागम में कर्तृत्वबुद्धि नहीं रहती, अपितु "मैं इनका कर्त्ता नहीं हू" ऐसा ही भाव निरन्तर जागृत रहता है। यही कारण है कि लगभग प्रत्येक कृति के अन्त में उनसे यही लिखा गया "मैं इस कृति का कर्त्ता नही हूँ।" मैं तो मात्र ज्ञातादृष्टा आतमाराम हूँ।'

प्रस्तुत कृति के अन्तिम छन्द में भी यही भाव व्यक्त हुआ है, जो इस प्रकार है—

"वर्णैःकृतानि चित्रैः पदानि तु पदैः कृतानि वाक्यानि।
वाक्यैः कृत पवित्रं शास्त्रमिद न पुनरस्माभिः॥[2]

अनेक प्रकार के अक्षरों से रचे गए पद, पदों से बनाये गये वाक्य हैं और उन वाक्यों से फिर यह पवित्र शास्त्र बनाया गया है, हमारे द्वारा कुछ भी नहीं किया गया है।"

आचार्य अमृतचन्द्र के कुल के सम्बन्ध में बारहवी सदी के प्रसिद्ध विद्वान पण्डित आशाधरजी ने निम्नांकित पंक्ति में उन्हें बड़े गौरव के साथ 'ठक्कुर' नाम से अभिहित किया है—

"एतच्च विस्तरेणठक्कुरामृतचन्द्र सूरि
विरचति समयसार टीकायां दृष्टव्यम्"[3]

इसे विस्तार से ठाकुर अमृतचन्द्राचार्य विरचित समयसार की टीका में देखना चाहिये।"

ठक्कुर व ठाकुर एकार्थवाची शब्द हैं, अतः प्रतीत होता है कि अमृतचन्द्राचार्य उच्च क्षत्रिय राजघराने से सम्बन्धित रहे होंगे।

---

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय प्रशस्ति।
२. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय २२६
३. अनागार धर्मामृत : भव्यकुमुद चन्द्रिका टीका ५८८

कर्तृत्व:—आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा रचित सात ग्रन्थ उपलब्ध हैं:—

१. आत्मख्याति (समयसार टीका) २. तत्त्वदीपिका (प्रवचनसार टीका) ३. समय व्याख्या (पंचास्तिकाय टीका) ४. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ५. परमाध्यात्म तरंगिणी (समयसार कलश) ६. लघुतत्त्वस्फोट ७. तत्त्वार्थसार

इनमें प्रथम तीन कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा प्राकृत भाषा में निबद्ध 'नाटकत्रय" अथवा प्राभृतत्रय के नाम से अभिहित किए जाने वाले समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय इन तीन शास्त्रों के भाव को स्पष्ट करने वाली अत्यन्त गम्भीर मार्मिक संस्कृत टीकायें हैं। शेष चार ग्रन्थ जो उनकी स्वतन्त्र मौलिक रचनायें हैं, उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :—

१. **तत्त्वार्थसार** : दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों में समानरूप से माने जाने वाले तत्त्वार्थसूत्र को पल्लवित करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र ने तत्त्वार्थसार नामक ग्रन्थ की पद्यमय रचना की है। अनेक स्थलों पर तत्वार्थसूत्र की लीक से हटकर नवीन विषय वस्तु भी इसमें प्रस्तुत की गई है। इसमें आचार्य अकलंकदेव के तत्त्वार्थ राजवार्तिक का सर्वाधिक आश्रय लिया है।

२. **परमाध्यात्म तरंगिणी** : इसमें अधिकारों का वर्गीकरण भी स्वतन्त्र रूप से (मौलिक) किया गया है। विशेष जानकारी के लिए मूल ग्रन्थ देखना चाहिये।

समयसार की आत्मख्याति टीका के बीच-बीच में जो २७८ कलश आये हैं, यद्यपि वे आत्मख्याति के ही अंश है, तथापि उनका स्वतन्त्र संकलन भी हुआ है, जो परमअध्यात्मतरंगिणी के नाम से जाना जाता है। ये कलश अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इन पर शुभचन्द्र की संस्कृत टीका एवं पाण्डे राजमल की हिन्दी टीका प्रसिद्ध है।

३. **लघुतत्त्व स्फोट** : यह कृति अभी भगवान महावीर के २५००वें निर्वाण वर्ष में प्रकाश में आई है। इसके वर्ण्य विषय, भाषा शैली आदि से यह सिद्ध हो चुका है कि यह आचार्य अमृतचन्द्र की ही कृति है। इसमें २५-२५ छन्दों के २५ अध्याय हैं। कुल ६२५ छन्द हैं। इसमें आचार्य समन्तभद्र की शैली में २४ तीर्थंकरों की स्तुतियों के माध्यम से जिनागम के मूल दार्शनिक तत्त्वों का प्रतिपादन किया गया है।

४. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय : प्रस्तुत पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ आचार्य अमृतचन्द्र की सर्वाधिक पढ़ी जाने वाली मौलिक रचना है। आजतक के सम्पूर्ण श्रावकाचारों में इसका स्थान सर्वोपरि है। इसकी विषयवस्तु और प्रतिपादन शैली तो अनूठी है ही, भाषा एवं काव्य सौष्ठव भी साहित्य की कसौटी पर खरा उतरता है। अन्य किसी भी श्रावकाचार में निश्चय-व्यवहार, निमित्त उपादान एवं हिंसा-अहिंसा का ऐसा विवेचन और अध्यात्म का ऐसा पुट देखने में नहीं आया। प्रायः सभी विषयों के प्रतिपादन में ग्रन्थकार ने अपने आध्यात्मिक चिन्तन एव भाषा शैली की स्पष्ट छाप छोड़ी है।

वे अपने प्रतिपाद्य विषय को सर्वत्र ही निश्चय-व्यवहार की संधि पूर्वक स्पष्ट करते हैं। उक्त सन्दर्भ में प्रभावना अंग सम्बन्धी निम्नांकित छन्द द्रष्टव्य है —

> **"आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रय तेजसा सततमेव।**
> **दान तपो जिनपूजा विद्यातिशयैश्च जिनधर्मः॥**

रत्नत्रय के तेज से निरन्तर अपनी आत्मा को प्रभावित करना, साधना करना निश्चय प्रभावना है तथा दान, तप, जिनपूजा और विशेष विद्या द्वारा जिनधर्म की प्रभावना का कार्य करना व्यवहार प्रभावना है।

एक प्रकार से यह पूरा ग्रन्थ ही निश्चय व्यवहार के समन्वय की सुगन्ध से महक उठा है।

नयविभाग के सम्यग्ज्ञान बिना आज निश्चय-व्यवहार के नाम पर समाज में जो विग्रह चल रहा है, उसके शमन का एकमात्र उपाय इस ग्रन्थ का अधिक से अधिक पठन-पाठन ही है।

जिनागम के अध्ययन के लिए वे निश्चय-व्यवहार का ज्ञान आवश्यक मानते हैं। उनका कहना है कि निश्चय-व्वहार के ज्ञान बिना शिष्य जिनागम का रहस्य नहीं समझ सकता, अतः जिनागम के अभ्यास का अविकल फल भी प्राप्त नहीं कर सकेगा। वे कहते हैं—

> **"व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः।**
> **प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः॥"[1]**

जो जीव व्यवहारनय और निश्चयनय को वस्तु स्वरूप से यथार्थ

---

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय छन्द ८।

जानकर मध्यस्थ होता है, वह शिष्य ही उपदेश का अविकल फल प्राप्त करता है।"

मोक्षमार्ग में निश्चय-व्यवहार का स्थान निर्धारित करने वाली गाथा प्रस्तुत करके टीकाकार पण्डित टोडरमल कहते हैं कि हमें पहले दोनों नयों को भले प्रकार जानना चाहिए, पश्चात् उन्हें यथायोग्य अंगीकार करना चाहिये। किसी एक नय का पक्षपाती होकर हठाग्रही नहीं होना चाहिए। गाथा इस प्रकार है—

"जइ जिणमयं पवज्जह ता मा व्यवहार णिच्छयएमुयह।
एकेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेणपुण तच्चं॥"[1]

यदि तू जिनमत में प्रवर्तन करना चाहता है तो व्यवहार और निश्चय को मत छोड़। यदि निश्चय का पक्षपाती होकर व्यवहार को छोड़ेगा तो रत्नत्रय स्वरूप धर्मतीर्थ का अभाव होगा। और यदि व्यवहार का पक्षपाती होकर निश्चय को छोड़ेगा तो शुद्धतत्त्व का अनुभव नहीं होगा।"

यह गाथा आचार्य अमृतचन्द्र को भी अत्यन्त प्रिय थी। उन्होंने आत्मख्याति में भी इसे उद्धृत किया है। वे अपनी टीकाओं में सहजरूप से कोई उद्धरण देते ही नहीं है तथापि इस गाथा को उन्होंने उद्धृत किया है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मक मोक्षमार्ग का आरम्भ करते हुए सम्यग्दर्शन की प्राप्ति की प्रेरणा देते हुए वे कहते हैं:—

"तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रणीयमखिलम यत्नेन।
तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च॥[2]

इन तीनों में सर्वप्रथम सम्पूर्ण प्रयत्नों से सम्यग्दर्शन की उपासना करना चाहिये, क्योंकि उसके होने पर ही ज्ञान और चारित्र सम्यक् होते हैं।"

उन्होंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की परिभाषायें निश्चय-व्यवहार की सधि पूर्वक दी हैं, जो इस प्रकार हैं—

"जीवा जीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्तव्यम्।
श्रद्धानं विपरीताभिनवेश विविक्तमात्म रूपं तत्॥
कर्तव्योऽध्यवसाय: सदनेकांतात्मकेषु तत्त्वेषु।
संशय विपर्ययानध्यवसायविविक्तमात्मरूपं तत्॥
चारित्रं भवति यत: समस्त सावद्य योग परिहरणात्।
सकल कषाय विमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत्॥

---

१. अनगार धर्मामृत: पण्डित आशाधरजी प्रथम अध्याय पृष्ठ १८।
२. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय छन्द ८

जीवादि पदार्थों का विपरीत अभिनिवेश रहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है और वह निश्चय से आत्मरूप ही है।

जीवादि पदार्थों का संशय-विपर्यय-अनध्यवसाय रहित यथार्थ निर्णय सम्यग्ज्ञान है और वह सम्यग्ज्ञान निश्चय से आत्मरूप ही है।

समस्त सावद्ययोग और सम्पूर्ण कषायों से रहित, पर पदार्थों से विरक्तरूप आत्मा की निर्मलता सम्यक्चारित्र है और वह सम्यक्चारित्र निश्चय से आत्म स्वरूप ही है।"[1]

यहां ध्यान देने की विशेष बात यह है कि प्रत्येक परिभाषा के अन्त में 'आत्मरूपं तत्' पद पड़ा हुआ है, जिसका तात्पर्य है - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र तीनों ही निश्चय से आत्मरूप ही हैं, आत्मा ही हैं।

चारित्र के प्रकरण में आचार्य अमृतचन्द्र ने हिंसा-अहिंसा का जैसा मौलिक चिन्तन प्रस्तुत किया है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं मिलता।

हिंसा-अहिंसा की परिभाषा दर्शाते हुए वे लिखते हैं—

"अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः॥[2]

यत्खलु कषाय योगात् प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा॥

निश्चय से आत्मा में रागादि भावों का प्रगट न होना ही अहिंसा है, और उन रागादि भावों का उत्पन्न होना ही निश्चय से हिंसा है।

कषाय रूप परिणमित हुए मन, वचन, काय के योग से स्व-पर के द्रव्य व भावरूप दोनों प्रकार के प्राणों का व्यपरोपण करना – घात करना ही हिंसा है।"

जिनागम में हिंसा-अहिंसा की व्याख्या अत्यन्त सूक्ष्म रूप से की गई है। सर्वत्र भावों की मुख्यता से ही हिंसा के विविध रूपों का वर्णन है।

पांचों पापों को एवं कषायादि को हिंसा में ही सम्मिलित करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं—

---

१. समयसार कलश २२,३५,३९
२. वही ४३, ४४

"आत्मपरिणामहिंसन हेतुत्वात् सर्वमेहिंसैतत् ।
अनृतवचनादि केवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ।।[1]

आत्मा के शुद्धोपयोग रूप परिणामों के घातक होने से ये सब पाँचों पाप एवं कषायादि सब हिंसा ही हैं, असत्य वचनादि के भेद तो केवल शिष्य को समझाने के लिए कहे हैं।"

आचार्य अमृतचन्द्र ने आत्मा में मोह-राग-द्वेष की उत्पत्ति और उनके निमित्त से स्व-पर प्राण व्यपरोपण को हिंसा कहा है। झूंठ, चोरी, कुशील, और परिग्रह के माध्यम से भी आत्मा में मोह-राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है और स्व-पर प्राणों को पीड़ा भी पहुंचती है — इस कारण झूंठ, चोरी आदि पाप भी प्रकारान्तर से हिंसा ही है।

"सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंसा ।
हिंसायतन निवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या ।।[2]

यद्यपि परवस्तु के कारण सूक्ष्म हिंसा भी नहीं होती तथापि परिणामों की निर्मलता के लिए हिंसा के आयतन बाह्य परिग्रहादि से एवं अन्तरंग कषायादि का त्यागकर उनसे निवृत्ति लेना उचित है।"

आचार्य अमृतचन्द्र ने हिंसा-अहिंसा के अनेक भंगों की मीमांसा की है, जो मूलतः पठनीय है।

जैन दर्शन का मूल 'वस्तुस्वातंत्र्य' जैसा पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में प्रतिपादित हुआ है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। कार्य स्वयं में ही होता है, स्वयं से ही होता है; पर पदार्थ तो उसमें निमित्त मात्र ही होते हैं।

निमित्त उपादान की अपनी-अपनी मर्यादायें हैं। जीव के परिणाम रूप भावकर्म एवं पुद्गल के परिणामरूप द्रव्यकर्म में परस्पर क्या सम्बन्ध है – इस बात को वे इस प्रकार स्पष्ट करते हैं—

"जीवकृतं परिणामं निमित्त मात्रं प्रपद्य पुनरन्ये ।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्म भावेन ।।
परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः ।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ।।[3]

जीव के रागादि परिणामों का मात्र निमित्त पाकर कार्माण वर्गणा रूप पुद्गल स्वयं ही कर्म रूप में परिणमित होते हैं। इसी प्रकार जीव भी स्वयं ही रागादि भाव रूप परिणमता है, पुद्गल कर्मों का उदय तो उसमें निमित्त मात्र ही होते हैं।"

---

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय छन्द ४२
२. वही छन्द ४९
३. वही छन्द १३,१४

उक्त दोनों ही छन्दों में यह बात अत्यन्त स्पष्ट रूप से कही गई है कि प्रत्येक द्रव्य का परिणाम स्वयं से ही होता है, पर पदार्थ तो उसमें मात्र निमित्त ही होते हैं ।

"रत्नत्रय ही मुक्ति का कारण है और रत्नत्रय मुक्ति का ही कारण है ।"

— इस तथ्य को भी इसमें बडी खूबी से उजागर किया गया है । सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप निश्चय रत्नत्रय ही मुक्ति का कारण है, शुभ भाव रूप व्यवहार रत्नत्रय अर्थात् रागभाव मुक्ति का कारण नही है । इसी प्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र निश्चय से मुक्ति के ही कारण हैं, बन्ध के कारण रच मात्र नही है ।

वे साफ-साफ लिखते है —

"येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धन नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धन भवति ॥
येनांशेन ज्ञान तेनांशेनास्य बन्धन नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धन भवति ॥
येनांशेन चारित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥[1]

इस आत्मा के जिस अश मे सम्यग्दर्शन है, उस अश (पर्याय) से बन्ध नही है तथा जिस अश मे राग है, उस अश से बन्ध होता है ।

जिस अंश में इसके ज्ञान है, उस अश मे बन्ध नही है और जिस अंश में राग है, उस अश मे बन्ध होता है ।

जिस अंश मे इसके चारित्र है उस अश से बन्ध नही और जिस अश में राग है उस अश से बन्ध होता है ।

जीव के तीन प्रकार है (१) बहिरात्मा (२) अन्तरात्मा (३) परमात्मा । बहिरात्मा के तो रत्नत्रय है ही नहीं, अतः उनके तो सर्वथा बंध है और परमात्मा का रत्नत्रय परिपूर्ण हो चुका है । अतः उनके बन्ध का सर्वथा अभाव है । बस एक अन्तरात्मा ही है, जिनके अश-रूप मे रत्नत्रय प्रगट होता है । वे अन्तरात्मा चतुर्थ गुणस्थान से बारहवों गुणस्थान तक होते है । उनके जिस अश मे रत्नत्रय प्रगट हुआ है, उस अश में राग का अभाव होने से कर्मबन्ध नहीं होता और जिस अंश में राग रहता है, उस अश मे कर्मबन्ध होता है ।

यद्यपि आचार्य अमृतचन्द्र एक विशुद्ध आध्यात्मिक सन्त पुरुष हैं और वे अपनी लेखन और काव्य प्रतिभा का पूरा उपयोग स्व-पर कल्याण

---

१ पुरुषार्थसिद्धयुपाय

में ही करना चाहते हैं, अत: उनके द्वारा साहित्यिक सौन्दर्य या काव्यकला के प्रदर्शन की कल्पना भी नहीं की जा सकती, तथापि उनमें सहज काव्य-प्रतिभा होने से उनके साहित्य में स्वभावत: साहित्यिक सौन्दर्य भी आ गया है ।

संस्कृत भाषा पर तो आचार्य अमृतचन्द्र का असाधारण अधिकार है ही, प्राकृत भाषा के भी वे मर्मज्ञ विद्वान थे । अन्यथा कुन्दकुन्द को कसे पढ़/समझ सकते थे । उनके समयसार, प्रवचनसार जैसे गूढ़ गम्भीर शास्त्रों का दोहन करना एवं उसे सुसस्कृत सशक्त भाषा में ऐसी अभिव्यक्ति देना अमृतचन्द्र जैसे समर्थ आचार्य का ही काम था ।

प्रस्तुत ग्रन्थ की भाषा अत्यन्त सरल, सुबोध और प्रांजल है । जहाँ एक ओर इस ग्रन्थ में उनकी सस्कृत भापा इतनी सरल व सहज बोधगम्य है, वही दूसरी ओर उनके टीका ग्रन्थों में लम्बी-लम्बी समासयुक्त पदावली भी देखी जा सकती है । अमृतचन्द्र का गद्य-पद्य दोनों शैलियों पर समान अधिकार है । वे केवल आध्यात्मिक सन्त ही नहीं, बल्कि एक रससिद्ध कवि एवं विचारशील लेखक भी हैं ।

आपकी पद्य शैली में स्पष्टता, सुबोधता, मधुरता और भावाभिव्यक्ति की अद्‌भुत सामर्थ्य है । सभी पद्य प्रसाद गुण संयुक्त और शांत रस से सराबोर है । यद्यपि यह सम्पूर्ण ग्रन्थ आर्या छन्द में है, तथापि परम अध्यात्म तरंगिणी आदि पद्यकाव्यों में विविध प्रकार के छन्दों की इन्द्रधनुषी छटा भी दर्शनीय है ।

इस प्रकार यह ग्रन्थ भावपक्ष एवं कलापक्ष दोनों दृष्टियों से समृद्ध है ।

ऐसी विलक्षण प्रतिभा के धनी आचार्य अमृतचन्द्र की यह मौलिक एव अनेक अभूतपूर्व विशेषताओं से समृद्ध अद्‌भुत कृति पुरुषार्थसिद्ध्युपाय विद्वद्वर्ग एवं आत्मार्थी मुमुक्षसमाज दोनो के द्वारा ही गहराई से अध्ययन करने योग्य है, नित्य स्वाध्याय करने योग्य है ।

सभी आत्मार्थीजन जिनप्रवचन के रहस्य का उद्‌घाटन करने वाले इस जिनप्रवचन रहस्य कोष के रहस्य को जानकर अपने आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ को जागृत कर उसके द्वारा परमसिद्धि को प्राप्त करें - इस मंगल कामना के साथ विराम………।

२२ अप्रल, १९८९
महावीर जयन्ती

– प्राचार्य श्री टोडरमल दि० जैन
सिद्धान्त महाविद्यालय, जयपुर–१५

—●—

विषय - सूची



॥ श्री जिनाय नमः ॥

श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेव विरचित

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी कृत भाषावचनिका का

हिन्दी रूपान्तर

मङ्गलाचरण (दोहा)

परम पुरुष निज अर्थ को, साधि हुए गुणवृन्द ।
आनन्दामृत—चन्द्रको, वन्दत हूँ सुखकन्द ॥१॥
वानी बिन वैन न बने, वैन बिना बिन नैन ।
नैन बिना ना वान बन, नमो वानि बिन नैन ॥२॥
गुरु उर भावै आप-पर तारक, वारक पाप ।
सुरगुरु गावै आप-पर, हारक बाध कलाप ॥३॥
मैं नमो नगन जैन जिन, ज्ञान ध्यान धन लीन ।
मैन मान बिन दान घन, एन हीन तन छीन ॥४॥

भावार्थः—जो परमपुरुष निजसुखस्वरूप प्रयोजन को साधकर शुद्धगुण समूहरूप हुए, उन आनन्दामृतचन्द्रको (जिनेन्द्रदेव को) मैं जो (द्रव्यदृष्टि से) सुखकन्द हूँ, वह वन्दना करता हूँ ॥१॥ वाणी बिना वचन नहीं हो सकते हैं और वचनों बिना नयों का कथन सत्य नहीं है, नयों के कथन बिना (वस्तुस्वरूपका वर्णन करने वाली) स्याद्वादरूप वाणी

नहीं बन सकती है, किन्तु हे जिनेन्द्रदेव ! आपकी वाणी स्याद्वादरूप होती हुई भी निरक्षरी है, मैं उसे नमस्कार करता हूँ ॥२॥ सुरगुरु (बृहस्पति) अपने और दूसरों के मन को हरनेवाले वचनों द्वारा अपना और पर का कल्याण करनेवाले एवं पापों का नाश करनेवाले जिन गुरुओं की स्तुति करते हैं, वे गुरु मेरे हृदय में वास करें ॥३॥ मैं जिनमुद्रा धारक जैन नग्न दिगम्बर मुनि को नमस्कार करता हूँ कि जो ज्ञान-ध्यानरूपी घन — स्वरूप में लीन हैं; काम, मान (घमण्ड, कर्तृत्व, ममत्व) से रहित, मेघ समान धर्मोपदेश की वृष्टि करनेवाले, पापरहित और क्षीणकाय हैं अर्थात् कषाय और काया क्षीण है तथा ज्ञानस्वरूपमें अत्यन्त पुष्ट हैं ॥४॥

(कवित्त सवैया मनहरण ३१ वर्ण)

कोई नर निश्चयसे आत्माको शुद्ध मान,
हुआ है स्वच्छन्द न पिछाने निज शुद्धता ।
कोई व्यवहार दान तप शीलभावको ही,
आत्माका हित मान छोड़ै नहीं मूढ़ता ।
कोई व्यवहारनयनिश्चयके मारगको,
भिन्न भिन्न जानकर करत निज उद्धता ।
जाने जब निश्चयके भेद व्यवहार सब,
कारणको उपचार माने तब बुद्धता ॥५॥

(दोहा)

श्रीगुरु परम दयालु हो, दिया सत्य उपदेश ।
ज्ञानी माने जानकर, ठानत मूढ़ कलेश ॥६॥

अब ग्रन्थकर्त्ता श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव मङ्गलाचरणके निमित्त अपने इष्टदेव को स्मरण करके इस जीव का प्रयोजन सिद्ध होने में कारण-भूत निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग की एकतारूप उपदेश जिसमें है, ऐसे ग्रन्थ का आरम्भ करते हैं ।

सूत्रावतारः—

(आर्या छन्द)

तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः ।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र ॥१॥

अन्वयार्थः—[**यत्र**] जिसमें [**दर्पणतल इव**] दर्पण के तल की तरह [**सकला**] समस्त [**पदार्थमालिका**] पदार्थों का समूह [**समस्तैरनन्तपर्यायैः समं**] अतीत, अनागत और वर्तमान काल की समस्त अनन्त पर्यायों सहित [**प्रतिफलति**] प्रतिबिम्बित होता है, [**तत्**] वह [**परं ज्योतिः**] सर्वोत्कृष्ट शुद्ध चेतनारूप प्रकाश [**जयति**] जयवन्त वर्तो।

टीका:—'**तत् परं ज्योतिः जयति**' यह परम ज्योति – सर्वोत्कृष्ट शुद्धचेतना का प्रकाश जयवन्त वर्तता है। वह कैसा है? '**यत्र सकला पदार्थ मालिका प्रतिफलति**' जिस शुद्धचेतना प्रकाश में समस्त ही जीवादि पदार्थों का समूह प्रतिबिम्बित होता है। किसप्रकार? '**समस्तैः अनन्त-पर्यायैः समं**' अपने समस्त अनन्त पर्यायों सहित प्रतिबिम्बित होता है।

शुद्धचेतना प्रकाश की कोई ऐसी ही महिमा है कि उसमें जितने भी पदार्थ हैं, सभी अपने आकार सहित प्रतिभासमान होते हैं। किसप्रकार? '**दर्पणतल इव**' जिसप्रकार दर्पण के ऊपर के भाग में घट-पटादि प्रतिबिम्बित होते हैं। यहाँ दर्पणका दृष्टान्त दिया है, उसका प्रयोजन यह जानना कि दर्पण को ऐसी इच्छा नहीं है कि मैं इन पदार्थों को प्रतिबिम्बित करूँ। जिसप्रकार लोहे की सुई लोहचुम्बक के पास स्वयं ही जाती है, वैसे दर्पण अपना स्वरूप छोड़कर उस दर्पण में प्रवेश नहीं कर जाते। जैसे कोई पुरुष किसी दूसरे पुरुष से कहे कि हमारा यह काम करो ही करो, वैसे वे पदार्थ अपने को प्रतिबिम्बित करवाने के लिये दर्पण से प्रार्थना भी नहीं करते। सहज ही ऐसा सम्बन्ध है कि जैसे उन पदार्थों का आकार होता है, वैसे ही आकाररूप वे दर्पण में प्रतिबिम्बित होते हैं। प्रतिबिम्बित होने पर दर्पण ऐसा नहीं मानता कि यह पदार्थ मेरे लिये भले हैं, उपकारी हैं, राग करने योग्य हैं, अथवा बुरे हैं और द्वेष करने योग्य हैं। वह तो सभी पदार्थों के प्रति समानभाव से प्रवर्तन करता है। जिसप्रकार दर्पण में कितने ही, घटपटादि पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं, उसी प्रकार ज्ञानरूपी दर्पण में समस्त जीवादि पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं। ऐसा कोई द्रव्य या पर्याय नहीं है, जो ज्ञान में न आया हो। ऐसी शुद्धचैतन्य परम ज्योति की सर्वोत्कृष्ट महिमा स्तुति करने योग्य है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि यहाँ गुण का स्तवन तो किया, किन्तु किसी पदार्थ का नाम नहीं लिया, उसका कारण क्या? प्रथम पदार्थ का नाम लेना चाहिए, पश्चात् गुण का वर्णन करना चाहिए। उसका उत्तरः—यहाँ आचार्य ने अपनी परीक्षाप्रधानता प्रकट की है। भक्त दो

प्रकार के होते हैं – एक आज्ञाप्रधानी और दूसरे परीक्षाप्रधानी। जो जीव परम्परा मार्ग से चले आए जैसे तैसे देवगुरु का उपदेश प्रमाण करके विनयादि क्रियारूप प्रवर्तन करते हैं, उन्हें आज्ञाप्रधानी कहते हैं और जो अपने सम्यग्ज्ञान द्वारा प्रथम स्तुति करने योग्य गुण का निश्चय करते हैं, पश्चात् जिनमें वह गुण होता है, उनके प्रति विनयादि क्रियारूप प्रवर्तन करते हैं; उन्हें परीक्षाप्रधानी कहते हैं। क्योंकि कोई पद, वेश अथवा स्थान पूज्य नहीं है, गुण पूज्य है; इसलिये यहाँ शुद्धचेतना प्रकाशरूप गुण स्तुति करने योग्य है – ऐसा आचार्य ने निश्चय किया। जिसमें ऐसा गुण हो, वह सहज ही स्तुति करने योग्य हुआ; कारण कि गुण द्रव्याश्रित है, द्रव्य से भिन्न नहीं – ऐसे विचार पूर्वक निश्चय करें, तो ऐसा गुण प्रकट रूप से अरिहन्त और सिद्ध में होता है। इसप्रकार अपने इष्टदेव का स्तवन किया।

अब इष्ट आगम का स्तवन करते हैं—

परमागमस्य *जीवं निषिद्धजात्यन्ध सिन्धुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥२॥

अन्वयार्थः—[**निषिद्धजात्यन्ध सिन्धुरविधानम्**] जन्मान्ध पुरुषों के हस्ति विधान का निषेध करनेवाला, [**सकलनयविलासितानाम्**] समस्त नयों से प्रकाशित वस्तुस्वभाव का [**विरोधमथनं**] विरोध दूर करनेवाला [**परमागमस्य**] उत्कृष्ट जैन सिद्धान्तका [**जीवं**] जीवभूत [**अनेकान्तम्**] अनेकान्त को। (एक पक्ष रहित स्याद्वाद को) मैं अमृतचन्द्रसूरि नमस्कार करता हूँ।

टीकाः—'**अहं अनेकान्तं नमामि**'–मैं ग्रन्थकर्ता, अनेकान्त (एक पक्ष रहित स्याद्वाद को) नमस्कार करता हूँ। यहाँ कोई प्रश्न करे कि जिनागम को नमस्कार करना चाहिये था, उसके बदले स्याद्वाद को नमस्कार किया, उसका कारण क्या? उसका उत्तरः – जिस स्याद्वाद को हमने नमस्कार किया, वह कैसा है? '**परमागमस्य जीवं**' उत्कृष्ट जैन सिद्धान्त का जीवभूत है।

जैसे शरीर जीव सहित कार्यकारी है, जीव रहित मृतक शरीर किसी काम का नहीं; वैसे ही जैन सिद्धान्त भी वचनात्मक हैं,

---

* पाठान्तर बीजं।

वचन क्रमवर्ती है। वह जो कथन करता है, वह एक नय की ही प्रधानता से होता है; परन्तु जैन सिद्धान्त सर्वत्र स्याद्वाद से व्याप्त है। जहाँ एक नय की प्रधानता है, वहाँ दूसरा नय सापेक्ष है; इसलिये जैन सिद्धान्त इस जीव को कार्यकारी है। अन्यमत का सिद्धान्त एक पक्ष से दूषित है, स्याद्वाद रहित है, अतः कार्यकारी नहीं है। जो जैन शास्त्रों के उपदेश को भी अपने अज्ञान से स्याद्वाद रहित श्रद्धान करते हैं, उन्हें विपरीत फल मिलता है; इसलिए स्याद्वाद परमागम का जीवभूत है, उसे नमस्कार करता हूँ।

कैसा है स्याद्वाद ? 'निषिद्धजात्यन्ध सिन्धुरविधानम्' जन्मान्ध पुरुषों का हस्ति-विधान जिसने दूर कर दिया है, ऐसा है। जिसप्रकार अनेक जन्मान्ध पुरुष मिले, उन्होंने एक हाथी के अनेक अंग अपनी स्पर्शनेन्द्रिय से अलग अलग जाने। आंखों के बिना पूर्ण सर्वांग हाथी को न जानने से हाथी का स्वरूप अनेक प्रकार कहकर (एक अंग को ही सर्वांग मानकर) परस्पर वाद करने लगे। तब आंखवाले पुरुष ने हाथी का यथार्थ निर्णय करके उनकी भिन्न भिन्न कल्पना को दूर कर दिया। उसी प्रकार अज्ञानी एक वस्तु के अनेक अंगों को अपनी बुद्धि से जुदे जुदे अन्य अन्य रीति से निश्चय करता है। सम्यग्ज्ञान बिना सर्वांग (सम्पूर्ण) वस्तु को न जानने से एकान्तरूप वस्तु मानकर परस्पर वाद करता है। वहाँ स्याद्वाद विद्या के बल से सम्यग्ज्ञानी यथार्थरूपेण वस्तु का निर्णय करके उसकी भिन्न भिन्न कल्पना दूर कर देता है। उसका उदाहरण –

सांख्यमती वस्तु को नित्य ही मानता है, बौद्धमती क्षणिक ही मानता है। स्याद्वादी कहता है कि जो वस्तु सर्वथा नित्य ही हो, तो अनेक अवस्थाओं का पलटना किसप्रकार बन सकता है ? जो वस्तु को सर्वथा क्षणिक मान लें तो "जो वस्तु पहले देखी थी, वह यही है" – ऐसा प्रत्यभिज्ञान किसप्रकार हो सकता है ? अतः कथंचित् द्रव्यकी अपेक्षा से वस्तु नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से क्षणिक है – इस भांति जब स्याद्वाद से सर्वांग वस्तु का निर्णय करने में आता है, तब एकान्त श्रद्धा का निषेध हो जाता है। पुनः कैसा है स्याद्वाद ? 'सकल नय विलासितानां विरोधमथनं' समस्त नयों से प्रकाशित जो वस्तुस्वभाव, उसके विरोध को दूर करता है।

नय विवक्षा से वस्तु में अनेक स्वभाव हैं और उनमें परस्पर विरोध है। जैसे कि अस्ति और नास्ति का प्रतिपक्षीपना है, परन्तु

जब स्याद्वाद से स्थापना करें तो सर्व विरोध दूर हो जाता है। किस प्रकार ? एक ही पदार्थ कथंचित् स्वचतुष्टय की अपेक्षा से अस्तिरूप है, कथंचित् परचतुष्टय की अपेक्षा से नास्तिरूप है। कथंचित् समुदाय की अपेक्षा से एकरूप है, कथंचित् गुण पर्याय की अपेक्षा से अनेकरूप है। कथंचित् संज्ञा, संख्या, लक्षण और प्रयोजन की अपेक्षा से गुण पर्यायादि अनेक भेदरूप है, कथंचित् सत् की अपेक्षा से अभेदरूप है। कथंचित् द्रव्य अपेक्षा से नित्य है, कथंचित् पर्याय अपेक्षा से अनित्य है। इसप्रकार स्याद्वाद सर्व विरोध को दूर करता है। स्यात् अर्थात् कथंचित् नय अपेक्षा से वाद अर्थात् वस्तुस्वभाव का कथन, इसे स्याद्वाद कहते हैं, इसी को नमस्कार किया है।

आगे आचार्य ग्रन्थ करने की प्रतिज्ञा करते हैं—

लोकत्रयैकनेत्रं निरूप्य परमागमं प्रयत्नेन ।
अस्माभिरुपोद्ध्रियते विदुषां पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम् ॥३॥

अन्वयार्थ :—[**लोकत्रयैकनेत्रं**] तीन लोक सम्बन्धी पदार्थों को प्रकाशित करने में अद्वितीय नेत्र [**परमागमं**] उत्कृष्ट जैनागम को [**प्रयत्नेन**] अनेक प्रकार के उपायों से [**निरूप्य**] जानकर अर्थात् परम्परा जैन सिद्धान्तों के निरूपण पूर्वक [**अस्माभिः**] हमारे द्वारा [**विदुषां**] विद्वानों के लिये [**अयं**] यह [**पुरुषार्थसिद्ध्युपायः**] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय नामक ग्रन्थ [**उपोद्ध्रियते**] उद्धार करने में आता है।

टीका:—'**अस्माभिः विदुषां अयं पुरुषार्थसिद्ध्युपायः उपोद्ध्रियते**' मैं ग्रन्थकर्ता ज्ञानी जीवों के लिए यह पुरुषार्थसिद्ध्युपाय नामक ग्रन्थ अथवा पुरुष का प्रयोजन सिद्ध करने का उपाय प्रकट करता हूँ। '**किं कृत्वा**' क्या करके ? '**प्रयत्नेन**' अनेक प्रकार से उद्यम करके सावधानी पूर्वक '**परमागमं निरूप्य**' परम्परा से जैन सिद्धान्त का विचार करके।

जिस प्रकार केवली, श्रुतकेवली और आचार्यों के उपदेश की परम्परा है, उसका विचार करके मैं उपदेश देता हूँ; स्वमति से कल्पित रचना नहीं करता हूँ। कैसा है परमागम ? '**लोकत्रयैकनेत्रं**' तीन लोकों में त्रिलोक सम्बन्धी पदार्थों को बताने के लिए अद्वितीय नेत्र है।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में वक्ता, श्रोता और ग्रन्थ का वर्णन करना चाहिये – ऐसी परम्परा है।

इसलिये प्रथम ही वक्ता का लक्षण कहते हैं—

मुख्योपचार विवरण निरस्तदुस्तरविनेय दुर्बोधाः ।
व्यवहारनिश्चयज्ञाः प्रवर्तयन्ते जगति तीर्थम् ॥४॥

अन्वयार्थः—[**मुख्योपचार विवरण निरस्त दुस्तर विनेय दुर्बोधाः**] मुख्य और उपचार कथन के विवेचन से प्रकटरूपेण शिष्यों का दुर्निवार अज्ञानभाव जिन्होंने नष्ट कर दिया है तथा [**व्यवहारनिश्चयज्ञाः**] जो व्यवहारनय और निश्चयनय के ज्ञाता हैं, ऐसे आचार्य [**जगति**] जगत में [**तीर्थं**] धर्मतीर्थ का [**प्रवर्तयन्ते**] प्रवर्तन कराते हैं।

टीकाः—'**व्यवहार निश्चयज्ञाः जगति तीर्थं प्रवर्तयन्ते**' व्यवहार और निश्चय के जाननेवाले आचार्य इस लोक में धर्मतीर्थ का प्रवर्तन कराते हैं। कैसे हैं आचार्य ? '**मुख्योपचार विवरण निरस्त दुस्तर विनेय दुर्बोधाः**' मुख्य और उपचार कथन से शिष्य के अपार अज्ञानभाव को जिन्होंने नाश किया है, ऐसे हैं।

उपदेशदाता आचार्य में अनेक गुण चाहिए, परन्तु व्यवहार और निश्चय का ज्ञान मुख्यरूप से चाहिए। किसलिए ? जीवों को अनादि से अज्ञानभाव है, वह मुख्य (निश्चय) कथन और उपचार (व्यवहार) कथन के जानने से दूर होता है। वहाँ मुख्य कथन तो निश्चय नय के आधीन है, वही बताते हैं - '**स्वाश्रितो निश्चयः**' जो अपने ही आश्रय से हो, उसको निश्चय कहते हैं। जिस द्रव्य के अस्तित्व में जो भाव पाये जावें, उस द्रव्य में उनका ही स्थापन करना तथा परमाणुमात्र भी अन्य कल्पना न करने का नाम स्वाश्रित है। उसका जो कथन है, उसीको मुख्य कथन कहते हैं। इसको जानने से अनादि शरीरादि परद्रव्य में एकत्व श्रद्धानरूप अज्ञानभाव का अभाव होता है, भेदविज्ञान की प्राप्ति होती है, सर्व परद्रव्य से भिन्न अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप का अनुभव होता है। वहाँ परमानन्द दशा में मग्न होकर केवल दशा को प्राप्त होता है। जो अज्ञानी इसको जाने बिना धर्म में प्रवृत्ति करते हैं, वे शरीराश्रित क्रियाकाण्ड को उपादेय जानकर संसार का कारण जो शुभोपयोग, उसे ही मुक्ति का कारण मानकर स्वरूप से भ्रष्ट होते हुए संसार में भ्रमण करते हैं। इसलिए मुख्य (निश्चय) कथन का ज्ञान अवश्य होना चाहिए और वह निश्चयनय के आधीन है, इसलिए उपदेश-दाता निश्चयनय का ज्ञाता होना चाहिए; कारण कि स्वयं ही न जाने, तो शिष्यों को कैसे समझा सकता है ?

तथा 'पराश्रितो व्यवहारः' जो परद्रव्य के आश्रित हो उसे व्यवहार कहते हैं। किंचित् मात्र कारण पाकर अन्य द्रव्य का भाव अन्य द्रव्य में स्थापन करे, उसे पराश्रित कहते हैं। उसीके कथन को उपचार कथन कहते हैं। इसे जानकर शरीरादि के साथ सम्बन्धरूप संसार दशा है, उसका ज्ञान करके संसार के कारण जो आस्रव-बन्ध है, उन्हें पहिचान कर मुक्त होने के उपाय जो संवर-निर्जरा है, उनमें प्रवर्तन करे। अज्ञानी इन्हें जाने बिना शुद्धोपयोगी होने की इच्छा करता है, वह पहले ही व्यवहार साधन को छोड़कर पापाचरण में लीन होकर नरकादिक के दुःखसंकटों में जा गिरता है, इसलिए उपचार कथन का भी ज्ञान होना चाहिए और वह व्यवहारनय के आधीन है, अतः उपदेशदाता को व्यवहार का भी ज्ञान होना आवश्यक है। इस भांति दोनों नयों के ज्ञाता आचार्य धर्मतीर्थ के प्रवर्तक होते हैं, अन्य नहीं।

आगे कहते हैं कि आचार्य दोनों नयों का उपदेश किस प्रकार करते हैं—

निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम् ।
भूतार्थबोधविमुखः प्रायः सर्वोऽपि संसारः ॥५॥

अन्वयार्थः—[**इह**] इस ग्रन्थ में [**निश्चयं**] निश्चयनय को [**भूतार्थं**] भूतार्थ और [**व्यवहारं**] व्यवहारनय को [**अभूतार्थं**] अभूतार्थ [**वर्णयन्ति**] वर्णन करते हैं। [**प्रायः**] प्रायः [**भूतार्थबोध विमुखः**] भूतार्थ अर्थात् निश्चयनय के ज्ञान से विरुद्ध जो अभिप्राय है, वह [**सर्वोऽपि**] समस्त ही [**संसारः**] संसारस्वरूप है।

टीकाः—'**इह निश्चयं भूतार्थं व्यवहारं अभूतार्थं वर्णयन्ति**' आचार्य इन दोनों नयों में निश्चयनय को भूतार्थ कहते हैं और व्यवहारनय को अभूतार्थ कहते हैं।

भूतार्थ नाम सत्यार्थ का है। भूत अर्थात् जो पदार्थ में पाया जावे और अर्थ अर्थात् "भाव"। उनको जो प्रकाशित करे तथा अन्य किसी प्रकार की कल्पना न करे, उसे भूतार्थ कहते हैं। जिसप्रकार कि सत्यवादी सत्य ही कहता है, कल्पना करके कुछ भी नहीं कहता। [illegible] ...ाया जाता है। यद्यपि जीव और पुद्गल का अनादि काल से एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध [illegible] ...से दिखाई पड़ते हैं, तो

भी निश्चयनय आत्मद्रव्य को शरीरादि परद्रव्यों से भिन्न ही प्रकाशित करता है। यही भिन्नता मुक्तदशा में प्रकट होती है, इसलिए निश्चय-नय सत्यार्थ है।

अभूतार्थ नाम असत्यार्थ का है। अभूत् अर्थात् जो पदार्थ में न पाया जावे और अर्थ अर्थात् भाव, उनको जो अनेक प्रकार की कल्पना करके प्रकाशित करें, उसे अभूतार्थ कहते हैं। जैसे कोई असत्यवादी पुरुष जरा से भी कारण का बहाना – छल पाकर अनेक कल्पना कर असदृश को भी सदृश कर दिखाता है। उसी को बताते हैं – जैसे यद्यपि जीव और पुद्गल की सत्ता भिन्न है, स्वभाव भिन्न है, प्रदेश भिन्न है; तथापि एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध का छल (बहाना) पाकर आत्मद्रव्य को शरीरादिक परद्रव्य से एकत्वरूप कहता है। मुक्तदशा में प्रकट भिन्नता होती है, तब व्यवहारनय स्वयं ही भिन्न-भिन्न प्रकाशित करने को तैयार होता है; अतः व्यवहारनय असत्यार्थ है। **'प्रायः भूतार्थबोध विमुखः सर्वोऽपि संसारः'** अतिशयपने सत्यार्थ जो निश्चयनय है, उसके परिज्ञान से विपरीत जो परिणाम (अभिप्राय) है, वह समस्त संसार स्वरूप ही है।

भावार्थः—इस आत्मा का परिणाम निश्चयनय के श्रद्धान से विमुख होकर शरीरादिक परद्रव्यों के साथ एकत्व श्रद्धानरूप होकर प्रवर्तन करे उसीका नाम संसार है, इससे जुदा संसार नाम का कोई पदार्थ नहीं है; इसलिए जो जीव संसार से मुक्त होने के इच्छुक हैं, उन्हें शुद्धनय के*सन्मुख रहना योग्य है। इसीको उदाहरण देकर समझाते हैं – जिसप्रकार बहुत पुरुष कीचड़ के संयोग से जिसकी निर्मलता आच्छादित हो गई है, ऐसे गंदले जल को ही पीते हैं और कोई अपने हाथ से कतकफल (निर्मली) डालकर कीचड़ और जल को अलग-अलग करता है। वहाँ निर्मल जल का स्वभाव ऐसा प्रकट होता है, जिसमें अपना पुरुषाकार प्रतिभासित होता है, उसी निर्मल जल का वह आस्वादन करता है। उसी प्रकार बहुत से अज्ञानी जीव कर्म के संयोग से जिसका ज्ञानस्वभाव ढंक गया है, ऐसे अशुद्ध आत्मा का अनुभव करते हैं। कुछ ज्ञानी जीव अपनी बुद्धि से शुद्धनिश्चयनय के स्वरूप को जानकर कर्म और आत्मा को भिन्न-भिन्न करते हैं, तब निर्मल आत्मा का स्वभाव ऐसा प्रकट होता है, जिसमें अपने चैतन्य पुरुष का आकार प्रतिभासित हो जाता है – इसप्रकार वह निर्मल आत्मा का

---

* शुद्धनय के विषय त्रैकालिक पूर्णरूप अपने निश्चय परमात्मा के सम्मुख।

स्वानुभवरूप आस्वादन करते हैं, अतः शुद्धनय कतकफल समान है, उसी के श्रद्धान से सर्व सिद्धि होती है।

आगे कहते हैं कि यदि एक निश्चयनय के श्रद्धान से ही सर्व सिद्धि होती है, तो फिर आचार्य व्यवहारनय का उपदेश क्यों करते हैं ? उसका उत्तर इस गाथा में कहा है।

अब जो श्रोता, गाथा में कथित अर्थ के उपदेश को अंगीकार करने योग्य नहीं हैं, उसका कथन करते हैं—

अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा: देशयन्त्यभूतार्थम् ।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति ।।६।।

अन्वयार्थः—[**मुनीश्वराः**] ग्रन्थकर्ता आचार्य [**अबुधस्य**] अज्ञानी जीवों को [**बोधनार्थं**] ज्ञान उत्पन्न करने के लिये [**अभूतार्थं**] व्यवहारनय का [**देशयन्ति**] उपदेश करते हैं और [**यः**] जो जीव [**केवल**] केवल [**व्यवहारम् एव**] व्यवहारनय को ही [**अवैति**] जानता है [**तस्य**] उसको – उस मिथ्यादृष्टि जीव के लिये [**देशना**] उपदेश [**नास्ति**] नही है।

टीका:—'**मुनीश्वराः अबुधस्य बोधनार्थं अभूतार्थं देशयन्ति**'— मुनीश्वर अर्थात् आचार्य अज्ञानी जीवों को ज्ञान उत्पन्न करने के लिये अभूतार्थ ऐसा जो व्यवहारनय, उसका उपदेश करते हैं।

अनादि का अज्ञानी जीव व्यवहारनय के उपदेश बिना समझ नहीं सकता, इसलिए आचार्य महाराज व्यवहारनय के द्वारा उसको समझाते हैं, वही यहाँ बता रहे हैं। जैसे किसी म्लेच्छ को एक ब्राह्मण ने '**स्वस्ति**' शब्द कहकर आशीर्वाद दिया, तो उसे उसके अर्थ का कुछ बोध नही हुआ और वह ब्राह्मण की तरफ ताकता रहा। वहाँ एक दुभाषिया उससे म्लेचा भाषा में बोला कि यह ब्राह्मण कहता है कि 'तेरा कल्याण हो,' तब आनंदित होकर उस म्लेच्छ ने आशीर्वाद अंगीकार किया। ठीक इसी प्रकार आचार्य ने अज्ञानी जीव को '**आत्मा**' शब्द कहकर उपदेश दिया तब वह कुछ नहीं समझा और आचार्य की तरफ देखता रह गया। तब निश्चय और व्यवहारनय के ज्ञाता आचार्य ने व्यवहारनय के द्वारा भेद उत्पन्न करके (गुण-गुणी आदि भेद-विवक्षा द्वारा) उसे बताया कि

जो यह देखनेवाला, जाननेवाला और आचरण करनेवाला पदार्थ है, वही आत्मा है, तब सहज परमानन्द दशा को प्राप्त होकर वह आत्मा को निज-स्वरूप से अंगीकार करता है। इसप्रकार यह सद्भूतव्यवहारनय का उदाहरण दिया।

आगे असद्भूतव्यवहारनय का उदाहरण देते हैं – जैसे घृत से संयुक्त मिट्टी के घड़े को व्यवहार से घी का घड़ा कहते हैं। यहाँ कोई पुरुष जन्म से ही उसको घी का घड़ा जानता है। जब कोई पुरुष घृत का घड़ा कहकर उसे समझाता है, तभी वह समझता है और यदि उससे मिट्टी का घड़ा कहकर संशोधन किया जाय, तो वह किसी दूसरे कोरे घड़े को समझ बैठता, है घी के घड़े को नहीं। निश्चय से विचार किया जाय तो घड़ा मिट्टी का ही है; परन्तु उसको समझाने के लिये 'घृत का घड़ा' कहकर ही संबोधित कहना पड़ता है। उसी प्रकार यह चैतन्यस्वरूप आत्मा कर्मजनित पर्याय से संयुक्त है, उसे व्यवहार से देव, मनुष्य इत्यादि नाम से कहते हैं, अज्ञानी जीव अनादि से उस आत्मा को देव, मनुष्य इत्यादि स्वरूप ही जानता है, जब कोई उसे देव, मनुष्य वगैरह नाम से संबोधित करके समझावे तभी समझ पाता है और यदि आत्मा का नाम चैतन्यस्वरूप कहे, तो अन्य किसी परमब्रह्म परमेश्वर को समझ बैठता है। निश्चय से विचार करें तो आत्मा चैतन्यस्वरूप ही है; परन्तु अज्ञानी को समझाने के लिये आचार्य देव गति, जाति आदि के भेद द्वारा जीव का निरूपण करते हैं। इसतरह अज्ञानी जीवों को ज्ञान उत्पन्न कराने के लिए आचार्य महाराज व्यवहार का उपदेश करते हैं। **'केवलं व्यवहारं एव प्रवर्तते यः तस्य देशना नास्ति'** जो जीव केवल व्यवहार ही का श्रद्धान करता है, उसके लिये उपदेश नहीं हैं।

निश्चयनय के श्रद्धान बिना केवल व्यवहार मार्ग में ही प्रवर्त्तन करनेवाले मिथ्यादृष्टियों के लिये उपदेश देना निष्फल है।

आगे केवल व्यवहारनय के श्रद्धान होने का कारण बताते हैं—

माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीत सिंहस्य।
व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य ॥७॥

अन्वयार्थः—[यथा] जिसप्रकार [अनवगीत सिंहस्य] सिंह को सर्वथा न जाननेवाले पुरुष के लिये [माणवकः] बिलाव [एव] ही

[सिंहः] सिंहरूप **[भवति]** होता है, **[हि]** निश्चय से **[तथा]** उसी प्रकार **[अनिश्चयज्ञस्य]** निश्चयनय के स्वरूप से अपरिचित पुरुष के लिये **[व्यवहारः]** व्यवहार **[एव]** ही **[निश्चयतां]** निश्चयनय को **[याति]** प्राप्त होता है।

टीकाः—'यथा हि अनवगीत सिंहस्य माणवक एव सिंहो भवति'— जिसप्रकार निश्चय से (वास्तव में) जिसने सिंह को नहीं जाना है, उसके लिये बिलाव ही सिंहरूप होता है तथा **'अनिश्चयज्ञस्य व्यवहार एव निश्चयतां याति'** उसी प्रकार जिसने निश्चय का स्वरूप नहीं जाना है, उसको व्यवहार ही निश्चयरूप हो जाता है अर्थात् व्यवहार को ही निश्चय मान बैठता है।

जैसे बालक सिंह को न पहिचानता हुआ बिलाव को ही सिंह मान लेता है, उसी प्रकार अज्ञानी जीव निश्चय के स्वरूप को न पहिचानता हुआ व्यवहार को ही निश्चय मान लेता है। उसका स्पष्टीकरण करते हैं – जो जीव अपने शुद्ध चैतन्यरूप आत्मा के श्रद्धान, ज्ञान, आचरणरूप मोक्षमार्ग को नहीं पहचानता, वह जीव व्यवहारदर्शन-ज्ञान-चारित्र का साधन करके अपने को मोक्ष का अधिकारी मानता है। अर्हन्तदेव, निर्ग्रन्थ गुरु, दयाधर्म का श्रद्धान करके अपने आपको सम्यग्दृष्टि मानता है और किंचित् जिनवाणी को जानकर अपने को ज्ञानी मानता है, महाव्रतादि क्रिया का साधन करके अपने को चारित्रवान मानता है। इस-प्रकार वह शुभोपयोग में सन्तुष्ट होकर शुद्धोपयोगरूप मोक्षमार्ग में प्रमादी है, इसलिये केवल व्यवहारनय का अवलम्बी हुआ है; अतः उसे उपदेश देना निष्फल है।

यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि ऐसा श्रोता भी उपदेश के योग्य नहीं है, तो फिर कैसे गुण संयुक्त श्रोता चाहिये? इसका उत्तर आगे देते हैं—

व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्यतत्त्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः ॥८॥

अन्वयार्थः—[यः] जो जीव **[व्यवहारनिश्चयौ]** व्यवहारनय और निश्चयनय को **[तत्त्वेन]** वस्तुस्वरूप से **[प्रबुध्य]** यथार्थरूप से जानकर **[मध्यस्थः]** मध्यस्थ **[भवति]** होता है अर्थात् निश्चयनय और व्यवहारनय

के पक्षपात से रहित होता है [सः] वह [एव] ही [शिष्यः] शिष्य [देशनायाः] उपदेश का [अविकलं] सम्पूर्ण [फलं] फल [प्राप्नोति] प्राप्त करता है।

टीका:—'**यः व्यवहारनिश्चयौ तत्त्वेन प्रबुध्य मध्यस्थः भवति**' जो जीव व्यवहारनय और निश्चयनय के स्वरूप को यथार्थरूप से जानकर पक्षपात रहित होता है '**स एव शिष्यः देशनाया अविकलं फलं प्राप्नोति**' वही शिष्य उपदेश का सम्पूर्ण फल प्राप्त करता है।

श्रोता में अनेक गुण होने चाहिये; परन्तु व्यवहार और निश्चय को जानकर एक पक्ष का हठाग्रहीरूप न होने का गुण मुख्य रूप से होना चाहिये। कहा भी है—

जइ जिणमयंपवज्जह ता मा व्यवहार णिच्छए मुअह।
एकेण विणा छिज्जइ, तित्थं अण्णेण पुण तच्चं॥

(पंडित प्रवर आशाधरजी कृत अनगार धर्मामृत अ० अ० पृष्ठ १८)

अर्थः—यदि तू जिनमत में प्रवर्तन करता है, तो व्यवहार और निश्चय को मत छोड़। यदि निश्चय का पक्षपाती होकर व्यवहार को छोड़ेगा, तो रत्नत्रयस्वरूप धर्मतीर्थ का अभाव होगा और यदि व्यवहार का पक्षपाती होकर निश्चय को छोड़ेगा, तो शुद्ध तत्त्वस्वरूप का अनुभव नहीं होगा; अतः पहले व्यवहार-निश्चय को भले प्रकार जानकर पश्चात् यथायोग्य इनका अंगीकार करना, पक्षपात न करना—यही उत्तम श्रोता का लक्षण है।

प्रश्नः—जो निश्चयव्यवहार को जाननेरूप गुण वक्ता के बतलाये थे, वे ही श्रोता के भी बतला दिये, तो इसमें विशेषता क्या हुई ?

उत्तरः—जो गुण आधिक्यतारूप से वक्ता में होवे, वही गुण हीनतारूप से थोड़े अंशों में श्रोता में भी होना चाहिये।

इसप्रकार वक्ता और श्रोता का वर्णन किया है।

❀ भूमिका समाप्त ❀

ग्रन्थ प्रारम्भ

अब ग्रन्थ का वर्णन करते हैं। इस ग्रन्थ में पुरुष के अर्थ की सिद्धि का उपाय बतायेंगे, अतः प्रथम ही पुरुष का स्वरूप कहते हैं :—

अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शरसगन्धवर्णैः।
गुणपर्ययसमवेतः समाहितः समुदयव्ययध्रौव्यैः ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ :—[**पुरुषः**] पुरुष अर्थात् आत्मा [**चिदात्मा**] चेतना-स्वरूप [**अस्ति**] है [**स्पर्शरसगन्धवर्णैः**] स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण से [**विवर्जितः**] रहित है [**गुणपर्ययसमवेतः**] गुण और पर्याय सहित है तथा [**समुदयव्ययध्रौव्यैः**] उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य [**समाहितः**] युक्त है।

टीका: —'**पुरुषः चिदात्मा अस्ति**' पुरुष है वह चैतन्यस्वरूप है। (पुरु) उत्तम चेतना गुण में (सेते) स्वामी होकर प्रवर्त्तन करे उसको पुरुष कहते हैं। ज्ञान-दर्शन – चेतना के नाथ को पुरुष कहते हैं।

यही चेतना अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव इन तीन दोषों से रहित इस आत्मा का असाधारण लक्षण है। अव्याप्ति दोष उसे कहते हैं कि जिसको जिसका लक्षण कहा गया हो, वह उसके किसी लक्ष्य में हो और किसी लक्ष्य में न हो; परन्तु कोई आत्मा चेतना रहित नहीं है। यदि आत्मा का लक्षण रागादि कहें, तो अव्याप्ति दूषण लगता है; क्योंकि रागादिक संसारी जीवों में हैं, (परन्तु) सिद्ध जीवों में नहीं हैं। जो लक्षण लक्ष्य में हो और अलक्ष्य में भी हो, उसे अतिव्याप्ति दूषण कहते हैं; परन्तु चेतना, जीव पदार्थ के अलावा किसी अन्य पदार्थ में नहीं पाई जाती। यदि आत्मा का लक्षण अमूर्त्त कहें, तो अतिव्याप्ति दूषण लगता है; कारण कि जिसतरह आत्मा अमूर्तिक है, उसी तरह धर्म, अधर्म, आकाश और काल भी अमूर्तिक हैं तथा जो प्रमाण में न आये उसे असम्भव कहते हैं। चेतना, जीव पदार्थ में प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण से जानी जाती है। यदि आत्मा का लक्षण जड़पना कहें, तो असम्भव दोष लगता है; कारण कि यह प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है।

इस प्रकार तीनों दोष रहित आत्मा का चेतना लक्षण दो प्रकार का

है – एक ज्ञान चेतना और दूसरी दर्शन चेतना। जो पदार्थों को साकाररूप विशेषता से जाने, उसे ज्ञान चेतना कहते हैं। जो पदार्थों को निराकाररूप सामान्यता से देखे, उसे दर्शन चेतना कहते हैं। यही चेतना परिणामों की अपेक्षा से तीन प्रकार की है। जब यह चेतना शुद्ध ज्ञानस्वभावरूप से परिणमन करती है, तब ज्ञान चेतना; जब रागादि कार्यरूप से परिणमन करती है, तब कर्म चेतना और जब हर्ष-शोकादि वेदनरूप कर्म के फलरूप परिणमन करती है, तब कर्मफल चेतना कही जाती है। इसप्रकार चेतना अनेक स्वांग करती है, फिर भी चेतना का अभाव कभी नहीं होता। इस भांति चेतना लक्षण से विराज मान जीव नामक पदार्थ को पुरुष कहते हैं।

पुनः कैसा है पुरुष ? **'स्पर्श रस गन्ध वर्णैः विवर्जितः'** स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण से रहित है। आठ प्रकार के स्पर्श, पांच प्रकार का रस, दो प्रकार का गन्ध और पांच प्रकार का वर्ण – ऐसे जो पुद्गलों के लक्षण हैं, उनसे रहित अमूर्तिक है। इस विशेषण से पुद्गल द्रव्य से भिन्नता प्रगट की, कारण कि यह आत्मा अनादिकाल से सम्बन्धरूप जो पुद्गल द्रव्य है, उसमें अहङ्कार-मकार रूप प्रवर्त्तन करता है। जीव अपने चैतन्य पुरुष को अमूर्तिक जाने तो द्रव्यकर्म, नोकर्म, धन-धान्यादि पुद्गल द्रव्य में अहंकार-ममकार न करे।

पुनः कैसा है पुरुष ? **'गुणपर्ययसमवेतः'** गुण पर्यायों से विराजमान है अर्थात् द्रव्य है वह गुणपर्यायमय है, अतः आत्मा भी गुण पर्यायों सहित विराजमान है। वहाँ गुण का लक्षण सहभूत है। सह अर्थात् द्रव्य के साथ, भू अर्थात् सत्ता। द्रव्य में जो सदाकाल पाया जावे उसे गुण कहते हैं। आत्मा में गुण दो प्रकार के हैं – ज्ञान-दर्शनादि 'असाधारण गुण' हैं, वे अन्य द्रव्य में नहीं पाये जाते। अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्वादि 'साधारण गुण' हैं, जो अन्य द्रव्यों में भी पाये जाते हैं। पर्याय का लक्षण क्रमवर्त्ती है, जो द्रव्य में अनुक्रम से उत्पन्न हो कदाचित् – कोई बार हो उसे पर्याय कहते हैं। आत्मा में पर्याय दो प्रकार की है। जो नार-नरकादि आकाररूप अथवा सिद्ध के आकाररूप पर्याय है, उसे 'व्यंजन पर्याय' कहते हैं। ज्ञानादि गुणों का भी स्वभाव अथवा विभावरूप परिणमन है, वह छह प्रकार से हानि-वृद्धि रूप है, उसे 'अर्थ पर्याय' कहते हैं। इन गुण-पर्यायों से आत्मा की तादात्मक एकता है। इस विशेषण से आत्मा का विशेष्य जाना जा सकता है।

पुनः कैसा है पुरुष ? **'समुदयव्ययध्रौव्यैः समाहितः'** उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य से संयुक्त है। नवीन अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय का उत्पन्न होना वह 'उत्पाद', पूर्व पर्याय का नाश होना वह 'व्यय' और गुण अपेक्षा अथवा द्रव्य अपेक्षा से शाश्वत रहना वह 'ध्रौव्य' है। जिसप्रकार सोना कुण्डल पर्याय से उत्पन्न होता है, कंकण पर्याय से नष्ट होता है तथा पीतादिक की अपेक्षा अथवा स्वर्णत्व की अपेक्षा सभी अवस्थाओं में शाश्वत है। इस विशेषण से आत्मा का अस्तित्व प्रगट किया।

प्रश्नः— ऐसे चैतन्य पुरुष के अशुद्धता किसप्रकार से हुई, जिसके कारण इसे अपने अर्थ की सिद्धि करनी पड़े ? इसका उत्तर आगे कहते हैं :—

परिणममानो नित्यं ज्ञानविवर्त्तैरनादिसन्तत्या ।
परिणामानां स्वेषां स भवति कर्त्ता च भोक्ता च ॥१०॥

अन्वयार्थ :—[**सः**] वह चैतन्य आत्मा [**अनादिसन्तत्या**] अनादि की परिपाटी से [**नित्यं**] निरन्तर [**ज्ञानविवर्त्तैः**] ज्ञानादि गुणों के विकाररूप रागादि परिणामों से [**परिणममानः**] परिणमन करता हुआ [**स्वेषां**] अपने [**परिणामानां**] रागादि परिणामों का [**कर्त्ता च भोक्ता च**] कर्त्ता और भोक्ता भी [**भवति**] होता है।

टीका :—**'अनादि सन्तत्या नित्यं ज्ञानविवर्त्तैः परिणममानः स्वेषां परिणामानां कर्त्ता च भोक्ता च भवति'** वह चैतन्य पुरुष अनादि की परिपाटी से सदा ज्ञान-चारित्ररहित जो रागादिक परिणाम, उनसे परिणमन करता हुआ उन स्वयं के रागादि परिणामों का कर्त्ता तथा भोक्ता भी है।

इस आत्मा के अशुद्धता नई उत्पन्न नहीं हुई है। अनादि काल से सन्तानरूप से द्रव्यकर्म से रागादि होते हैं, फिर उन्हीं रागादि से द्रव्य-कर्म का बन्ध होता है। स्वर्ण कीटिकावत् अनादि से सम्बन्ध है। उस सम्बन्ध के कारण इस जीव को अपने ज्ञान स्वभाव का बोध नहीं है, इसलिये उदयागत कर्म पर्याय में इष्ट-अनिष्ट भाव से राग, द्वेष, मोहरूप परिणमन कर रहा है। यद्यपि इन परिणामों के होने में द्रव्यकर्म कारण है तथापि यह परिणाम चेतनामय है, इसलिए इन परिणामों का व्याप्य-व्यापक भाव से आत्मा ही कर्त्ता है, भाव्य-भावक भाव से आत्मा ही

भोक्ता है। अब व्याप्य-व्यापकभाव का स्वरूप कहते हैं। जो नियम से सहचारी हो उसे व्याप्य कहते हैं। जिसप्रकार धुआं और अग्नि में साहचर्य है अर्थात् जहाँ धुआं होता है, वहाँ अग्नि होती है, अग्नि के बिना धुआं नहीं होता। उसी प्रकार रागादिभाव और आत्मा में सहचारीपना है। जहाँ रागादि होते हैं, वहाँ आत्मा होता ही है, आत्मा के बिना रागादि नहीं होते। इस व्याप्ति क्रिया में जो कर्म है, उसे व्याप्य कहते हैं और आत्मा कर्त्ता है, उसे व्यापक कहते हैं। इसप्रकार जहां व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध हो, वहीं कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध सम्भव है, अन्य स्थान में सम्भव नहीं। इसी प्रकार जो जो भाव अनुभवन करने योग्य हों, उन्हें भाव्य तथा अनुभव करनेवाले पदार्थ को भावक कहते हैं। ऐसा भाव्य-भावक सम्बन्ध जहां हो, वहीं भोक्ता-भोग्य सम्बन्ध सम्भवित है, अन्य स्थान पर नहीं।

इस प्रकार इस अशुद्ध आत्मा के अर्थ-सिद्धि कब होती है और अर्थ-सिद्धि किसे कहते हैं वह आगे बतलाते हैं:—

सर्वविवर्त्तोत्तीर्णं यदा स चैतन्यमचलमाप्नोति।
भवति तदा कृतकृत्यः सम्यक्पुरुषार्थसिद्धिमापन्नः ॥११॥

अन्वयार्थः—[**यदा**] जब [**सः**] उपर्युक्त अशुद्ध आत्मा [**सर्वविवर्त्तोत्तीर्णं**] सर्व विभावों से पार होकर [**अचलं**] अपने निष्कम्प [**चैतन्यं**] चैतन्यस्वरूप को [**आप्नोति**] प्राप्त होता है। [**तदा**] तब यह आत्मा उस [**सम्यक्पुरुषार्थसिद्धिम्**] सम्यक् प्रकार से पुरुषार्थ के प्रयोजन की सिद्धि को [**आपन्नः**] प्राप्त होता हुआ [**कृतकृत्यः**] कृतकृत्य [**भवति**] होता है।

टीका:—'**स यदा सर्वविवर्त्तोत्तीर्णं चैतन्यमचलमाप्नोति तदा कृतकृत्यः भवति**' रागादि भावों से लिप्त वही आत्मा सर्व विभावों से पार होकर अपने चैतन्यस्वरूप आत्मा को निःशंकतापूर्वक प्राप्त होता है, तब कृतकृत्य होता है। कैसा है यह आत्मा ? '**सम्यक्पुरुषार्थसिद्धिमापन्न**' सम्यक्प्रकार से पुरुषार्थ की सिद्धि को प्राप्त हुआ है।

जब यह आत्मा स्वपर भेदविज्ञान से शरीरादिक परद्रव्य को भिन्न जाने, तब "यह भला – इष्ट, यह बुरा – अनिष्ट" ऐसी बुद्धि का त्याग कर देता है; कारण कि जो कुछ भी भला-बुरा होता है, वह सब अपने परिणामों से ही होता है, पर द्रव्य के करने से भला-बुरा नहीं होता है,

इसलिये सर्व परद्रव्यों में रागद्वेष भावों का त्याग कर देता है। जो अवशता से (पुरुषार्थ की निर्बलता से) रागादि उत्पन्न होते हैं, उनके नाश के लिये अनुभव – अभ्यास में उद्यमशील रहता है। ऐसा करते-करते जब सर्व विभावभावों का नाश हो जाता है और अक्षुब्ध समुद्रवत् शुद्धात्म-स्वरूप में लवणवत् परिणाम लीन हो जाता है, ध्याता-ध्येय का विकल्प भी नहीं रहता, ऐसा भी नहीं जानता कि 'मैं शुद्धात्मस्वरूप का ध्यान कर रहा हूं,' स्वय ही तादात्म्यवृत्ति से शुद्धात्मस्वरूप होकर निष्कम्प परिणमन करता हो, उस समय इस आत्मा ने जो कुछ करना था, वह कर लिया; अब कुछ करना शेष नहीं रहा, इसलिये इसको कृतकृत्य कहते हैं। इसी अवस्था को पुरुषार्थ की सिद्धि कहते हैं। पुरुष का जो अर्थ अर्थात् प्रयोजनरूप कार्य उसकी सिद्धि जो होनी थी, वह हो गई। इस अवस्था को जो प्राप्त हुआ, उस आत्मा को कृतकृत्य कहते हैं।

आगे पुरुषार्थसिद्धि का उपाय कहना चाहते हैं, वहां प्रथम ही पर द्रव्य के सम्बन्ध का कारण कहते हैं, जिसके जानने पर क्या उपाय करना होता है, वह कहते हैं –

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥१२॥

अन्वयार्थ:—[**जीवकृतं**] जीव के किये हुए [**परिणामं**] रागादि परिणामों का [**निमित्तमात्रं**] निमित्तमात्र [**प्रपद्य**] पाकर [**पुनः**] फिर [**अन्ये पुद्गलाः**] जीव से भिन्न अन्य पुद्गल स्कन्ध [**अत्र**] आत्मा में [**स्वयमेव**] अपने आप ही [**कर्मभावेन**] ज्ञानावरणादि कर्मरूप [**परिणमन्ते**] परिणमन कर जाते हैं।

टीका:– '**जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनः अन्ये पुद्गलाः स्वयमेव कर्मभावेन परिणमन्ते**' जीव के किये हुए रागादि परिणामों का निमित्तमात्र पाकर नवीन अन्य पुद्गल स्कन्ध स्वयमेव ज्ञानावरणादि कर्मरूप होकर परिणमन करते हैं।

जब जीव राग-द्वेष-मोहभाव से परिणमन करता है, तब उन भावों का निमित्त पाकर पुद्गल द्रव्य स्वयं ही कर्मरूप अवस्था को धारण करता है। विशेष इतना है कि यदि आत्मा देव-गुरु-धर्मादिक प्रशस्त रागरूप परिणमन करे, तो शुभकर्म का बन्ध होता है। (और इसके

विपरीत अप्रशस्त राग-द्वेष-मोहरूप परिणमन करे, तो अशुभ कर्म का बन्ध होता है।)

प्रश्नः—जीव के भाव अति सूक्ष्म हैं, उनका ज्ञान जड़ कर्म को कैसे होता है और ज्ञान हुए बिना पुण्य-पापरूप होकर कैसे परिणमन करते हैं ?

उत्तरः—जिस प्रकार मन्त्रसाधक पुरुष बैठा-बैठा गुप्तरूप से मन्त्र जपता है और उसके किये बिना ही उस मन्त्र के निमित्त से किसी को पीड़ा उत्पन्न होती है, किसी का मरण होता है, किसी का भला होता है, कोई विडम्बनारूप परिणमन करता है – ऐसी उस मन्त्र में शक्ति है, उसका निमित्त पाकर चेतन-अचेतन पदार्थ स्वय ही अनेक अवस्थायें धारण करते हैं। उसी प्रकार अज्ञानी जीव अपने अन्तरंग में विभावभाव-रूप परिणमन करता है, उन भावों का निमित्त पाकर उसके बिना किये ही कोई पुद्गल पुण्य प्रकृतिरूप परिणमन करते हैं और कोई पापप्रकृतिरूप परिणमन करते हैं, ऐसी इसके भावों में शक्ति है। इसके भावों का निमित्त पाकर पुद्गल स्वयं ही अनेक अवस्थायें धारण करता है, ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

प्रश्नः इस जीव के जो विभावभाव होते हैं, स्वयं से ही होते हैं या उनका भी कोई निमित्त कारण है ? इसका उत्तर आगे कहते हैं: —

परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥१३॥

अन्वयार्थः – [**हि**] निश्चय से [**स्वकैः**] अपने [**चिदात्मकैः**] चेतना-स्वरूप [**भावैः**] रागादि परिणामों से [**स्वयमपि**] स्वयं ही [**परिणम-मानस्य**] परिणमन करते हुए [**तस्य चितः अपि**] पूर्वोक्त आत्मा के भी [**पौद्गलिकं**] पुद्गल सम्बन्धी [**कर्म**] ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म [**निमित्तमात्रं**] निमित्तमात्र [**भवति**] होता है।

टीकाः—'**हि चिदात्मकैः स्वकैर्भावैः परिणममानस्य तस्य चितः अपि पौद्गलिकं कर्म निमित्तमात्रम् भवति**' निश्चय से चैतन्यस्वरूप अपने रागादि परिणामरूप से परिणमन किये हुए उस पूर्वोक्त आत्मा के भी पौद्गलिक ज्ञानवरणादि कर्म निमित्तमात्र होते हैं।

इस जीव के रागादि विभावभाव अपने आप ही (स्वद्रव्य के आलम्बन से) नहीं होता। यदि आप ही से हो, तो वह भी ज्ञान-दर्शन की तरह स्वभावभाव हो जाय और स्वभावभाव होने पर उसका भी कभी नाश नहीं हो सकता, इसलिये ये भाव औपाधिक हैं, अन्य निमित्त से होते हैं और वे निमित्त ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों को जानना। जिस-जिस प्रकार द्रव्यकर्म उदयावस्था को प्राप्त होता है, उसी-उसी प्रकार आत्मा विभावभावरूप परिणमन करता है।

प्रश्न :—पुद्गल में ऐसी कौनसी शक्ति है कि जो चैतन्य को विभावभावरूप परिणमन करवा देती है ?

उत्तर :—जिस प्रकार किसी मनुष्य के सिर पर मन्त्र पढ़ी हुई धूल डाली हो, तो उस धूल के निमित्त से वह पुरुष स्वयं को भूलकर नाना प्रकार की विपरीत चेष्टायें करता है। मन्त्र के उस धूल में ऐसी शक्ति हो जाती है कि वह बुद्धिमान पुरुष को विपरीत ❀परिणमन करवा देती है। उसी प्रकार इस आत्मा के प्रदेशों में रागादि के निमित्त से बंधे हुए पुद्गलों के निमित्त से यह आत्मा स्वयं को भूलकर नाना प्रकार के विपरीत भावरूप परिणमन करता है। इसके विभावभावों के निमित्त से पुद्गल में ऐसी शक्ति हो जाती है कि वह चैतन्य पुरुष को विपरीत परिणमन करवा देता है। इस भाँति भावकर्म से द्रव्यकर्म और द्रव्यकर्म से भावकर्म होता है, इसे ही संसार कहते हैं।

आगे इस संसार का मूल कारण बताते हैं जिसका नाश होने पर पुरुषार्थसिद्धि का उपाय बनता है :—

एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव।
प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजम् ॥१४॥

❀प्रत्येक द्रव्य, स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव से है, परद्रव्यादि का उसमें सदा अभाव ही है, इसलिये कोई किसी को परिणमन नहीं करवा सकता, तो भी जीव के उसप्रकार के परिणमन करने की योग्यता के काल में बाह्य में किस सामग्री को निमित्त बनाने में आया था, उसका ज्ञान करवाने के लिए, असद्भूत व्यवहारनय से निमित्त को कर्ता कहा जाता है, व्यवहार कथन की रीति ऐसी ही है, इस प्रकार जानना चाहिए।

अन्वयार्थः—[**एवं**] इसप्रकार [**अयं**] यह आत्मा [**कर्मकृतैः**] कर्मकृत [**भावैः**] रागादि अथवा शरीरादि भावों से [**असमाहितोऽपि**] संयुक्त न होने पर भी [**बालिशानां**] अज्ञानी जीवों को [**युक्तः इव**] संयुक्त जैसा [**प्रतिभाति**] प्रतिभासित होता है और [**सः प्रतिभासः**] वह प्रतिभास ही [**खलु**] निश्चय से [**भवबीजं**] संसार का बीजरूप है।

टीका:—'**स एव अयं कर्मकृतैर्भावैः असमाहितः अपि बालिशानां युक्तः इव प्रतिभाति**' इसप्रकार यह आत्मा कर्मद्वारा किये हुए नाना प्रकार के भावों से संयुक्त नहीं है, तो भी अज्ञानी जीवों को अपने अज्ञान से आत्मा कर्मजनित भावों से संयुक्त जैसा प्रतिभासित होता है।

पहले ऐसा कहा गया है कि पुद्गलकर्म का कारणभूत रागादिभाव है और रागादिभावका कारण पुद्गलकर्म है, इसलिए यह आत्मा निज-स्वभावभाव की अपेक्षा कर्मजनित नाना प्रकार के भावों से भिन्न ही चैतन्यमात्र वस्तु है।

जिसप्रकार लाल फूल के निमित्त से स्फटिक लाल रंगरूप परिणमन करता है, परन्तु वह लाल रंग स्फटिक का निजभाव नहीं है। स्फटिक तो स्वच्छतारूप अपने श्वेतवर्ण से ही विराजमान है। लाल रंग है, वह तो स्वरूप में प्रवेश किये बिना ऊपर ऊपर ही झलक मात्र दिखाई पड़ता है। वहाँ रत्न का पारखी जौहरी तो ऐसे ही जानता है, परन्तु अपारखी (अपरीक्षक) पुरुष को सत्यरूप (वास्तव में) वह स्फटिकमणि ही रक्तमणिवत् लाल रंग के स्वरूप प्रतिभासित होती है। उसी प्रकार कर्म निमित्त से आत्मा रागादिरूप परिणमन करता है, वह रागादि आत्मा का निजभाव नहीं है; आत्मा तो अपने स्वच्छतारूप चैतन्यगुण में विराजमान है। रागादि है, वह तो स्वरूप में प्रवेश किये बिना ऊपर ही ऊपर झलक मात्र दिखाई देता है। वहाँ ज्ञानी स्वरूप का परीक्षक तो ऐसे ही जानता है, किन्तु अपरीक्षक (अपारखी) पुरुषों को सत्यरूप अर्थात् वास्तव में वह आत्मा पुद्गल कर्मवत् रागादिस्वरूप ही प्रतिभासित होता है।

प्रश्न:—आपने ही तो रागादिभावों को जीवकृत कहा था अब यहाँ उन्हें कर्मकृत कैसे कहते हो?

उत्तर:—रागादिभाव चेतनारूप हैं, अतः उसका कर्ता जीव ही है; परन्तु यहाँ श्रद्धान करवाने के निमित्त मूलभूत जीव के शुद्धस्वभाव की

अपेक्षा से रागादिभाव कर्म के निमित्त से होते हैं; इसलिये कर्मकृत कहा है।

जैसे किसी मनुष्य को भूत (व्यंतर) लगा हो, तो वह मनुष्य उस भूत के निमित्त से नाना प्रकार की विपरीत चेष्टायें करता है। उन चेष्टाओं का कर्त्ता तो वह मनुष्य ही है, परन्तु वह चेष्टायें मनुष्य का निजभाव नहीं हैं, इसलिये उन्हें भूतकृत कहते हैं। उसी प्रकार यह जीव कर्म के निमित्त से नाना प्रकार विपरीतभावोंरूप परिणमन करता है, उन भावों का कर्त्ता तो जीव ही है; परन्तु वह जीव के निजभाव नहीं हैं, अतः उन भावों को कर्मकृत कहते हैं अथवा कर्मकृत जो नाना प्रकार की पर्याय वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, कर्म, नोकर्म, देव-नारक-मनुष्य-तिर्यञ्चशरीर, संहनन, संस्थानादि भेद अथवा पुत्र, मित्र, मकान, धन, धान्यादि भेद – इन सब से शुद्धात्मा प्रत्यक्ष भिन्न ही है।

जिसप्रकार कोई मनुष्य अज्ञानी गुरु के कहने से एकान्त झोंपड़ी में बैठकर भैंसे का ध्यान करने लगा, अपने को भैंसे के समान विशाल शरीर-वाला चिन्तवन करने लगा और आकाश जितना ऊंचा सींगवाला अपने को मानकर सोचने लगा कि मै इस झोंपड़ी से बाहर कैसे निकलूंगा ? यदि वह अपने को भैंसा न माने, तो मनुष्य स्वरूप तो स्वयं हैं ही। उसी प्रकार यह जीव मोह के निमित्त से अपने को वर्णादिक स्वरूप मानकर देवादि पर्यायों में अपनत्व मानता है। यदि न माने, तो अमूर्तिक शुद्धात्मा तो आप बना ही बैठा है।

इसप्रकार यह आत्मा कर्मजनित रागादिकभाव अथवा वर्णादिक-भाव से सदाकाल भिन्न है। तदुक्तम् – '**वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा। भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः ॥**'* तो भी अज्ञानी जीवों को आत्मा कर्मजनित भावों से संयुक्त प्रतिभासित होता है। '**खलु सः प्रतिभासः भवबीजम्**' निश्चय से यह प्रतिभास ही संसार का बीजभूत है।

जैसे समस्त वृक्षों का मूलभूत बीज है, वैसे ही अनन्त संसार का मूलकारण कर्मजनित भावों को अपना मानना है। इसप्रकार अशुद्धता का कारण बताया।

---

*यह पुरुष (आत्मा) शुद्धनय से तो वर्णादि अथवा मोहादि सभी भावों से भिन्न है।

आगे पुरुषार्थ-सिद्धि का उपाय बताते हैं—

विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्त्वम् ।
यत्तस्मादविचलनं स एव पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम् ॥१५॥

अन्वयार्थ :—[**विपरीताभिनिवेशं**] विपरीत श्रद्धान का [**निरस्य**] नाश करके [**निजतत्त्वम्**] निजस्वरूप को [**सम्यक्**] यथार्थरूप से [**व्यवस्य**] जानकर [**यत्**] जो [**तस्मात्**] अपने उस स्वरूप में से [**अविचलनं**] भ्रष्ट न होना [**स एव**] वही [**अयं**] इस [**पुरुषार्थसिद्ध्युपायः**] पुरुषार्थसिद्धि का उपाय है।

टीका:—'**यत् विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यक् निजतत्त्वं व्यवस्य तत् तस्मात् अविचलनं स एव अयं पुरुषार्थसिद्ध्युपायः।**' जो विपरीत श्रद्धान का नाश करके यथार्थरूप से निजस्वरूप को जानकर फिर अपने उस स्वरूप से भ्रष्ट न होना, वही पुरुषार्थ की सिद्धि होने का उपाय है।

पहले जो कहा था कि संसार की बीजभूत कर्मजनित पर्याय को आत्मरूप से – अपने रूप जानने का नाम ही विपरीत श्रद्धान है और उसका मूल से विनाश करना ही सम्यग्दर्शन है। कर्मजनित पर्याय से भिन्न शुद्धचैतन्यस्वरूप को यथार्थतया जानना सम्यग्ज्ञान है और कर्म-जनित पर्यायों से उदासीन होकर स्वरूप में अकम्प – स्थिर रहना सम्यक्-चारित्र है। इन तीन भावों का समुदाय ही उस जीव के कार्य सिद्ध होने का उपाय है, दूसरा कोई उपाय सर्वथा नहीं है।

जो इस उपाय में लगते हैं, अब उनका वर्णन करते हैं :—

अनुसरतां पदमेतत् करम्बिताचारनित्यनिरभिमुखा ।
एकान्तविरतिरूपा भवति मुनीनामलौकिकी वृत्ति ॥१६॥

अन्वयार्थ :—[**एतत् पदम् अनुसरतां**] इस रत्नत्रयरूप पदवी का अनुसरण करनेवाले अर्थात् इस पदवी को प्राप्त हुए [**मुनीनां**] मुनियों की [**वृत्तिः**] वृत्ति [**करम्बिताचारनित्यनिरभिमुखा**] पापक्रिया मिश्रित आचारों से सर्वथा परान्मुख तथा [**एकान्तविरतिरूपा**] पर द्रव्यों से सर्वथा उदासीनरूप और [**अलौकिकी**] लोक से विलक्षण प्रकार की [**भवति**] होती है।

टीका:—'**एतत्पदं अनुसरतां मुनीनां वृत्तिः अलौकिकी भवति।**' इस रत्नत्रयरूप पदवी को प्राप्त हुए महा मुनियों की रीति लौकिक रीति

से मिलती नहीं है। वही कहते हैं – लोक पापक्रियाओं में आसक्त होकर प्रवर्तन करता है, मुनि पापक्रियाओं का चिन्तवन भी नहीं करते। लोक अनेक प्रकार से शरीर की संभाल और पोषण करता है, परन्तु मुनिराज अनेक प्रकार से शरीर को परीषह उत्पन्न करके उन्हें सहन करते हैं और लोक को इन्द्रिय-विषय अत्यन्त मिष्ट लगते हैं, जबकि मुनिराज विषयों को हलाहल विष समान जानते हैं। लोक को अपने पास जन-समुदाय रुचिकर लगता है, जबकि मुनिराज दूसरों का संयोग होने पर खेद मानते हैं। लोक को बस्ती सुहावनी लगती है, किन्तु मुनि को निर्जन स्थान ही प्रिय लगता है। कहां तक कहें ? महामुनि की रीति लौकिक रीति से विरुद्ध होती है।

कैसी है मुनियों की प्रवृत्ति ? **'करम्बिताचार नित्यनिरभिमुखा'** पाप-क्रिया सहित आचार से परान्मुख है। जिसप्रकार श्रावक का आचार पापक्रिया से मिश्रित है, वैसे मुनीश्वरों के आचार में पाप का मिश्रण नहीं है अथवा **'करम्बित'** अर्थात् कर्मजनितभाव मिश्रित आचरण से परान्मुख है, केवल निजस्वरूप का अनुभव करते हैं, इसलिये **'एकान्त-विरतिरूपा'** अर्थात् सर्वथा पापक्रिया के त्यागी है अथवा एक निजस्वभाव के अनुभव से सर्वथा पर द्रव्यों से उदासीन स्वरूप हैं। रत्नत्रय के धारक महामुनियों की ऐसी ही प्रवृत्ति होती है।

उपदेश देने का क्रम

बहुशः समस्तविरतिं प्रदर्शितां यो न जातु गृह्णाति।
तस्यैक देशविरतिः कथनीयानेन बीजेन ॥१७॥

अन्वयार्थ :—[**यः**] जो जीव [**बहुशः**] बारबार [**प्रदर्शितां**] बताने पर भी [**समस्त विरतिं**] सकल पापरहित मुनिवृत्ति को [**जातु**] कदाचित् [**न गृह्णाति**] ग्रहण न करे तो [**तस्य**] उसको [**एकदेशविरतिः**] एकदेश पापक्रिया रहित गृहस्थाचार [**अनेन बीजेन**] इस हेतु से [**कथनीया**] कथन करना अर्थात् समझाना चाहिये।

टीका:—**'यः बहुशः प्रदर्शितां समस्तविरतिं न जातु गृह्णाति तस्य एकदेशविरति अनेन बीजेन कथनीया।'** जो जीव अनेकबार उपदेश देने पर भी सकल पापरहित महाव्रत की क्रिया को कदाचित् ग्रहण न करे, तो उस जीव को एकदेश पापरहित श्रावकक्रिया इस तरह बतावें।

जो जीव उपदेश श्रवण करने में रुचिवान हो, उसे प्रथम ही बार-बार मुनिधर्म का उपदेश देना चाहिये और यदि वह जीव मुनिपद अंगीकार न करे, तो बाद में उसे श्रावक धर्म का उपदेश देना योग्य है।

श्रावक धर्म के उपदेश की रीति आगे बताते हैं, उसी रीति से उपदेश देना चाहिये। जो इस अनुक्रम को छोड़कर उपदेश देता है, उस उपदेशदाता की निन्दा करते हैं :—

यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः।

तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम् ॥१८॥

अन्वयार्थः—[**यः**] जो [**अल्पमतिः**] तुच्छ बुद्धि उपदेशक [**यतिधर्मं**] मुनिधर्म का [**अकथयन्**] कथन न करके [**गृहस्थधर्मं**] श्रावक धर्म का [**उपदिशति**] उपदेश देता है, [**तस्य**] उस उपदेशक को [**भगवत्प्रवचने**] भगवान के सिद्धान्त में [**निग्रहस्थानं**] दण्ड देने का स्थान [**प्रदर्शितं**] बताया है।

टीका:—'**यः अल्पमतिः यतिधर्मं अकथयन् गृहस्थधर्मं उपदिशति तस्य भगवत्प्रवचने निग्रहस्थानं प्रदर्शितं।**' जो तुच्छ बुद्धिवाला उपदेशक मुनिधर्म का उपदेश न देकर, गृहस्थधर्म का उपदेश देता है, उसे भगवान के सिद्धान्त में दण्ड का स्थान बताया है।

जो उपदेशक पहले यतीश्वर के धर्म का तो उपदेश न सुनावे अपितु प्रथम ही श्रावकधर्म का व्याख्यान करे, तो उस उपदेशक को जिनमत में प्रायश्चितरूप दण्ड का पात्र कहा गया है।

आगे उसको दण्ड देने का कारण कहते हैं :—

अक्रमकथनेन यतः प्रोत्सहमानोऽतिदूरमपि शिष्यः।

अपदेऽपि सम्प्रतृप्तः प्रतारितो भवति तेन दुर्मतिना ॥१९॥

अन्वयार्थ:—[**यतः**] जिस कारण से [**तेन**] उस [**दुर्मतिना**] दुर्बुद्धि के [**अक्रमकथनेन**] क्रमभंग कथनरूप उपदेश करने से [**अतिदूरं**] अत्यन्त दूर अर्थात् अत्यधिक [**प्रोत्सहमानोऽपि**] उत्साहवान होने पर भी [**शिष्यः**] शिष्य [**अपदे अपि**] तुच्छ स्थान में ही [**संप्रतृप्तः**] सन्तुष्ट होकर [**प्रतारित भवति**] ठगाया जाता है।

टीका:—'यतः तेन दुर्मतिना अक्रमकथनेन शिष्यः प्रतारितो भवति।' जिस कारण से उस मन्दबुद्धिवाले उपदेशक द्वारा अनुक्रम को छोड़कर कथन करने से सुननेवाला शिष्य ठगाया जाता है। पहले ही श्रावक धर्म का उपदेश सुनकर शिष्य क्यों ठगाया जाता है, उसका कारण कहते हैं। कैसा है शिष्य ? 'अतिदूरं प्रोत्सहमानो अपि अपदेऽपि संप्रतृप्तः'। अत्यन्त दूरतक जाने के लिए उत्साहित हुआ था, तो भी अपद जो तुच्छ स्थान उसमें ही संतुष्ट हुआ है। इस शिष्य के अन्तरंग में इतना अधिक उत्साह उत्पन्न हुआ था कि यदि प्रथम ही मुनिधर्म सुना होता तो मुनिपदवी ही अंगीकार करता, परन्तु उपदेशदाताने उसको प्रथम ही श्रावकधर्म का उपदेश दिया, अतः उसने उसे ही अंगीकार कर लिया। फलतः मुनिधर्म से वंचित ही रह गया। इस वास्ते उस उपदेशदाता को इस विधान के लिये दण्ड देना योग्य है।

श्रावकधर्म-व्याख्यान

जो जीव मुनिधर्म का भार उठाने में असमर्थ हैं, उनके लिये आचार्य आगे श्रावकधर्म का व्याख्यान करते हैं। वहाँ श्रावक को धर्म साधन में क्या करना चाहिये, उसका व्याख्यान किया जा रहा है :—

एवं सम्यग्दर्शनबोधचरित्रत्रयात्मको नित्यम् ।
तस्यापि मोक्षमार्गो भवति निषेव्यो यथाशक्ति : ॥२०॥

अन्वयार्थः—[**एवं**] इसप्रकार [**तस्यापि**] उस गृहस्थ को भी [**यथाशक्ति**] अपनी शक्ति अनुसार [**सम्यग्दर्शनबोधचरित्रत्रयात्मकः**] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीन भेदरूप [**मोक्षमार्गः**] मुक्ति का मार्ग [**नित्यं**] सर्वदा [**निषेव्यः**] सेवन करना योग्य [**भवति**] है।

टीकाः—'**तस्य अपि यथाशक्ति एवं मोक्षमार्गः निषेव्यः भवति ।**' उस गृहस्थ को भी अपनी शक्ति अनुसार, जिसका वर्णन आगे किया जा रहा है, ऐसे मोक्षमार्ग का सेवन करना योग्य है।

मुनि के तो मोक्षमार्ग का सेवन सम्पूर्णरूप से होता है और गृहस्थ को भी अपनी शक्ति प्रमाण मोक्षमार्ग का थोड़ा बहुत सेवन करना चाहिये, कारण कि धम का कोई दूसरा अंग नहीं है, जिसके सेवन करने से अपना भला हो सके। कैसा है मोक्षमार्ग ? '**सम्यग्दर्शनबोधचरित्रत्रयात्मकः**'—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र का त्रिक जिसका स्वरूप है। भिन्न-भिन्न तीन मोक्षमार्ग नहीं हैं, तीनों मिलकर मोक्षमार्ग है।

इन तीनों में प्रथम किसको अंगीकार करना चाहिये वह कहते हैं:—

तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन ।
तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च ॥२१॥

अन्वयार्थः—[**तत्रादौ**] इन तीनों में प्रथम [**अखिलयत्नेन**] समस्त प्रकार सावधानतापूर्वक यत्न से [**सम्यक्त्वं**] सम्यग्दर्शन को [**समुपाश्रयणीयम्**] भले प्रकार अंगीकार करना चाहिये, [**यतः**] क्योंकि [**तस्मिन् सति**]

एव] उसके होने पर ही [ज्ञानं] सम्यग्ज्ञान [च] और [चारित्रं] सम्यक्-चारित्र [भवति] होता है।

टीका :—'तत्र आदौ अखिलयत्नेन सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयम्।' इन तीनों में प्रथम ही समस्त उपायों से, जिसप्रकार भी बन सके वैसे सम्यग्दर्शन अंगीकार करना चाहिये। इसके प्राप्त होने पर अवश्य ही मोक्षपद प्राप्त होता है और इसके बिना सर्वथा मोक्ष नहीं होता। यह स्वरूप की प्राप्ति का अद्वितीय कारण है, अतः इसके अंगीकार करने में किंचित् मात्र भी प्रमाद नहीं करना। मृत्यु का वरण करके भी इसे प्राप्त करने का प्रयत्न अवश्य करना। बहुत कहाँ तक कहें ? इस जीव के भला होने का उपाय सम्यग्दर्शन समान अन्य कोई नहीं, इसलिये इसे अवश्य अंगीकार करना। इसे ही प्रथम अंगीकार करने का क्या कारण है, वह बताते हैं – 'यतः तस्मिन् सति एव ज्ञानं च चारित्रं च भवति।' उस सम्यग्दर्शन के होने पर ही सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र होता है।

सम्यक्त्व बिना ग्यारह अंग तक पढ़ ले, तो भी अज्ञानी ही कहा जाता है। महाव्रतों का साधन करके अन्तिम ग्रैवेयक तक के बन्धयोग्य विशुद्ध परिणाम करे, तो भी वह असंयमी ही कहलाता है। तथा सम्यक्त्व-सहित जितना भी जानपना होवे, उस सभी का नाम सम्यग्ज्ञान है और जो थोड़ा भी त्यागरूप प्रवर्तन करे, तो उसे सम्यक्चारित्र कहा जाता है। जिसप्रकार अंक सहित शून्य हो, तो वह प्रमाण में आता है; किन्तु अंक बिना शून्य तो शून्य ही है। उसी प्रकार सम्यक्त्व के बिना ज्ञान और चारित्र व्यर्थ ही हैं। अतः पहले सम्यक्त्व अंगीकार करके पश्चात् अन्य साधन करना चाहिये।

इसप्रकार जो सम्यक्त्व का लक्षण जाने तो उसे अंगीकार करे, इसलिये [प्रथम ही] उस सम्यक्त्व का लक्षण कहते हैं :—

जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्त्तव्यम् ।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेश विविक्तमात्मरूपं तत् ॥२२॥

अन्वयार्थः—[जीवाजीवादीनां] जीव-अजीवादि [तत्त्वार्थानां] तत्त्वार्थों का [विपरीताभिनिवेशविविक्तं] विपरीत अभिनिवेश (आग्रह) रहित अर्थात् अन्य को अन्यरूप समझनेरूप जो मिथ्याज्ञान है, उससे रहित [श्रद्धानं] श्रद्धान अर्थात् दृढ़विश्वास [सदैव] निरन्तर ही [कर्त्तव्यं]

करना चाहिये कारण कि [तत्] वह श्रद्धान ही [आत्मरूपं] आत्मा का स्वरूप है।

टीका:– 'जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां श्रद्धानं सदैव कर्त्तव्यं।' जीव-अजीव आदि जो तत्त्वार्थ – तत्त्व अर्थात् जिसका जैसा कुछ निज भाव है वैसा ही होना वह और उस तत्त्व से संयुक्त जो अर्थ अर्थात् पदार्थ वही तत्त्वार्थ – उसका श्रद्धान अर्थात् 'ऐसे ही है अन्य प्रकार से नहीं' ऐसा प्रतीत भाव वही सदा कर्त्तव्य है। कैसा श्रद्धान करना योग्य है? 'विपरीताभिनिवेशविविक्तं' अर्थात् अन्य को अन्यरूप माननेरूप मिथ्यात्व से रहित श्रद्धान करना। 'तत् आत्मरूपं अस्ति' – वही श्रद्धान आत्मा का स्वरूप है। जो श्रद्धान क्षायिक सम्यग्दृष्टि के उत्पन्न होता है, वही सिद्ध अवस्था तक रहता है; इसलिये वह उपाधि भाव नहीं है, आत्मा का निज भाव है।

तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन का लक्षण है। वह तत्त्वार्थ श्रद्धान दो प्रकार का है, एक सामान्यरूप दूसरा विशेषरूप। जो परभावों से भिन्न अपने चैतन्य स्वरूप को आपरूप से श्रद्धान करे, उसे 'सामान्य तत्त्वार्थ श्रद्धान' कहते हैं। यह श्रद्धान तो नारकी, तिर्यञ्चादि सर्व सम्यग्दृष्टि जीवों के होता है और जीव-अजीवादि सात तत्त्वों के विशेषण जानकर अर्थात् उनके भेदों को जानकर श्रद्धान करे, उसे 'विशेष तत्त्वार्थ श्रद्धान' कहते हैं। यह श्रद्धान मनुष्य, देवादि विशेष बुद्धिवान जीवों के होता है। परन्तु राजमार्ग (मुख्य मार्ग) की अपेक्षा सात तत्त्वों को जानना वही सम्यक्त्व का – सम्यक् श्रद्धान का कारण है। कारण कि यदि तत्त्वों को जाने नहीं तो श्रद्धान किसका करे? इसलिये सात तत्त्वों का वर्णन संक्षेप में करते हैं—

१. **जीवतत्त्व:**—प्रथम ही जीवतत्त्व चेतना लक्षण से विराजमान (वह) शुद्ध, अशुद्ध और मिश्र के भेद से तीन प्रकार का है, वहाँ—

(१) **शुद्ध जीवतत्त्व:**—जिन जीवों के सर्व गुण-पर्याय अपने निज भावरूप परिणमन करते हैं अर्थात् जिनके केवलज्ञानादि गुण शुद्ध परिणति – पर्याय से विराजमान हुए हैं, उन्हें शुद्ध जीव कहते हैं।

(२) **अशुद्ध जीवतत्त्व:**—जिन जीवों के सर्व गुण-पर्याय विकार भाव को प्राप्त हो रहे हैं, ज्ञानादि गुण आवरण से आच्छादित हो रहे हैं,

उनमें से जो थोड़े बहुत प्रगट रूप हैं, वे विपरीत परिणमन कर रहे हैं और जिनकी परिणति रागादिरूप परिणमन कर रही है, उन मिथ्यादृष्टि जीवों को अशुद्ध जीव कहते हैं।

(३) **मिश्रजीवः**—जिन जीवों के सम्यक्त्वादि गुणों की शक्ति कुछ शुद्ध हो गई है अथवा उनमें भी कुछ मलिनता शेष रह गई है अर्थात् कोई ज्ञानादि गुणों की शक्ति कुछ शुद्ध हो गई है तथा शेष सब अशुद्ध रह गई है। कुछ गुण अशुद्ध ही हो रहे हैं, ऐसी तो गुणों की दशा हुई है और जिनकी परिणति शुद्धाशुद्ध रूप परिणमन कर रही है, उन जीवों को शुद्धाशुद्धस्वरूप मिश्र कहते हैं, इस भाँति जीवतत्त्व तीन प्रकार का है।

२ **अजीवतत्त्वः**—जो चेतनागुण से रहित हैं, वे पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल (कालाणुरूप) पांच प्रकार के हैं। उनमें

(१) **पुद्गलद्रव्यः**—स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण संयुक्त अणु तथा स्कन्ध के भेद से दो प्रकार के हैं। उनमें जो एकाकी अविभागी परमाणु है, उसे अणु कहते हैं। अनेक अणु मिलकर स्कन्धरूप होने पर स्कन्ध कहलाता है। अथवा पुद्गल द्रव्य के छह भेद हैं। (१) स्थूल-स्थूलः – काष्ठ पाषाणादि जो छेदे भेदे जाने पर बाद में मिलें नहीं, उन्हें स्थूल-स्थूल पुद्गल कहते हैं। (२) स्थूलः – जो जल, दूध, तेल आदि द्रव पदार्थों की तरह छिन्न भिन्न होने पर फिर तुरन्त ही मिल सकें, उन्हें स्थूल कहते हैं। (३) स्थूल-सूक्ष्मः – आताप, चांदनी, अन्धकारादि जो आंख से दिखाई पड़ें, किन्तु पकड़ने में न आवें, उन्हें स्थूल-सूक्ष्म कहते हैं, (४) सूक्ष्म-स्थूलः – जो शब्द, गन्धादि आंख से दिखाई न पड़ें; किन्तु अन्य इन्द्रियों से ज्ञान में आवें, उन्हें सूक्ष्म-स्थूल कहते हैं। (५) सूक्ष्मः—जो कार्माण स्कन्धादिक बहुत परमाणुओं के स्कन्ध हैं, परन्तु इन्द्रियगम्य नहीं हैं, उन्हें सूक्ष्म कहते हैं (६) सूक्ष्म-सूक्ष्मः – अति सूक्ष्म स्कन्ध अथवा परमाणु को सूक्ष्म-सूक्ष्म कहते हैं। इस प्रकार इस लोक में प्रचुर प्रसार इस पुद्गल द्रव्य का ही है।

(२) **धर्मद्रव्यः**—जीव और पुद्गलों को गति करने में सहकारी गुण सयुक्त लोक प्रमाण एक द्रव्य है।

(३) **अधर्मद्रव्यः**—जीव और पुद्गलों को गति पूर्वक स्थिति करने में सहकारी गुण संयक्त लोक प्रमाण एक द्रव्य है।

(४) **आकाशद्रव्य**:–सर्व द्रव्यों को अवगाहन हेतुत्वलक्षण संयुक्त लोकालोक प्रमाण एक द्रव्य है। जिसमें सब द्रव्यें पाये जावें, उसे लोक और जहाँ केवल एक आकाश ही है, उसे अलोक कहते हैं। दोनों की सत्ता भिन्न नहीं है, अतः एक ही द्रव्य है।

(५) **कालद्रव्य**:–सर्व द्रव्यों को वर्तनाहेतुत्वलक्षण संयुक्त लोक के एक एक प्रदेश पर स्थित एक एक प्रदेश मात्र असंख्यात द्रव्य हैं। उनके परिणाम के निमित्त से समय, आवली आदि व्यवहार काल है। इस प्रकार जीव द्रव्य सहित छह द्रव्य जानना। काल के बहु प्रदेश नहीं हैं, अतः काल के बिना शेष पांच द्रव्यों को पंचास्तिकाय कहते हैं। इसमें जीवतत्त्व और पुद्गल – अजीवतत्त्व के परस्पर सम्बन्ध से अन्य पांच तत्त्व होते हैं।

३. **आस्रवतत्त्व**:–जीव के रागादि परिणामों से योग द्वारा आने वाले पुद्गल के आगमन को आस्रवतत्त्व कहते हैं।

४. **बन्धतत्त्व**:–जीव की अशुद्धता के निमित्त से आये हुए पुद्गलों का ज्ञानावरणादिरूप अपनी स्थिति और रससंयुक्त आत्मप्रदेशों के साथ सम्बन्धरूप होने को बन्धतत्त्व कहते हैं।

५. **संवरतत्त्व**:–जीव के रागादि परिणाम के अभाव से पुद्गलों के न आने को संवरतत्त्व कहते हैं।

६. **निर्जरातत्त्व**:–जीव के शुद्धोपयोग के बल से पूर्व में बंधे हुए कर्मों के एकदेश नाश होने को संवरपूर्वक निर्जरा कहते हैं। कर्म के फल को भोगने पर जो उनकी निर्जरा होती है ; वह निर्जरा मोक्ष के लिये कारण भूत नहीं है।

७ **मोक्षतत्त्व**:–– सर्वथा कर्म के नाश होने पर जीव के निजभाव प्रगट होने को मोक्षतत्त्व कहते हैं। यह सात तत्त्वार्थ जानना। पुण्य–पाप तत्त्व हैं, वे आस्रवतत्त्व के; भेद हैं; इसलिये अलग नहीं कहे गए। इस प्रकार यह तत्त्वार्थ का श्रद्धान है – वही सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा है।

प्रश्न:– इस लक्षण में अव्याप्तिदोष आता है। किसप्रकार ? जिस समय सम्यग्दृष्टि विषय-कषाय की तीव्रतारूप परिणमन करता है, तब ऐसा श्रद्धान कैसे रह सकता है ? लक्षण तो वह है, जो लक्ष्यमें सर्वथा सदाकाल पाया जावे।

उत्तरः—जीव के दो भाव हैं – एक श्रद्धानरूप है, दूसरा परिणमन-रूप है। श्रद्धानरूप तो सम्यक्त्व का लक्षण है और परिणामरूप चारित्र का लक्षण है।सम्यग्दृष्टि विषय-कषाय के परिणमनरूप हुआ, श्रद्धान में प्रतीति यथावत है। जिसप्रकार गुमाश्ता साहूकार का चाकर है, उसके अन्तरङ्ग में ऐसी प्रतीति है कि यह सब कुछ सेठ का कार्य है, मेरा घर तो भिन्न ही है। परिणामों से तो सेठ के कार्य में प्रवर्तन करता है और उस सेठ के कार्य को "मेरा-मेरा" भी कहता है, नफा नुकसान होने पर हर्ष-शोक भी करता है और उस प्रतीति को बारबार संभालता भी नहीं है; परन्तु जिससमय उस सेठ का और अपना हिसाब करता है, तब जैसी प्रतीति अन्तरङ्ग में थी, वैसी प्रगट करता है। सेठ के कार्य में प्रवर्तन करते समय वह प्रतीति शक्तिरूप रहती है। कदाचित् वह सेठ के धन की चोरी करके उसे अपना जाने, तो उसे अपराधी कहते हैं। फिर वह गुमाश्ता सेठ की नौकरी को पराधीन दुखदायक मानता है; परन्तु अपने स्वय के धन के बल बिना आजीविका के वशवर्त्ती होकर उसके काम में प्रवर्तन करता है, वैसे ही ज्ञानी कर्म के उदय को भोगता है।

इसके अन्तरङ्ग में ऐसी प्रतीति है कि यह सब दिखावा मात्र भेष है, मेरा स्वरूप तो उन सबसे भिन्न ही है, परिणामों के द्वारा औदयिक भावों में परिणमन करता है और उदय के सम्बन्ध के वश 'मेरा-मेरा' भी कहता है, इष्ट-अनिष्ट में हर्ष-विषाद भी करता है और अपनी उस प्रतीति को बारबार सम्हालता भी नहीं है; परन्तु जिस जिस समय उस कर्म और अपने स्वरूप का विचार करता है तब जैसे प्रतीति अन्तरङ्ग में थी वैसी ही प्रगट करता है। फिर उस कर्मके उदय में वह प्रतीति शक्तिरूप रहती है, यदि कदाचित् कभी भी उस कर्म के उदय को श्रद्धान में अपना जाने तो उसे मिथ्यात्वी कहते हैं।

पुनः वह ज्ञानी कर्म के उदय को पराधीन दुःख जानता है, परन्तु अपने शुद्धोपयोग के बल बिना पूर्वबद्ध कर्म के वश होकर कर्म के औदयिक भावों में प्रवर्तन करता है। इसप्रकार सम्यक्त्वी के तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन परिणमनरूप तो निर्बाधरूप से निरन्तर ही है, परन्तु ज्ञानो-पयोग अपेक्षा से देखा जावे तो, सामान्यरूप अथवा विशेषरूप, शक्ति अवस्था में अथवा व्यक्त अवस्था में (सम्यक्रूप परिणमन तो) सदाकाल होता ही है।

प्रश्नः—भले ही इस लक्षण में अव्याप्ति दोष नहीं है; परन्तु अतिव्याप्ति दोष तो लगता है? कारण कि द्रव्यलिंगी मुनि जिनप्रणीत सात तत्त्वों को ही मानता है, अन्य मत के कल्पित तत्त्वों को नहीं मानता। लक्षण तो ऐसा होना चाहिए, जो लक्ष्य के अलावा अन्य स्थान में न पाया जावे।

उत्तरः—द्रव्यलिंगी मुनि जिनप्रणीत तत्त्वों को ही मानता है, परन्तु **विपरीताभिनिवेश से संयुक्त मानता है, शरीराश्रित क्रियाकाण्ड को अपनी जानता है,** इससे अजीवतत्त्व में जीवतत्त्व का श्रद्धान करता है, **पुनः आस्रव बन्धरूप जो शील* संयमादिकरूप परिणाम हैं, उन्हें संवर-निर्जरारूप मानकर मोक्षका कारण मानता है।** द्रव्यलिंगी पाप से तो विरक्त हुआ है, परन्तु पुण्य में उपादेय बुद्धि से परिणमन करता है, इसलिये उसे तत्त्वार्थ-श्रद्धान नहीं है। इस भांति (विपरीत अभिप्रायरहित) तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन अंगीकार करना चाहिये।

अब सम्यक्त्व के आठ अङ्गों का वर्णन करते हैं—

१. निःशङ्कित अङ्ग

सकलमनेकान्तात्मकमिदमुक्तं वस्तुजातमखिलज्ञैः।
किमु सत्यमसत्यं वा न जातु शंकेति कर्तव्या ॥२३॥

अन्वयार्थः—[**अखिलज्ञैः**] सर्वज्ञदेव द्वारा [**उक्तं**] कहा गया [**इदं**] यह [**सकलं**] समस्त [**वस्तुजातं**] वस्तुसमूह [**अनेकान्तात्मकं**] अनेकान्तस्वभावरूप है, वह [**किमु सत्यं**] क्या सत्य है [**वा असत्यं**] अथवा असत्य है? [**इति**] ऐसी [**शंका**] शंका [**जातु**] कभी भी [**न**] नहीं [**कर्तव्या**] करना चाहिये।

टीकाः—'**अखिलज्ञैः इदं सकलं वस्तुजातं अनेकान्तात्मकं उक्तं किमु सत्यं वा असत्यं वा जातु इति शंका न कर्तव्या।**' सर्वज्ञदेव ने यह समस्त जीवादि पदार्थों का समूह अनेकान्तात्मक अर्थात् अनेक स्वभावसहित कहा है। क्या वह सच्चा है या झूठा? ऐसी शंका कभी नहीं करनी चाहिए।

भावार्थः—शंका नाम संशय का है। जिन प्रणीत पदार्थों में शंका

---

* शील— शुभभावरूप व्यवहार ब्रह्मचर्यादि।

नहीं करना इसी को निःशंकित[1] नामक अंग कहते हैं। (कारण कि जिन भगवान अन्यथावादी नही है।))।

२. निःकांक्षित अंग

इह जन्मनि विभवादीन्यमुत्र चक्रित्वकेशवत्वादीन्।
एकान्तवाददूषित परसमयानपि च नाकांक्षेत्।।२४।।

अन्वयार्थः—[**इह**] इस [**जन्मनि**] लोक में [**विभवादीनि**] ऐश्वर्य, सम्पदा आदि, [**अमुत्र**] परलोक में [**चक्रित्वकेशवत्वादीन्**] चक्रवर्त्ती, नारायण आदि पदों को [**च**] और [**एकान्तवाददूषित परसमयान्**] एकान्तवाद से दूषित अन्य धर्मों को [**अपि**] भी [**न आकांक्षेत्**] न चाहे।

टीका:—'**इह जन्मनि विभवादीनि न आकांक्षेत्**'—सम्यग्दृष्टि इस लोक में तो सम्पदा इत्यादि तथा पुत्रादिक को नहीं चाहता '**च अमुत्र चक्रित्व केशवत्वादीन् न आकांक्षेत्**' तथा परलोक में चक्रवर्त्ती पद, नारायण पद और आदि शब्द से इन्द्रादिक पद को नहीं चाहता। '**एकान्तवाददूषितपरसमयान् अपि न आकांक्षेत्**' वस्तु के एकान्त स्वरूप को कथन करने के कारण जो दूषित है, ऐसे अन्य मत है, उनको भी नही चाहता।

भावार्थ:—निःकांक्षित[2] नाम वाछा रहित का है। कारण कि इस लोक सम्बन्धी तथा परलोक सम्बन्धी पुण्य के फल को नहीं चाहता, इसलिये सम्यक्त्वी पुण्य के फलरूप इन्द्रियों के विषयों को आकुलता का निमित्त होने से दुःखरूप ही मानता है। फिर अन्यमती नाना प्रकार की एकान्तरूप कल्पना करते है, उन्हे भला जानकर नही चाहता है।

---

१. स्वामी समन्तभद्राचार्यकृत रत्नकरण्डश्रावकाचार श्लोक ११ मे कहा है कि तत्त्व यही है, ऐसे ही है, अन्य नही है अथवा अन्य रीति से नहीं है। ऐसी निष्कम्प तलवार की तीक्ष्णधार के समान सन्मार्ग मे संशय रहित रुचि – विश्वास को निःशंकित अंग कहते हैं।

२. निःकांक्षा—(विषयों की व विषय के साधनों की अभिलाषा – आशाको कांक्षा कहते हैं) अर्थात् कर्म के वश, अन्तवाले, उदय मे दुःखमिश्रित और पापका बीजरूप सुख मे अनित्यता का श्रद्धान होना वह निःकांक्षित अंग है। (रत्नकरण्ड-श्रावकाचार श्लोक १२)

३. निर्विचिकित्सा अंग

क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु नानाविधेषु भावेषु ।
द्रव्येषु पुरीषादिषु विचिकित्सा नैव करणीया ॥२५॥

अन्वयार्थः—[**क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु**] भूख, प्यास, सर्दी, गरमी इत्यादि [**नानाविधेषु**] नाना प्रकार के [**भावेषु**] भावों में और [**पुरीषादिषु**] विष्टा आदि [**द्रव्येषु**] पदार्थों में [**विचिकित्सा**] ग्लानि [**नैव**] नहीं [**करणीया**] करना चाहिये ।

टीका:—'**क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु नानाविधेषु भावेषु द्रव्येषु पुरीषादिषु विचिकित्सा नैव करणीया**' क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण इत्यादि नाना प्रकार की दुःखदायक पर्यायों में एवं अपवित्र विष्टा आदि पदार्थों में ग्लानि नहीं करना चाहिए ।

भावार्थः—विचिकित्सा नाम असुहावने का है अथवा ग्लानि का है, उनसे जो रहित हो उसे निर्विचिकित्सा[1] कहते हैं । पाप के उदय से दुःखदायक भावों के संयोग होने पर उद्वेगरूप न होना, कारण कि उदयाधीन कार्य अपने वश नहीं हैं । इस दुःख से अमूर्तिक आत्मा का घात भी नहीं है, फिर विष्टादि निन्द्य वस्तु में ग्लानिरूप न होना, क्योंकि वस्तु का ऐसा ही स्वभाव है; इसमें आत्मा को क्या ? अथवा जिस शरीर में आत्मा निवास करती है, उसमें तो सभी वस्तुयें निन्द्य ही हैं ।

४. अमूढदृष्टि अंग[2]

लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे ।
नित्यमपि तत्त्वरुचिना कर्त्तव्यममूढदृष्टित्वम् ॥२६॥

अन्वयार्थः—[**लोके**] लोक में [**शास्त्राभासे**] शास्त्राभास में [**समयाभासे**] धर्माभास में [**च**] और [**देवताभासे**] देवाभास में [**तत्त्वरुचिना**] तत्त्वों में रुचिवान सम्यग्दृष्टि पुरुष को [**नित्यमपि**]

---

१. निर्विचिकित्सा अङ्ग— रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन - ज्ञान - चारित्र से पवित्र परन्तु स्वाभाविक अपवित्र शरीर में (मुनि—धर्मात्मा के मलिन शरीर में) ग्लानि न करके उनके गुणोंमें प्रीति करना निर्जुगुप्सा अंग कहलाता है । (रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लोक १३)

२. अमूढदृष्टि—दुखदायक खोटे मार्ग अथवा कुत्सित् धर्मों में और कुमार्गों में रहनेवाले पुरुषों में (भले ही वह लौकिक में प्रख्यात हों उनमे) मन से भी प्रामाणिकता माने नहीं काया से प्रशंसा और वचन से स्तुति करे नहीं—उसे अमूढदृष्टि कहते हैं । (रत्नकरण्ड श्रा वकाचार श्लोक १४)

सदा ही [**अमूढदृष्टित्वं**] मूढतारहित श्रद्धान [**कर्त्तव्यं**] करना चाहिए ।

टीका:—'**तत्वरुचिना नित्यं अपि अमूढदृष्टित्वं कर्त्तव्यं**'– तत्त्व-श्रद्धावान पुरुष को सदैव अमूढदृष्टि होना चाहिए । यथार्थज्ञान रहित का नाम मूढदृष्टि है, श्रद्धानवाले को उसरूप होना योग्य नहीं । कहाँ कहाँ होना योग्य नही ? वह आगे बतलाते हैं । **लोके**–लोक में बहुत से जीव विपरीत भाव में प्रवर्त्तन करते हों तो भी स्वयं को उनकी तरह (देखादेखी से) प्रवर्त्तन नहीं करना चाहिए । **शास्त्राभासे**–शास्त्र जैसा प्रतिभासित होनेवाले अन्यवादियों द्वारा रचे गए ग्रन्थों में रुचिरूप प्रवर्त्तन नहीं करना चाहिये । **समयाभासे** – सच्चे मत की तरह ही प्रतिभासित होने पर अन्यमत में कोई क्रिया भली जेसी मालूम पड़े तो भी उसे भला जानकर प्रवर्त्तन नही करना अथवा समय अर्थात् पदार्थ सरीखा प्रतिभासित होवे ऐसे अन्यवादियों द्वारा कहे गये कल्पित तत्त्व युक्ति-युक्त सा भासित होने पर भी उसमें सत्यबुद्धि नहीं करनी चाहिये । **देवताभासे** – यद्यपि देव जैसा प्रतिभासित होवे तो भी अरहन्त देव के अलावा अन्य देवों में कुछ किंचित् चमत्कारादि देखकर विनयरूप प्रवर्त्तन नही करना चाहिये । '**च**' कारसे और भी जो गुरु जैसा प्रतिभासित हो ऐसे विषयकषाय से युक्त लम्पटी वेषधारी के प्रति विनयरूप प्रवर्त्तन नहीं करना चाहिए । इस भांति यथार्थ-ज्ञान से भ्रष्ट करने वाले कारणों से पूर्णरूपेण सावधान रहना चाहिये ।

५. उपगूहन अंग[2]

धर्मोऽभिवर्द्धनीयः सदात्मनो मार्दवादिभावनया ।
परदोषनिगूहनमपि विधेयमुपबृंहणगुणार्थम् ।।२७।।

अन्वयार्थ:—[**उपबृंहणगुणार्थं**] उपबृंहण नामक गुण के लिये [**मार्दवादिभावनया**] मार्दव, क्षमा, सन्तोषादि भावनाओं से [**सदा**] निरन्तर [**आत्मनो धर्मः**] अपने आत्मा के धर्म की अर्थात् शुद्धस्वभाव की

१. समयाभास.–यथार्थ मे जो पदार्थ तत्त्वार्थ नही है, परन्तु भ्रम बुद्धि से वैसे (तत्त्वार्थरूप) दिखाई पड़ने लगे, जैसे कि मिथ्यादृष्टियो के बनाए शास्त्र यथार्थ मे तो शास्त्र नही है, परतु भ्रम से शास्त्र जैसे भासित हों वह शास्त्राभास–समयाभास है।

२. उपगूहनत्व:—मोक्षमार्ग स्वयं तो शुद्ध ही है। उसकी अशक्त और अज्ञानी जीवों के आश्रय से उत्पन्न हुई निन्दा को दूर करना उपगूहन कहलाता है। (स्वसन्मुखता के बलसे शुद्धि की वृद्धि करने को उपबृंहण अङ्ग कहते हैं।) (रत्न-करण्डश्रावकाचार गाथा १५)

[**अभिवर्द्धनीयः**] वृद्धि करनी चाहिये और [**परदोषनिगूहनमपि**] दूसरे के दोषों को गुप्त भी रखना [**विधेयम्**] चाहिए (यह भी कर्त्तव्य है)।

टीका:—'**उपबृंहण गुणार्थं मार्दवादिभावनया सदा आत्मनः धर्मः अभिवर्द्धनीयः**'। उपबृंहण नामक गुण के लिए मार्दव अर्थात् कोमल परिणाम तथा आदि शब्द से क्षमा सन्तोषादि भावना से सदा अपने आत्मा का निजस्वभाव प्रगटरूप से बढ़ाना तथा '**परदोषनिगूहनमपि विधेयम्**' अन्य जीव का जो कोई निन्दायोग्य दोष हो उसे प्रगट न करके दबाना उचित है।

भावार्थः—उपबृंहण का अर्थ बढ़ाना है, अतः अपने आत्मा का धर्म बढ़ाना। पुनः इस अंग का अपरनाम उपगूहन भी है, इस अपेक्षा से दूसरे के दोषों को छिपाना योग्य है, क्योंकि उन्हे प्रगट करने से उनको दुःख उत्पन्न होता है।

६ स्थितिकरण अंग[1]

कामक्रोधमदादिषु चलयितुमुदितेषु वर्त्मनो न्यायात्।
श्रुतमात्मनः परस्य च युक्त्या स्थितिकरणमपि कार्यम्॥२८॥

अन्वयार्थः—[**कामक्रोधमदादिषु**] काम, क्रोध, मद, लोभादि विकार [**न्यायात् वर्त्मनः**] न्यायमार्ग से अर्थात् धर्ममार्ग से [**चलयितुम्**] विचलित करवाने के लिए [**उदितेषु**] प्रगट हुए हो तब [**श्रुतं**] शास्त्र अनुसार [**आत्मनः परस्य च**] अपनी और पर की [**स्थितिकरणं**] स्थिरता [**अपि**] भी [**कार्यम्**] करनी चाहिये।

टीका:—'**कामक्रोधमदादिषु न्यायात् वर्त्मनः चलयितुं उदितेषु आत्मनः परस्य च श्रुतं युक्त्या स्थितिकरणं अपि कार्यम्**'। मैथुन का भाव, क्रोध का, मान का भाव तथा आदि शब्द से लोभादिक का भाव न्यायरूप धर्म मार्ग से भ्रष्ट करनेवाला है, अतः उनके प्रगट होने पर अपने का तथा अन्य जीवों को शास्त्रानुसार युक्ति से धर्म में स्थिर करना भी श्रद्धावान पुरुष को योग्य है।

---

१. स्थितिकरण—सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र से चलायमान होने पर जीवों को धर्मवत्सल विद्वानों द्वारा स्थिरीभूत करने को स्थितिकरण अङ्ग कहते हैं। (रत्नकरण्डश्रावकाचार श्लोक १६)

भावार्थ:—जो धर्म से भ्रष्ट हैं, उन्हें पुनः धर्म में स्थापित करना स्थितिकरण है और धर्मभ्रष्टता कामक्रोधादि के वशीभूत होने पर होती है; इसलिये जो इनके निमित्त से अपने परिणाम भ्रष्ट हों तो स्वयं युक्ति पूर्वक धर्म में स्थिर होना चाहिये और अन्य जीव भ्रष्ट हों तो उन्हें भी जैसे बने वैसे धर्म में दृढ़ करना चाहिए।

७. वात्सल्य अंग

अनवरतमहिंसायां शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने धर्मे ।
सर्वेष्वपि च सधर्मिषु परमं वात्सल्यमालम्ब्यम् ।।२९।।

अन्वयार्थः—[**शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने**] मोक्षसुखरूप सम्पदा के कारणभूत [**धर्मे**] धर्म में, [**अहिंसायां**] अहिंसा में [**च**] और [**सर्वेष्वपि**] सभी [**सधर्मिषु**] साधर्मी जनों में [**अनवरतं**] निरन्तर [**परमं**] उत्कृष्ट [**वात्सल्यं**] वात्सल्य अथवा प्रीति का [**आलम्ब्यम्**] आलम्बन करना चाहिये।

टीका:—'**शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने अहिंसायां धर्मे सर्वेष्वपि च सधर्मिषु परमं वात्सल्यं अनवरतं आलम्ब्यम्**' मोक्षसुख की सम्पदा के कारणभूत हिंसारहित जिनप्रणीत धर्म में तथा उस धर्मयुक्त सभी साधर्मियों मे उत्कृष्ट वात्सल्य निरन्तर रखना चाहिए।

भावार्थ:—गोवत्स जैसी प्रीति का नाम वात्सल्य[1] है। जैसे बछड़े की प्रीति से गाय सिंहनी के सन्मुख चली जाती है और विचार करती है कि मेरा भक्षण हो जाय और बछड़े की रक्षा हो जाय तो अत्युत्तम है—ऐसी प्रीति धर्म और धर्मात्माओं के प्रति होनी चाहिये, जो तन-मन-धन सर्वस्व खर्च करके अपनी प्रीति को पाले।

८ प्रभावना अंग

आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव ।
दान तपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः ।।३०।।

अन्वयार्थः—[**सततमेव**] निरंतर [**रत्नत्रयतेजसा**] रत्नत्रय के तेज से [**आत्मा**] अपनी आत्मा को [**प्रभावनीयः**] प्रभावनायुक्त करना

---

१ वात्सल्य—अपने साथके धर्मात्मा जीवों का सच्चेभाव से कपट रहित यथा-योग्य सत्कार करना वात्सल्य है।

चाहिए [**च**] और [**दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैः**] दान, तप, जिन-पूजन और विद्या के अतिशय से अर्थात् इनकी वृद्धि करके [**जिनधर्मः**] जैनधर्म की प्रभावना करनी चाहिए।

टीका:—'रत्नत्रयतेजसा सततं एव आत्मा प्रभावनीयः' रत्नत्रय के तेज से निरंतर अपनी आत्मा को प्रभावनासंयुक्त करना चाहिए और **'दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैः जिनधर्मः प्रभावनीयः'** तथा दान, तप, जिनपूजा, विद्या, चमत्कारादिसे जैनधर्म की प्रभावना करना चाहिए।

भावार्थः—प्रभावना[1] अर्थात् अत्यन्तपने प्रगट करना। अपने आत्मा का अतिशय तो रत्नत्रय प्रताप बढ़ने से प्रगट होता है और जैनधर्म का अतिशय प्रचुर दया-दान से उग्रतप करके,बहुत धन खर्च करके भगवान की पूजा करवाकर, शास्त्राभ्यास करके तथा निर्दोष देवादि के चमत्कार से प्रगट होता है, अतः ऐसा अतिशय प्रगट करना चाहिये।

इसप्रकार सम्यक्त्व के आठ अंगों का वर्णन किया। यह आठ अंग किसी सम्यक्दृष्टि के सम्पूर्ण होते हैं, किसीके थोड़े होते हैं, किसी के गौणरूप से तथा किसी के मुख्यरूप से होते हैं; परन्तु सम्यक्त्व की शोभा तो तभी होती है, जब यह आठों अंग सम्पूर्ण मुख्यरूप से प्रगट प्रत्यक्ष भासित हों। इस भांति सम्यक्त्व अंगीकार करनेके पश्चात् धर्मी गृहस्थ को क्या करना चाहिए यह आगे कहेंगे।

इसप्रकार श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरि विरचित **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, जिसका अपर नाम जिनप्रवचनरहस्यकोष है** में सम्यग्दर्शन वर्णन नामक प्रथम अधिकार समाप्त।



---

१. प्रभावना—(विवेक पूर्वक) जैसे बने वैसे अज्ञानान्धकार के प्रसार को दूर करके जिनशासन के माहात्म्य का प्रकाश करना प्रभावना कहलाता है (रत्न-करण्ड श्रावकाचार श्लोक १८)

सम्यग्ज्ञान अधिकार

इत्याश्रितसम्यक्त्वैः सम्यग्ज्ञानं निरूप्य यत्नेन ।
आम्नाययुक्तियोगैः समुपास्यं नित्यमात्महितैः ॥३१॥

पृथगाराधनमिष्टं दर्शनसहभाविनोऽपि बोधस्य ।
लक्षणभेदेन यतो नानात्वं सम्भवत्यनयोः ॥३२॥

अन्वयार्थः—[**इति**] इसप्रकार [**आश्रितसम्यक्त्वैः**] जिन्होंने सम्यक्त्व का आश्रय लिया है ऐसे [**आत्महितैः**] आत्महितकारी पुरुषों को [**नित्यं**] सदैव [**आम्नाययुक्तियोगैः**] जिनागम की परम्परा और युक्ति अर्थात् प्रमाण–नय के अनुयोग से [**निरूप्य**] विचार करके [**यत्नेन**] प्रयत्नपूर्वक [**सम्यग्ज्ञानं**] सम्यग्ज्ञान का [**समुपास्यं**] भले प्रकार से सेवन करना योग्य है, [**दर्शनसहभाविनोऽपि**] सम्यग्दर्शन के साथ ही उत्पन्न होने पर भी [**बोधस्य**] सम्यग्ज्ञान का [**पृथगाराधनं**] जुदा ही आराधन करना [**इष्टं**] कल्याणकारी है, [**यतः**] कारण कि [**अनयोः**] इन दोनोंमें अर्थात् सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में [**लक्षणभेदेन**] लक्षण के भेद से [**नानात्वं**] भिन्नता [**संभवति**] संभव है ।

टीका—'**इत्याश्रित सम्यक्त्वैः आत्महितैः च यत्नेन सम्यग्ज्ञानं समुपास्यम् ।**' इसप्रकार जिन्होंने सम्यक्त्व अंगीकार किया है, ऐसे अपने आत्मा का हित करनेवाले धर्मात्मा जीवों को जिस-तिस उचित उपाय से सम्यग्ज्ञान का सेवन करना चाहिए ।

सम्यक्त्व को अंगीकार करने के बाद सम्यग्यान का सेवन करना '**किंकृत्य**' किस भांति सेवन करना ? '**आम्नाययुक्तियोगैः निरूप्य**' आम्नाय अर्थात् जिनागम की परम्परा और युक्ति अर्थात् प्रमाण-नय के अनुयोग से भले प्रकार उस सम्यग्ज्ञान का विचार – निर्णय करके उसका सेवन करना ।

भावार्थः—जो पदार्थ का स्वरूप जिनागम का परमपरा से मिलता हो उसको प्रमाण और नय से अपने उपयोग में ठीक करके यथावत् जानने का

ही सम्यग्ज्ञान का सेवन करना कहा जाता है। उस प्रमाण-नय का स्वरूप किंचिन्मात्र लिखते हैं।

प्रमाण-नय का संक्षिप्त स्वरूप

प्रमाण सम्यग्ज्ञान को कहते हैं। वह प्रमाण प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार का है। प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं। जो ज्ञान केवल आत्मा के ही आधीन होकर अपने विषयप्रमाण विशदता से स्पष्ट जाने, उसे **पारमार्थिक प्रत्यक्ष** कहते हैं। उसके भी दो भेद हैं। अवधिज्ञान, मन.पर्ययज्ञान तो **एकदेश प्रत्यक्ष हैं** और केवलज्ञान **सर्वदेश प्रत्यक्ष** हैं तथा जो नेत्रादि इन्द्रियों द्वारा वर्णादिक को साक्षात् ग्रहण करे अर्थात् जाने, उसे **सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष** कहते है। परमार्थ से यह जानना परोक्ष ही है, कारण कि स्पष्ट जानपना नहीं है। उसका उदाहरण जैसे आँख से किसी वस्तु को सफेद जाना उसमें मलिनता का भी मिश्रण है। अमुक अंश श्वेत है और अमुक मलिन है – ऐसा इसे स्पष्ट प्रतिभासित नहीं होता, अतः यह व्यवहारमात्र प्रत्यक्ष है, परन्तु आचार्य इसे परोक्ष ही कहते हैं। मति-ज्ञान एव श्रुतज्ञान से जो जानना होता है, वह सब परोक्ष कहलाता है।

परोक्ष प्रमाण:–जो ज्ञान अपने विषय को स्पष्ट न जाने, उसे परोक्ष प्रमाण कहते हैं। उसके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, आगम ये पांच भेद जानना।

१. **स्मृति**:—पूर्व में जिस पदार्थ को जाना था, उसे ही याद करके कालान्तर में जान लेने को स्मृति कहते हैं।

२. **प्रत्यभिज्ञान**:—जैसे पहले किसी पुरुष को देखा था, फिर बाद में याद किया कि यह तो वही पुरुष है, जिसे मैंने पहले देखा था। जो पहले की बात याद करके प्रत्यक्ष पदार्थ का निश्चय करे, उसे प्रत्यभिज्ञान कहते हैं।

जैसे पहले यह सुना था कि नीलगाय नामक पशु गाय जैसा होता है. वहाँ कदाचित् वन में नील गाय को देखा, तो यह याद आ गई कि जैसी नील गाय होती है ऐसा पहले सुना था, वह नील गाय पशु यही है।

३. **तर्क**:—व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं। "इसके बिना यह नही" इसे व्याप्ति कहते है। जिस तरह अग्नि के बिना धुआँ नहीं होता, आत्मा के बिना चेतना नहीं होती। इस व्याप्ति के ज्ञान को ही तर्क कहते हैं।

४. अनुमानः—लक्षण के द्वारा पदार्थ का निश्चय किया जाय, उसे अनुमान कहते हैं। जैसे किसी पर्वत में धुआँ निकलता देखकर निश्चय करना कि यहाँ अग्नि है।

५. आगमः—आप्त के वचन के निमित्त से पदार्थ के जानने को आगम कहते हैं। जैसे शास्त्र से लोक का स्वरूप जानना।

इस प्रकार परोक्षप्रमाण के पांच भेद जानना।

नय

श्रुतज्ञानप्रमाण के अंश को नय कहत हैं। प्रमाण से जो पदार्थ जाना था, उस पदार्थ का उसके एक धर्म की मुख्यता से जो अनुभव कराये, उसे नय कहते हैं। उसके दो भेद है—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक।

जो द्रव्य को मुख्य करके अनुभव कराये वह द्रव्यार्थिकनय है। उसके तीन भेद है :—

१. नैगमनयः—सकल्प मात्र से पदार्थ के ग्रहण करने—जानने को नैगमनय कहते हैं। जैसे कटौती बनाने के लिये कोई लकड़ी लेने जा रहा था, उससे किसी ने पूछा कि "तुम कहाँ जा रहे हो?" तब उसने उत्तर दिया कि "मैं कटौती लेने जा रहा हूँ।" जहाँ वह जा रहा है, वहाँ कटौती तो नही मिलेगी; परन्तु उसके विचार में हैं कि मैं लकड़ी लाकर कटौती बनाऊंगा।

२. संग्रहनयः—सामान्यरूप से पदार्थों के ग्रहण को सग्रहनय कहते है। जैसे छह जाति के समस्त द्रव्य सत्ता लक्षण संयुक्त हैं। इन छह द्रव्यों के समूह को द्रव्य सज्ञा द्वारा अथवा सत्ता लक्षण द्वारा जानना इस नय का प्रयोजन है।

३. व्यवहारनयः—सामान्यरूप से (संग्रहनय से) जाने हुये द्रव्य के विशेष (भेद) करने को व्यवहारनय कहते हैं। जैसे द्रव्य के छह भेद करना। इसप्रकार यह तीन भेद द्रव्यार्थिकनय के बताए हैं।

अब पर्यायार्थिकनय के चार भेद कहते हैं।

१. **ऋजूसूत्र नयः**—जो वर्तमान पर्यायमात्र को जानता है, उसे ऋजुसूत्रनय कहते हैं।

२ **शब्दनयः**—व्याकरणादि के अनुसार शब्द की अशुद्धता को दूर करना शब्दनय है।

३. **समभिरूढनय**:— पदार्थ में मुख्यता से एक अर्थ के आरूढ़ करने को समभिरूढ़नय कहते हैं। जैसे "गच्छतीति गौः" के अनुसार 'जो चले वही गौ' होती है, परन्तु यहां बैठी हुई को भी गौ कह देते हैं।

४. **एवंभूतनय**: जो वर्तमान क्रिया जैसी हो उसी के अनुसार वैसा ही कहना एवंभूतनय है। जैसे चलती हुई को गौ कहना, सोती हुई, बैठी हुई को गौ न कहना। इसप्रकार नय के भेद जानना चाहिये।

इनमें शब्दनय, समभिरूढ़नय तथा एवभूतनय को शब्दनय कहते हैं। इस प्रमाण-नय के संयोग को युक्ति कहते हैं। "नयप्रमाणाभ्यां युक्ति" इति वचनात् यहाँ पर प्रमाण-नय का थोड़ा-सा कथन इसलिए कर दिया है कि प्रमाण-नय बिना पदार्थ के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं होता।

"प्रमाणनयैरधिगमः"। (तत्त्वार्थसूत्र अ० १–६)

जिस समय आत्मा को सम्यग्दर्शन होता है, उस समय मतिज्ञान और श्रुतज्ञान तो अवश्य होता ही है, परन्तु इस सम्यग्ज्ञान को विशेषरूप से जुदा आराधन करना योग्य है। किसलिए? **'यतः लक्षणभेदेन अनयोः नानात्वं संभवति।'** कारण कि लक्षण भेद से इन दोनों में भिन्नत्व सम्भव है। सम्यक्त्व का लक्षण यथार्थ श्रद्धान है और इसका (ज्ञानका) लक्षण यथार्थ जानना है, इसलिए इसे जुदा कहा है।

आगे सम्यक्त्वके बाद ज्ञान कहने का कारण बताते हैं:—

सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदन्ति जिनाः।
ज्ञानाराधनमिष्टं सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात् ॥३३॥

अन्वयार्थः—[**जिनाः**] जिनेन्द्रदेव [**सम्यग्ज्ञान**] सम्यग्ज्ञान को [**कार्यं**] कार्य और [**सम्यक्त्वं**] सम्यक्त्व को [**कारणं**] कारण [**वदन्ति**] कहते हैं, [**तस्मात्**] इसलिये [**सम्यक्त्वानन्तरं**] सम्यक्त्व के बाद तुरन्त ही [**ज्ञानाराधन**] ज्ञान की आराधना [**इष्टम्**] योग्य है।

टीका:—**'जिनाः सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदन्ति'** जिनदेव सम्यग्ज्ञान को कार्य कहते हैं और सम्यक्त्व को कारण कहते हैं।

मतिज्ञान–श्रुतज्ञान पदार्थ को तो जानते थे, परन्तु सम्यक्त्व के बिना उनकी संज्ञा कुमतिज्ञान और कुश्रुतज्ञान थी, परन्तु सम्यक्पना तो सम्यक्त्व से ही हुआ। इसलिए सम्यक्त्व तो कारणरूप है, सम्यज्ञान

कार्यरूप है। *'तस्मात् सम्यक्त्वानन्तरं ज्ञानाराधनं इष्टम्'* इसलिये *सम्यक्त्व के बाद ही ज्ञानाराधना योग्य है, क्योंकि कारण से ही कार्य होता है।*

प्रश्नः—कारण-कार्य तो तब कहा जाये जब आगे-पीछे हो। ये तो दोनों युगपत् हैं, फिर इनमें कारण-कार्यत्व किस तरह संभव है? इसका उत्तर आगे कहते हैं :—

कारणकार्यविधानं समकालं जायमानयोरपि हि।
दीपप्रकाशयोरिव सम्यक्त्वज्ञानयोः सुघटम् ॥३४॥

अन्वयार्थः—[**हि**] निश्चय से [**सम्यक्त्वज्ञानयोः**] सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनो [**समकालं**] एक समय में [**जायमानयोः अपि**] उत्पन्न होने पर भी [**दीपप्रकाशयोः**] दीपक और प्रकाश की [**इव**] तरह [**कारणकार्यविधानं**] कारण और कार्य की विधि [**सुघटम्**] भले प्रकार घटित होती है।

टीकाः—'हि सम्यक्त्वज्ञानयोः समकालं जायमानयोः अपि कारण कार्यं विधानं सुघटम्'—निश्चय से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक ही समय में उत्पन्न होते हैं, तो भी उनमें कारणकार्य का प्रकार यथार्थरूप से बनता है। किस दृष्टान्त से? **'दीपप्रकाशयोः इव'**—जिसप्रकार दीपक और प्रकाश एक ही समय में प्रकट होते हैं, तो भी दीपक प्रकाश का कारण है और प्रकाश कार्य है; क्योंकि दीपक से प्रकाश होता है। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान का कारण है, सम्यग्ज्ञान कार्य है; क्योंकि सम्यक्त्व से ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान नाम पाता है।

आगे इस सम्यग्ज्ञान का लक्षण कहते हैं:—

कर्त्तव्योऽध्यवसायः सदनेकान्तात्मकेषु तत्त्वेषु
संशयविपर्ययानध्यवसायविविक्तमात्मरूपं तत् ॥३५॥

अन्वयार्थः—[**सदनेकान्तात्मकेषु**] प्रशस्त अनेकान्तात्मक अर्थात् अनेक स्वभाववाले [**तत्त्वेषु**] तत्त्वों तथा पदार्थों में [**अध्यवसायः**] निर्णय [**कर्त्तव्यः**] करने योग्य है और [**तत्**] वह सम्यग्ज्ञान [**संशयविपर्ययानध्यवसायविविक्तं**] संशय, विपर्यय और विमोह रहित [**आत्मरूपं**] आत्मा का निजस्वरूप है।

टीका:—'सदनेकान्तात्मकेषु तत्त्वेषु अध्यवसाय: कर्त्तव्य:' अनेकान्त है स्वभाव जिनका ऐसे पदार्थों का ज्ञानपूर्वक निर्णय करना योग्य है।

पदार्थ के स्वरूप को यथार्थ जाननेका नाम सम्यग्ज्ञान है। वह पदार्थ अनेकान्त स्वभाव को धारण करता है। अनेक = बहुत, अन्त = धर्म। इस प्रकार अपने अनन्तधर्म स्वभाव को धारण करनेवाले का ज्ञान अवश्य करना चाहिए। जो सम्यक्प्रकार से वस्तु को पहचान ले तो करोडों कारण मिलने पर भी अश्रद्धानी न हो। **'तत् आत्मरूपं वर्तते'**—यह सम्यग्यान आत्मा का स्वरूप है, क्योंकि जो यह सच्चा ज्ञान उत्पन्न हुआ है, वह केवलज्ञान में मिलकर शाश्वत रहेगा। कैसा है ज्ञान ? **'संशयविपर्ययानध्यवसाय विविक्तम्'** सशय, विपर्यय और विमोह इन तीनों भावों से रहित है।

संशय:—विरुद्ध दोतरफा ज्ञान को संशयज्ञान कहते हैं। जैसे रात में किसीको देखकर सन्देह हुआ कि यह पदार्थ मनुष्य जैसा भी प्रतिभासित होता है और व्यन्तर जैसा भी प्रतिभासित होता है।

विपर्यय:—अन्यथा (विपरीत) रूप एकतरफा ज्ञान को विपर्ययज्ञान कहते हैं। जैसे मनुष्य में व्यन्तर की प्रतीति कर लेना।

अनध्यवसाय—"कुछ है" इतना ही जानना हो, विशेष विचार न करे उसे अनध्यवसाय (विमोह) कहते हैं। जैसे गमन करते समय तृण के स्पर्श का ज्ञान होना। इन तीनों भावों से रहित यथार्थ ज्ञान को **सम्यग्ज्ञान** कहते हैं। यहाँ घटपटादि पदार्थों के विशेष जानने के निमित्त उद्यमी रहना नहीं बताया, अपितु ससार-मोक्ष के कारणभूत पदार्थों को यथार्थ जानने के लिए उद्यमी रहने का उपदेश दिया है।

प्रश्न.—सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के जानपने में समानता होने पर भी एक का ज्ञान सम्यक् और दूसरे का मिथ्या क्यों कहलाता है ?

उत्तर—सम्यग्यदृष्टि को मूलभूत जीवादि पदार्थों का वास्तविक ज्ञान है, इसलिए जितने उत्तर पदार्थ (विशेष पदार्थ) जानने में आते हैं, उन सब को यथार्थरूप से साधता है, अतः सम्यदृष्टि के ज्ञान को सम्यक्रूप कहा है। मिथ्यादृष्टि को मूलपदार्थों का वास्तविक ज्ञान नहीं है, इसलिए जितने उत्तर पदार्थ जानने में आते हैं, उन सबको भी अयथार्थरूप से साधता है, अतः मिथ्यादृष्टि के ज्ञान को मिथ्यारूप कहा गया है।

आगे इस सम्यग्ज्ञान के अष्ट अङ्ग कहते हैं—

ग्रन्थार्थोभयपूर्णं काले विनयेन सोपधानं च।
बहुमानेन समन्वितमनिह्नवं ज्ञानमाराध्यं ।।३६।।

अन्वयार्थ—[**ग्रन्थार्थोभयपूर्णं**] ग्रन्थरूप (शब्दरूप), अर्थरूप और उभय अर्थात् शब्दअर्थरूप शुद्धता से परिपूर्ण [**काले**] काल में अर्थात् अध्ययन काल में आराधन करने योग्य [**विनयेन**] मन, वचन, काय की शुद्धरूप विनय [**च**] और [**सोपधानं**] धारनायुक्त [**बहुमानेन**] अत्यन्त सन्मान से अर्थात् देव-गुरु-शास्त्र के वन्दन, नमस्कारादि [**समन्वितं**] सहित तथा [**अनिह्नवं**] विद्यागुरु को छिपाये बिना [**ज्ञानं**]ज्ञान की [**आराध्यम्**] आराधना करना योग्य है।

टीका—'**ज्ञानं आराध्यम्**' श्रद्धावान पुरुषों को सम्यग्ज्ञान आराधन करने योग्य है। कैसा है ज्ञान? '**ग्रन्थार्थोभयपूर्णं**' शब्दरूप है, अर्थरूप है और उभय से पूर्ण है।

सम्यग्ज्ञान के आठ अंग इस प्रकार है—

१. **व्यंजनाचार**—जहाँ मात्र शब्द के पाठ का ही जानपना हो उसे व्यंजनाचार अंग कहते हैं।

२ **अर्थाचारः**—जहाँ केवल अर्थमात्र के प्रयोजनसहित जानपना हो उसे अर्थाचार कहते हैं।

३. **उभयाचारः**—जहाँ शब्द और अर्थ दोनों में सम्पूर्ण जानपना हो, उसे शब्दार्थ उभयपूर्ण अङ्ग कहते हैं। इसप्रकार यह तीन अंग वर्णन किए। अब ज्ञान की आराधना कब करे? सो कहते हैं:—

४. **कलाचारः—काले** = जिस काल जिस ज्ञान का विचार चाहिए वही करना (सूर्योदय, सूर्यास्त, मध्याह्न और मध्यरात्रि, इनके पहले और पाछे का मुहूर्त्त सन्ध्याकाल है, इस काल को छोड़कर शेष के चार उत्तम कालों में पठन-पाठनादिरूप स्वाध्याय करने को कालाचार कहते हैं। चारों सन्ध्या-काल की प्रथम तथा अन्तिम दो घड़ी में, तथा दिग्दाह, उल्कापात, वज्रपात, इन्द्रधनुष, सूर्य-चन्द्रग्रहण, तूफान, भूकम्प आदि उत्पातों के काल में सिद्धात ग्रन्थों का पठन—पाठन वर्जित है। हाँ, स्तोत्र—आराधना, धर्म कथादिक के ग्रन्थ पढ़ सकते हैं।

५. **विनयाचार**:—तथा किस रीति से ज्ञानाराधन करना ? **विनयेन** =नम्रतायुक्त होना, उद्धत नहीं होना।

६. **उपधानाचार**:—तथा कैसा ज्ञान आराधना चाहिये? **सोपधानं**= धारणा सहित ज्ञान को भूलना नहीं; उपधान सहित ज्ञान की आराधना करना छठवा अंग है।

७. **बहुमानाचार**:—तथा कैसा है ज्ञान? **"बहुमानेन समन्वितम्"**= ज्ञान का पुस्तक—शास्त्र का, अथवा पढ़ानेवाले का बहुत आदर करना इन सहित ज्ञान का आराधन करना सप्तम अंग है।

८. **अनिह्नवाचार**—तथा कैसा है ज्ञान ? **"अनिह्नवं"** = जिस शास्त्र अथवा गुरु से अपने को ज्ञान हुआ हो, उसे छिपाना नहीं चाहिए। यह आठ अंग (सम्यग्ज्ञान के विनय के) हैं। इसप्रकार सम्यग्ज्ञान अंगीकार करना।

इति श्रीमद् अमृतचद्र सूरि विरचित **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय** जिसका अपरनाम जिनप्रवचन रहस्य कोष है, उसमें सम्यग्ज्ञान वर्णन नामक दूसरा अधिकार पूर्ण हुआ।

भाव भासन के बिना…

सो तत्त्वज्ञान के कारण अध्यात्मरूप द्रव्यानुयोग के शास्त्र हैं और कितने ही जीव उन शास्त्रों का भी अभ्यास करते हैं; परन्तु वहाँ जैसा लिखा है वैसा निर्णय स्वयं करके आप को आपरूप, पर को पर रूप और आस्त्रवादि का आस्त्रवादिरूप श्रद्धान नहीं करते। मुख से तो यथावत् निरूपण ऐसा भी करें जिसके उपदेश से अन्य जीव सम्यग्दृष्टि हो जायें। परन्तु जैसे कोई लड़का स्त्री का स्वांग बनाकर ऐसा गाना गाये जिसे सुनकर अन्य पुरुष—स्त्री कामरूप हो जायें; परन्तु वह तो जैसा सीखा वैसा कहता है, उसे कुछ भाव भासित नही होता, इसलिए स्वयं कामासक्त नहीं होता। उसी प्रकार यह जैसा लिखा है वैसा उपदेश देता है; परन्तु स्वयं अनुभव नहीं करता। यदि स्वयं को श्रद्धान हुआ होता तो अन्य तत्त्व का अन्य तत्त्व में न मिलाता; परन्तु इसका ठिकाना नहीं है, इसलिए सम्यग्ज्ञान नहीं होता।

—मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २३७

सम्यक्चारित्र व्याख्यान

सम्यग्ज्ञान अंगीकार करने के पश्चात् धर्मात्मा पुरुषों को क्या करना चाहिए वही कहते हैं :—

विगलितदर्शनमोहैः समञ्जसज्ञानविदिततत्त्वार्थैः ।

नित्यमपि निःप्रकम्पैः सम्यक्चारित्रमालम्ब्यम् ।।३७।।

अन्वयार्थः—[**विगलितदर्शनमोहैः**] जिन्होंने दर्शन मोह का नाश कर दिया है, [**समञ्जसज्ञानविदिततत्त्वार्थैः**] सम्यग्ज्ञान से जिन्होंने तत्त्वार्थ को जाना है [**नित्यमपि निःप्रकम्पैः**] जो सदाकाल अकम्प अर्थात् दृढचित्त वाले हैं, ऐसे पुरुषों द्वारा [**सम्यक्चारित्रं**] सम्यक्चारित्र [**आलम्ब्यम्**] अवलम्बन करने योग्य है ।

टीका:—**'सम्यक्चारित्रं आलम्ब्यम्'** – सम्यक्चारित्र अंगीकार करना चाहिए । कैसे जीवों को सम्यक्चारित्र अंगीकार करना चाहिए ? **'विगलितदर्शनमोहैः'** जिनके दर्शनमोह का नाश हुआ है और दर्शनमोह के नाश होने से जो तत्त्वश्रद्धानी हुए हैं और कैसे हैं ? **'समञ्जसज्ञानविदिततत्त्वार्थैः'** – जिन्होंने सम्यग्ज्ञान से तत्त्वार्थ जाना है । तथा कैसे हैं ? **'नित्यमपि निःप्रकम्पैः'** धारण किए गए आचरण में निरन्तर निष्कम्प है, जो ग्रहण किए हुए आचरण को किसी भी प्रकार नहीं छोड़ते, ऐसे जीवों को सम्यक्चारित्र अंगीकार करना चाहिए ।

भावार्थः- पहले सम्यग्दर्शन प्राप्त कर के सम्यग्ज्ञानी होकर तत्पश्चात् निश्चलवृत्ति धारण करके सम्यक्चारित्र अंगीकार करना चाहिए ।

आगे सम्यग्ज्ञान के बाद ही सम्यक्चारित्र अंगीकार करने का कारण कहते हैं :—

न हि सम्यग्व्यपदेशं चरित्रमज्ञानपूर्वकं लभते ।

ज्ञानानन्तरमुक्तं चारित्राराधनं तस्मात् ।।३८।।

अन्वार्थः—[**अज्ञानपूर्वकं चरित्रं**] अज्ञान सहित चारित्र [**सम्यग्व्यपदेशं**] सम्यक् नाम [**न हि लभते**] प्राप्त नहीं करता, [**तस्मात्**]

इसलिए [ज्ञानानन्तरर] सम्यग्ज्ञान के पश्चात् ही [चारित्राराधनं] चारित्र का आराधन [उक्तम्] कहा गया है।

टीका:—'अज्ञानपूर्वकं चारित्रं सम्यग्व्यपदेशं न हि लभते' — जिसके पूर्व में अज्ञानभाव हो, ऐसा चारित्र सम्यक् संज्ञा को प्राप्त नहीं होता। प्रथम यदि सम्यग्ज्ञान न हो और पापक्रिया का त्याग करके चारित्रभार धारण करे तो उस चारित्र को सम्यक्त्वता प्राप्त नहीं पोती।

जैसे बिना जाने औषधि का सेवन करे तो मरण ही हो, उसी प्रकार सम्यग्ज्ञानरहित चारित्र का सेवन करना संसार को बढ़ाता है। जीवरहित मृत शरीर में इन्द्रियों के आकार किस काम के? उसी प्रकार सम्यग्ज्ञान शून्य शरीर के वेष या क्रियाकाण्ड के साधन से शुद्धोपयोग की प्राप्ति नहीं होती। **'तस्मात् ज्ञानानन्तरं चारित्राराधनं उक्तम्'** - अतः सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् ही चारित्र का आराधन करना कहा है।

चारित्रका लक्षण

चारित्रं भवति यतः समस्तसावद्ययोगपरिहरणात् ।
सकलकषायविमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत् ॥३९॥

अन्वयार्थः—[यतः] कारण कि [तत्] वह [**चारित्रं**] चारित्र [**समस्तसावद्ययोगपरिहरणात**] समस्त पापयुक्त मन, वचन, काय के त्याग से [**सकलकषायविमुक्तं**] सम्पूर्ण कषाय रहित [**विशदं**] निर्मल [उदासीन] परपदार्थों से विरक्तिरूप और [**आत्मरूपं**] आत्मस्वरूप [**भवति**] होता है।

टीका:—'यतः समस्त सावद्ययोगपरिहरणात् चारित्रं भवति' — समस्त पापसहित मन, वचन, काय के योग का त्याग करने से चारित्र होता है। मुनि पहले सामायिक चारित्र अंगीकार करता है, तब ऐसी प्रतिज्ञा करता है, **'अहं सर्वसावद्ययोगविरतोऽस्मि'** मैं सर्व पापसहित योगों का त्यागी हूँ। कैसा है चारित्र? **'सकलकषायविमुक्तम्'** समस्त कषायों का अभाव होने पर यथाख्यात चारित्र होता है। तथा कैसा है? **'विशदम्'** — निर्मल है। आत्मसरोवर कषायरूपी कीचड़ से मैला था, कषाय का अभाव होने पर सहज ही निर्मलता हो गई। तथा कैसा है? **'उदासीनम्'** — पर द्रव्य से विरक्ति स्वरूप है। **'तत् आत्मरूपं वर्तते'** — वह चारित्र आत्मा का स्वरूप है। कषाय रहित जो आत्मा का स्वरूप प्रगट हुआ है, वही सदाकाल रहेगा; इस अपेक्षा से आत्मा का स्वरूप है, नवीन आवरण कभी

भी नहीं होगा। **सामायिक चारित्र में सकल चारित्र हुआ, परन्तु संज्वलन कषाय के सद्भाव से मलिनता नहीं गई, इसलिये जब सकल कषायरहित** हुआ, तब यथाख्यात नाम पाया, जैसा चारित्र का स्वरूप था, वैसा प्रगट हुआ।

प्रश्न:—शुभोपयोगरूप भाव है, वह चारित्र है या नहीं ?

उत्तर:—शुभोपयोग विशुद्ध परिणामों से होता है और विशुद्धता मन्दकषाय को कहते हैं, इसलिए कषायों की हीनता के कारण कथंचित् चारित्र कहलाता है।

प्रश्न:—देव-गुरु-शास्त्र, शील, तप, संयमादि में अत्यन्त रागरूप प्रवर्तन करते हुए भी उसे मन्दकषाय कैसे कह सकते हैं ?

उत्तर:—विषय-कषायादिक के राग की अपेक्षा तो वह मन्द कषाय ही है; क्योंकि उनके राग में क्रोध, मान, माया तो है ही नहीं, अब रहा प्रीतिभाव की अपेक्षा लोभकषाय, किन्तु वह भी सांसारिक प्रयोजनयुक्त नहीं है; अतः उसकी भी मन्दता है। यहां भी ज्ञानी जीव रागभाव से प्रेरित होता हुआ अशुभ राग को छोड़कर शुभ राग में प्रवर्तन करता है; किन्तु उस **शुभराग को उपादेयरूप श्रद्धान नहीं करता, अपितु उसे अपने शुद्धोपयोगरूप चारित्र के लिए मलिनता का ही कारण जानता है**। अशुभोपयोग में तो कषायों की तीव्रता हुई है, अतः वह तो किसी भी प्रकार चारित्र संज्ञा को प्राप्त नहीं हो सकता।

चारित्र के भेद

हिंसातोऽनृतवचनात्स्तेयादब्रह्मतः परिग्रहतः।
कात्स्न्यैकदेशविरतेश्चारित्रं जायते द्विविधम् ॥४०॥

अन्वयार्थ:—[**हिंसातः**] हिंसा से [**अनृतवचनात्**] असत्य भाषण से [**स्तेयात्**] चोरी से [**अब्रह्मतः**] कुशील से और [**परिग्रहतः**] परिग्रह से [**कात्स्न्यैकदेशविरतेः**] सर्वदेश और एकदेश त्याग से वह [**चारित्रं**] चारित्र [**द्विविधम्**] दो प्रकार का [**जायते**] होता है।

टीका:—'**चारित्रं द्विविधं जायते**' - चारित्र दो प्रकार से उत्पन्न होता है। किस प्रकार से ? **हिंसातः, अनृतवचनात्, स्तेयात्, अब्रह्मतः परिग्रहतः कात्स्न्यैकदेशविरतेः**' - हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह के सर्वदेश तथा एकदेश त्याग से चारित्र के दो भेद होते हैं।

भावार्थः—हिंसादिक का वर्णन आगे किया जा रहा है, इनके सर्वथा त्याग को सकलचारित्र और एकदेश त्याग को देशचारित्र कहते हैं।

आगे इन दोनों प्रकार के चारित्रों के स्वामी को बताते हैं—

निरतः कार्त्स्न्यनिवृत्तौ भवति यतिः समयसारभूतोऽयम् ।
या त्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति ।।४१।।

अन्वयार्थः—[**कार्त्स्न्यनिवृत्तौ**] - सर्वथा सर्वदेश त्याग में [**निरतः**] लीन [**अयं यतिः**] यह मुनि [**समयसारभूतः**] शुद्धोपयोगरूप स्वरूप में आचरण करनेवाला [**भवति**] होता है [**या तु एकदेशविरतिः**] और जो एकदेशविरति है [**तस्यां निरतः**] उसमें लगा हुआ [**उपासकः**] उपासक अर्थात् श्रावक [**भवति**] होता है।

टीकाः—**'कार्त्स्न्यनिवृत्तौ निरतः अयं यतिः भवति'**—(जिसके अन्तरंग में तो तीन कषायरहित शुद्धि का बल है तथा) पांच पाप के सर्वथा सर्वदेश त्याग में जो जीव लगा है, वह मुनि है। **'अयं समयसारभूतः'**—यह मुनि शुद्धोपयोगरूप शुद्धात्मास्वरूप ही है। मुनि तो शुद्धोपयोगस्वरूप ही होता है, जो शुभोपयोगरूप भाव है, वह भी इस मुनि की पदवी में कालिमा समान है। **'तु एकदेशविरतिः तस्यां निरतः उपासकः भवति'**—जो पांच पापों के कथंचित् एकदेश त्याग में लगा हुआ जीव है, वह श्रावक है।

भावार्थः—सकलचारित्र का स्वामी तो मुनि है और देशचारित्र का स्वामी श्रावक है।

आगे कहते हैं कि पांच पाप एक हिंसास्वरूप ही हैं :—

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत् ।
अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ।।४२।।

अन्वयार्थ :—[**आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्**] आत्मा के शुद्धोपयोगरूप परिणामों के घात होने के कारण [**एतत्सर्वं**] यह सब [**हिंसैव**] हिंसा ही है। [**अनृतवचनादि**] असत्य वचनादिक के भेद [**केवलं**] केवल [**शिष्यबोधाय**] शिष्यों को समझाने के लिए [**उदाहृतम्**] उदाहरणरूप कहे गए हैं।

टीका:—'सर्वं एतत् हिंसा एव'—ये समस्त पांचों पाप हिंसा ही हैं। किसलिए ? 'आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्'–आत्मा के शुद्धोपयोगरूप परिणामों के घात के कारण हैं, अतः ये सर्व हिंसा ही हैं।

प्रश्नः—यदि हिंसा ही हैं, तो अन्य भेद क्यों कहे गए ?

उत्तर:—'अनृतवचनादि केवलं शिष्यबोधाय उदाहृतम्'–अनृतवचनादि के भेद मात्र शिष्य को समझाने के लिए उदाहरणरूप से कहे गए हैं। जो शिष्य हिंसा के विशेष को न जाने, तो उसके लिये हिंसा के उदाहरण अनृतवचनादि कहे गए हैं। हिंसा का एक भेद अनृतवचन है, एक चोरी है – इस भांति उदाहरणरूप जानना।

आगे हिंसा का स्वरूप कहते हैं:—

यत्खलुकषाययोगात्प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ।।४३।।

अन्वयार्थ:—[कषाययोगात्] कषायरूप से परिणमित मन, वचन, काय के योग से [यत्] जो [द्रव्यभावरूपाणाम्] द्रव्य और भावरूप दो प्रकार के [प्राणानां] प्राणों का [व्यपरोपणस्य करणं] व्यपरोपण करना – घात करना [सा] वह [खलु] निश्चय से [सुनिश्चिता] भलीभांति निश्चित की गई [हिंसा] हिंसा [भवति] है।

टीका:—'खलु कषाययोगात् यत् द्रव्यभावरूपाणां प्राणानां व्यपरोपणस्य करणं सा सुनिश्चिता हिंसा भवति'–निश्चय से कषायरूप परिणमित हुए मन, वचन, काय के योग के हेतु से द्रव्यभावरूप दो प्रकार के प्राणों को पीड़न करना – घात करना निश्चय से हिंसा है।

भावार्थ:—अपने मन में, वचन में या शरीर में क्रोध कषाय प्रगट होने पर प्रथम तो अपने शुद्धोपयोग भावप्राण का घात हुआ। यह हिंसा तो अपने भावप्राण के व्यपरोपण होने के कारण पहले ही हो गई, दूसरी हिंसा तो होवे अथवा न भी होवे। पश्चात् कदाचित् तीव्रकषायरूप होने पर अपने दीर्घश्वांसादिक से अथवा हाथ-पैर से अपने अंग को पीड़ा उत्पन्न करे या अपघात करके मर जाय, तो इसमें अपने द्रव्यप्राण के घातरूप हिंसा हुई अथवा यदि कषाय से अन्यजीव को कुवचन कहा, मर्मभेदी हास्य किया या ऐसा कार्य किया जिससे उसका अन्तरंग पीड़ित होकर कषायरूप परिणाम हो जायें, तो परके भावप्राण के व्यपरोपण से हिंसा होती है।

जहाँ कषाय के वशीभूत होकर प्रमादी हुआ अन्य जीव के शरीर को पीड़ा पहुंचाई अथवा प्राणनाश किया वहाँ पर के द्रव्यप्राण के घात से हिंसा हुई। इस प्रकार हिंसा का स्वरूप कहा।

आगे हिंसा और अहिंसा का निश्चय से लक्षण वर्णन करते हैं:—

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥४४॥

अन्वयार्थः—[**खलु**] निश्चय से [**रागादीनां**] रागादि भावों का [**अप्रादुर्भावः**] प्रकट न होना [**इति**] यही [**अहिंसा**] अहिंसा [**भवति**] है और [**तेषामेव**] उन रागादि भावों का [**उत्पत्तिः**] उत्पन्न होना ही [**हिंसा**] हिंसा [**भवति**] है, [**इति**] ऐसा [**जिनागमस्य**] जैन सिद्धान्त का [**संक्षेपः**] सार - निचोड़ है।

टीका:—'**खलु रागादीनां अप्रादुर्भावः इति अहिंसा भवति**'— निश्चय से रागादि भावों की उत्पत्ति न होना ही अहिंसा है।

अपने शुद्धोपयोगरूप प्राणों का घात रागादि भावों से होता है, इसलिए रागादि भावों का अभाव होना ही अहिंसा है। आदि शब्द से द्वेष, मोह, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, शोक, जुगुप्सा प्रमादादि समस्त विभावभाव जानना चाहिए। इनके लक्षण कहते हैं - अपने को कोई (पदार्थ) इष्ट जानकर प्रीतिरूप परिणाम का होना राग है, अनिष्ट जानकर अप्रीतिरूप परिणाम का होना द्वेष है, पर द्रव्य में ममत्वरूप परिणाम होना मोह है, मैथनरूप परिणाम काम है, इसने अनुचित किया - ऐसा जानकर पर को दुःखदायक परिणाम क्रोध है, दूसरे से अपने को बड़ा मानना मान है, मन-वचन-काय में एकता का अभाव माया है, पर द्रव्य के साथ सम्बन्ध करने की इच्छारूप परिणाम लोभ है, भली-बुरी चेष्टा देखकर विकसितरूप परिणाम हास्य है, आर्तरूप परिणाम शोक है, ग्लानिरूप परिणाम जुगुप्सा है, कल्याणकारी कार्य में अनादर करना प्रमाद है - इत्यादि समस्त विभावभाव हिंसा की पर्यायें हैं, इनका न होना ही अहिंसा है। '**तेषामेव उत्पत्तिः हिंसा**' - उन रागादिभावों का उत्पन्न होना ही हिंसा है, '**इति जिनागमस्य संक्षेपः**' - ऐसा जैन सिद्धान्त का रहस्य है।

भावार्थः—जैन सिद्धान्त का विस्तार बहुत है, परन्तु सबका रहस्य संक्षेप में इतना ही है कि धर्म का लक्षण अहिंसा है और रागादिभावों का

अभाव होना वही अहिंसा है, इसलिए जैसे बन सके वैसे तथा जितना बन सके उतना (स्वसन्मुखताद्वारा) रागादिभावों का नाश करना चाहिए। वही अन्य अन्थोंमें कहा है:—

रागादीणामणुप्पा अहिंसा गत्तति देसिदं समये।
ते सिचे बुप्पंत्तो हिंसेति जिणेहि णिहिट्ठं।

प्रश्न:—हिंसा का लक्षण पर जीव के प्राणों को पीड़ा पहुंचाना क्यों नहीं कहा ?

उत्तर:—क्योंकि इस लक्षण में अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोनों दोष लगते हैं।

वहां प्रथम ही अतिव्याप्ति दोष बताते हैं:—

युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि।
न ही भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव ॥४५॥

अन्वयार्थ:—[**अपि**] और [**युक्ताचरणस्य**] योग्य आचरणवाले [**सतः**] सन्त पुरुष के [**रागाद्यावेशमन्तरेण**] रागादिभावों के बिना [**प्राणव्यपरोपणात्**] केवल प्राण पीड़न से [**हिंसा**] हिंसा [**जातु एव**] कभी भी [**न हि**] नहीं [**भवति**] होती।

टीका:—'**अपि युक्ताचरणस्य सतः रागाद्यावेशमन्तरेण प्राणव्यपरोपणात् एव जातु हिंसा न हि भवति**' - निश्चय से जिनका आचरण योग्य प्रयत्न पूर्वक है, ऐसे सन्त पुरुषों को रागादिभावों के प्रवेश बिना केवल परजीव के प्राणपीड़न करने मात्र से ही कदाचित् हिंसा नहीं होती।

भावार्थ:—महापुरुष ध्यान में लीन है अथवा गमनादि में सावधानी से यत्नपूर्वक प्रवर्तन कर रहे हैं और कदाचित् इनके शरीर के सम्बन्ध से किसी जीव के प्राणों को पीड़ा पहुंच गई तो भी इनके हिंसा का दोष नहीं है, कारण कि इनके परिणाम में कषाय भाव नहीं था, इसलिये परजीव के प्राणों को पीड़ा होने पर भी हिंसा नहीं कहलाती, अतः अतिव्याप्ति दोष लगता है।

आगे अव्याप्ति दोष बताते हैं:—

व्युत्थानावस्थायां रागादिनां वशप्रवृत्तायाम्।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा ॥४६॥

अन्वयार्थः—[**रागादीनां**] रागादिभावों के [**वशप्रवृत्तायाम्**] वश में प्रवर्तती हुई [**व्युत्थानावस्थायां**] अयत्नाचाररूप प्रमाद अवस्था में [**जीवः**] जीव [**म्रियतां**] मरे [**वा**] अथवा [**मा म्रियतां**] न मरे [**हिंसा**] हिंसा तो [**ध्रुवं**] निश्चय से [**अग्रे**] आगे ही [**धावति**] दौड़ती है ।

टीकाः—'**रागादीनां वशप्रवृत्तायां व्युत्थानावस्थायां जीवः म्रियतां वा मा म्रियतां हिंसा ध्रुवं अग्रे धावति**'—रागादि प्रमादभावों के वशीभूत होकर उठने बैठने आदिरूप क्रिया में जीव मरे अथवा न मरे, किन्तु हिंसा तो निश्चय से आगे दोड़ती है ।

भावार्थः—जो प्रमादी जीव कषाय के वश होकर गमनादि क्रिया में यत्नरूप प्रवर्तन नहीं करते अथवा उठते-बैठते क्रोधादि भावरूप परिणमन करते हैं तो वहाँ जीव कदाचित् मरे या न मरे, परन्तु इसे तो कषाय भाव से अवश्य हिंसा का दोष लगता है । अर्थात् पर जीव के प्राण को पीड़ा न होते हुए भी प्रमाद के सद्भाव से हिंसा कही जाती है, इसलिए उस लक्षण में अव्याप्ति दोष लगता है ।

प्रश्नः–हिंसा का अर्थ तो घात करना है, पर जीव के प्राण का घात किये बिना हिंसा कैसे कही जा सकती है ?

इसका उत्तर आगे कहते हैं:—

यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम् ।
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु ।।४७।।

अन्वयार्थः—[**यस्मात**] कारण कि [**आत्मा**] जीव [**सकषायः सन्**] कषायभाव युक्त होने से [**प्रथमं**] प्रथम [**आत्मना**] अपने से ही [**आत्मानं**] अपने को [**हन्ति**] घात करता है [**तु**] और [**पश्चात्**] पीछे से भले ही [**प्राण्यन्तराणां**] दूसरे जीवों की [**हिंसा**] हिंसा [**जायेत**] हो [**वा**] अथवा [**न**] न हो ।

टीकाः—'**यस्मात सकषायः सन् आत्मा प्रथमं आत्मना आत्मानं हन्ति तु पश्चात् प्राण्यन्तराणां हिंसा जायेत वा न जायेत**' - कारण कि कषायभावयुक्त हुआ आत्मा पहले अपने द्वारा ही अपना घात करता है, पश्चात् अन्य प्राणी - जीवों का घात हो अथवा न हो ।

भावार्थः–हिंसा तो घात को ही कहते हैं; परन्तु घात दो प्रकार का है – एक आत्मघात और दूसरा परघात । जब इस आत्मा ने कषाय भावों

से परिणमन करके अपना बुरा किया, तब आत्मघात तो पहले ही हो गया, तत्पश्चात् अन्य जीव का आयुष्य पूरा हो गया हो अथवा पाप का उदय हो तो उसका भी घात हो जाये । तू उसका घात तो नहीं कर सकता, कारण कि उसका घात तो उसके कर्माधीन है, इसके तो अपने भावों का दोष है । इसप्रकार प्रमाद सहित योग में आत्मघात की अपेक्षा तो हिंसा हो ही गई ।

अब परघात की अपेक्षा भी हिंसा का सद्भाव बताते हैं:-

हिंसाया अविरमणं हिंसा परिणमनमपि भवति हिंसा ।
तस्मात्प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणं नित्यम् ।।४८।।

अन्वयार्थः-[**हिंसायाः**] हिंसा से [**अविरमणं**] विरक्त न होने से [**हिंसा**] हिंसा होती है और [**परिणमनं**] हिंसारूप परिणमन करने से [**अपि**] भी [**हिंसा**] हिंसा [**भवति**] होती है, [**तस्मात्**] इसलिये [**प्रमत्तयोगे**] प्रमाद के योग में [**नित्यं**] निरन्तर [**प्राणव्यपरोपणं**] प्राणघात का सद्भाव है ।

टीका:-'**हिंसाया अविरमणं हिंसा, परिणमनं अपि भवति हिंसा**'- हिंसा के त्यागभाव का अभाव हिंसा है और हिंसारूप परिणमन करने से भी हिंसा होती है ।

परजीव के घातरूप हिंसा दो प्रकार की है - एक अविरमणरूप और एक परिणमनरूप ।

१. **अविरमणरूप हिंसा**:-जिस काल जीव परजीव के घात में तो प्रवर्तन न कर रहा हो, अपितु किसी अन्य कार्य में प्रवर्त रहा हो, परन्तु हिंसा का त्याग न किया हो, उसका उदाहरण:-जैसे किसी के हरितकाय का त्याग नहीं है और वह किसी समय हरितकाय का भक्षण भी नहीं करता है, वैसे ही किसी के हिंसा का त्याग तो नहीं है और वह किसी सयय हिंसा में प्रवर्तन भी नही करता; परन्तु अन्तरङ्ग में हिंसा करने के अस्तित्वभाव का नाश नहीं किया, इसको **अविरमणरूप हिंसा** कहते हैं ।

२. **परिणमनरूप हिंसा**:-जिस समय जीव परजीव के घात में मन से, वचन से अथवा काय से प्रवर्तन करे, उसे परिणमनरूप कहते हैं ।

यह हिंसा के दो भेद कहे । इन दोनों भेदों में प्रमादसहित योग का अस्तित्व है । '**तस्मात् प्रमत्तयोगे नित्यं प्राणव्यपरोपणं**' - इसलिए प्रमाद-

सहित योग में सदाकाल परजीव की अपेक्षा भी प्राणघात का सद्भाव आया। इसका अभाव तो तभी हो सकता है, जब यह जीव परहिंसा का त्याग करके प्रमादरूप न परिणमे। जबतक प्रमाद पाया जाता है, तबतक हिंसा का अभाव तो किसी भी प्रकार नहीं हो सकता।

प्रश्न:—यदि अपने प्रमादरूप परिणामों से ही हिंसा उत्पन्न होती है, तो बाह्य परिग्रहादि का त्याग किसलिए कराया जाता है? उसका उत्तर आगे कहते हैं :—

सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंसः।
हिंसायतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या ॥४९॥

अन्वयार्थ:—[**खलु**] निश्चय से [**पुंसः**] आत्मा के [**परवस्तुनिबन्धना**] परवस्तु के कारण से उत्पन्न हो – ऐसी [**सूक्ष्मांहिसा अपि**] सूक्ष्म हिंसा भी [**न भवति**] नही होती, [**तदपि**] तो भी [**परिणामविशुद्धये**] परिणामों की निर्मलता के लिये [**हिंसायतननिवृत्तिः**] हिंसा के स्थानरूप परिग्रहादि का त्याग [**कार्या**] करना उचित है।

टीका: – **'खलु पुंसः परवस्तुनिबन्धना सूक्ष्मापि हिंसा न भवति'** - निश्चय से आत्मा के परवस्तु के कारण से उत्पन्न हो – ऐसी रंचमात्र भी हिंसा नहीं होती।

परिणामों की अशुद्धता के बिना परवस्तु के निमित्त से अंशमात्र भी हिंसा का दोष नही लगता। यद्यपि निश्चय से तो ऐसा ही है, **'तदपि परिणामविशुद्धये हिंसायतननिवृत्तिः कार्या'** – तथापि परिणामों की निर्मलता के लिए हिंसा के स्थानरूप परिग्रहादि का त्याग अवश्य करना चाहिए।

भावार्थ:—जो भी परिणाम होता है, वह किसी वस्तु का अवलम्बन पाकरके ही होता है। यदि सुभट की माता के सुभट पुत्र विद्यमान हो, तब तो ऐसे परिणाम होते हैं कि 'मैं सुभट को मारूँ,' परन्तु जो बांझ है और जिसके पुत्र ही नहीं है, तो ऐसे परिणाम कैसे उत्पन्न हो सकते हैं कि 'मैं वन्ध्या के पुत्र को मारूँ'; इसलिये यदि बाह्य परिग्रहादि का निमित्त हो, तब तो उनका अवलम्बन पाकर कषायरूप परिणाम होते हैं; परन्तु यदि परिग्रहादि का त्याग कर दिया हो, तब निमित्त के बिना - अवलम्बन के बिना किस तरह परिणाम उत्पन्न हों? अतः अपने परिणामों की शुद्धता के लिये बाह्यकारणरूप परिग्रहादि का त्याग भी करना चाहिये।

आगे एक पक्षवाले का निषेध करते हैं:—

निश्चयमबुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते ।
नाशयति करणचरणं स बहिः करणालसो बालः ।।५०।।

अन्वयार्थः—[**यः**] जो जीव [**निश्चयं**] यथार्थ निश्चय स्वरूप को [**अबुध्यमानः**] न जानकर [**तमेव**] उसे ही [**निश्चयतः**] निश्चय श्रद्धा से [**संश्रयते**] अंगीकार करता है, [**स**] वह [**बालः**] मूर्ख [**बहिः करणालसः**] बाह्य क्रिया में आलसी है और [**करणचरणं**] बाह्यक्रिया-रूप आचरण का [**नाशयति**] नाश करता है ।

टीका:— **'यः निश्चयं अबुध्यमानः निश्चयतः तमेव संश्रयते सः बाल. करणचरणं नाशयति'** — जो जीव निश्चय के यथार्थ स्वरूप को तो जानते नहीं और बिना जाने मात्र निश्चय के श्रद्धान से अन्तरंग हिंसा को ही हिंसा जानकर अंगीकार करते हैं, वे अज्ञानी दया के आचरण को नष्ट करते हैं ।

जो कोई केवल निश्चय का श्रद्धानी हकर यह कहता है कि, 'यदि मैं परिग्रहादि रखूँ अथवा भ्रष्टाचाररूप प्रवर्तन करूँ तो इससे क्या हुआ ? मेरे परिणाम ठीक होना चाहिए' — ऐसा कहकर जो स्वच्छन्द प्रवर्तन करता है, उस जीव ने दया के आचरण का नाश किया, वह बाह्य में तो निर्दय हुआ ही तथा अन्तरङ्ग निमित्त पाकर परिणाम अशुद्ध होते है, इसलिए अन्तरङ्ग की अपेक्षा भी निर्दय हुआ । कैसा है वह जीव ? बाह्य द्रव्यरूप अन्य जीव की दया में आलसी है, प्रमादी है अथवा इसी सूत्र का अन्य प्रकार से भी अर्थ करते हैं - **'यः निश्चयं अबुध्यमानः तमेव निश्चयतः संश्रयते सः बालः करुणा आचरण नाशयति'** — जो जीव निश्चय के स्वरूप को न जानकर व्यवहाररूप बाह्य परिग्रहादि के त्याग को ही निश्चय से मोक्षमार्ग जानकर अंगीकार करता है, वह जीव शुद्धोपयोगरूप आत्मा की दया का नाश करता है ।

जो जीव निश्चयनय के स्वरूप को तो जानता नहीं और केवल व्यवहारमात्र बाह्य परिग्रहादि का त्याग करता है, उपवासादिक को अंगीकार करता है, इसप्रकार बाह्य वस्तु में हेय-उपादेय बुद्धि से प्रवर्त्तन करता है, वह जीव अपने स्वरूप अनुभवरूप शुद्धोमयोगमय अहिंसा धर्म का नाश करता है । कैसा है वह जीव ? **'बहिः करुणालसः'** उद्यम से उसने अशुभपयोग का तो त्याग किया है, परन्तु बाह्य परजीव की दयारूप

धर्म के साधन में ही आलसी होकर बैठा है और शुद्धोपयोग भूमिका में चढ़ने का उद्यम नहीं करता, इसप्रकार एकान्तपक्षवाले का निषेध किया।

आगे द्रव्यहिंसा और भावहिंसा की अपेक्षा से भिन्न भिन्न प्रकार के भंग बताते हैं, उसके आठ सूत्र कहते हैं:-

अविधायापि हि हिंसा हिंसाफलभाजनं भवत्येकः ।
कृत्वाप्यपरो हिंसा हिंसाफलभाजनं न स्यात् ।।५१।।

अन्वयार्थः—[**हि**] निश्चय से [**एकः**] एक जीव [**हिंसा**] हिंसा [**अविधाय अपि**] न करते हुए भी [**हिंसाफलभाजनं**] हिंसा के फल को भोगने का पात्र [**भवति**] बनता है और [**अपरः**] दूसरा [**हिंसा कृत्वा अपि**] हिंसा करके भी [**हिंसाफलभाजनं**] हिंसा के फल को भोगने का पात्र [**न स्यात्**] नही होता।

टोका:—'**हि एकः हिंसा अविधाय अपि हिंसाफलभाजनं भवति**' - निश्चय से कोई एक जीव हिंसा न करने पर भी हिंसा के फल को भोगने का पात्र बनता है।

किसी जीव ने बाह्य हिंसा तो नहीं की है; परन्तु प्रमादभावरूप से परिणमन किया है, इसकारण वह जीव उदयकाल में हिंसा के फल को भोगता है। '**अपर हिंसा कृत्वा अपि हिंसाफलभाजनं न स्यात्**' - दूसरा कोई जीव हिंसा करके भी हिंसा के फल को भोगने का पात्र नहीं होता। किसी जीव ने शरीर सम्बन्ध से बाह्य हिंसा तो उत्पन्न की है, परन्तु प्रमादभावरूप परिणमन नहीं किया; अतः वह जीव हिंसा के फल का भोक्ता नही होता।

एकस्याल्पा हिंसा ददाति काले फलमनल्पम् ।
अन्यस्य महाहिंसा स्वल्पफला भवति परिपाके ।।५२।।

अन्वयार्थः - [**एकस्य**] एक जीव को तो [**अल्पा**] थोड़ी [**हिंसा**] हिंसा [**काले**] उदयकाल में [**अनल्पम्**] बहुत [**फलं**] फल को [**ददाति**] देती है और [**अन्यस्य**] दूसरे जीव को [**महाहिंसा**] महान हिंसा भी [**परिपाके**] उदयकाल में [**स्वल्पफला**] अत्यन्त थोड़ा फल देनेवाली [**भवति**] होती है।

टोका: - '**एकस्य अल्पा हिंसा काले अनल्पं फलं ददाति**' - किसी एक जीव को थोड़ी भी हिंसा उदयकाल में बहुत फल देती है।

किसी जीव ने बाह्य हिंसा तो थोड़ी की परन्तु प्रमादी होकर कषायरूप बहुत परिणमन किया; इसलिये उदयकाल में हिंसा का फल बहुत पाता है। **'अन्यस्य महाहिंसा परिपाके स्वल्पफला भवति'** – अन्य किसी जीव की बड़ी हिंसा उदयकाल में थोड़े ही फल को देनेवाली होती है।

किसी जीव ने कारणवश बाह्य हिंसा तो बहुत की; परन्तु उस क्रिया में उदासीन रहा, कषाय थोड़ी की, इसलिए उदयकाल में हिंसा का फल भी थोड़ा ही प्राप्त करता है।

एकस्य सैव तीव्रं दिशति फलं सैव मन्दमन्यस्य।
व्रजति सहकारिणोरपि हिंसा वैचित्र्यमत्र फलकाले ॥५३॥

अन्वयार्थः—[**सहकारिणोः अपि हिंसा**] एक साथ मिलकर की हुई हिंसा भी [**अत्र**] इस [**फलकाले**] उदयकाल में [**वैचित्र्यम्**] विचित्रता को [**व्रजति**] प्राप्त होती है और [**एकस्य**] किसी एक को [**सा एव**] वही हिंसा [**तीव्रं**] तीव्र [**फलं**] फल [**दिशति**] दिखलाती है और [**अन्यस्य**] किसी दूसरे को [**सा एव**] वही [**हिंसा**] हिंसा [**मन्दम्**] तुच्छ फल देती है।

टीकाः—**'सहकारिणोः अपि हिंसा अत्र फलकाले वैचित्र्यं व्रजति'** - दो पुरुषों के द्वारा एक साथ मिलकर की गई हिंसा फल के समय विचित्र रूप – अनेक प्रकारता को प्राप्त होती है, वही कहते हैं – **'एकस्य सैव तीव्रं दिशति'** - एक पुरुष को तो वही हिंसा तीव्र फल को देती है, **'अन्यस्य सा एव मन्दं फलं दिशति'** - दूसरे जीव को वही हिंसा मन्दफल को देती है।

भावार्थः--दो पुरुषों ने बाह्य हिंसा तो एक साथ की; परन्तु उस कार्य में जिसने तीव्रकषाय से हिंसा की, उसके आसक्तता अधिक होने से उदयकाल में तीव्रफल होता है, जिसके मन्दकषाय से आसक्तता विशेष नहीं हुई, उसे उदयकाल में मन्दफल प्राप्त होता है।

प्रागेव फलति हिंसा क्रियमाणा फलति फलति च कृता अपि।
आरम्य कर्तुमकृतापि फलति हिंसानुभावेन ॥५४॥

अन्वयार्थः--[**हिंसा**] कोई हिंसा [**प्राक् एव**] पहले ही [**फलति**] फल देती है, कोई [**क्रियमाणा**] करते-करते [**फलति**] फल देती है, कोई [**कृता अपि**] कर लेने के बाद [**फलति**] फल देती है [**च**] और कोई

[कर्तुम् आरम्य] हिंसा करते का आरम्भ करके **[अकृता अपि]** न किये जाने पर भी **[फलति]** फल देती है। इसी कारण **[हिंसा]** हिंसा **[अनुभावेन]** कषायभाव अनुसार ही **[फलति]** फल देती है।

टीका:—'च हिंसा प्राक् एव फलति' – कोई हिंसा पहले फल देती है। किसी जीव ने हिंसा का विचार किया था, परन्तु वह तो नहीं बन सकी किन्तु, उस विचार से जो कर्म बांधा था, उसका फल उदय में आया; तत्पश्चात् हिंसा का जो विचार किया था, वह कार्य भी बाह्य में बन गया, इसतरह हिंसा पहले ही फल देती है।

'क्रियमाणा फलति' – तथा कोई हिंसा करते समय ही फल देती है। किसी ने हिंसा का विचार किया और उससे जो कर्म बन्ध किया, वह कर्म जिस समय उदय में आया, उसी समय विचारानुसार बाह्य हिंसा बन गई – इसतरह हिंसा करते हुए ही उसका फल प्राप्त होता है।

'कृता अपि च फलति' – तथा कोई हिंसा करने के बाद फल देती है। किसी ने हिंसा का विचार किया और विचार अनुसार बाह्य हिंसा भी कर ली, परन्तु उसका फल बाद में उदय में आया - इस भाँति कर लेने के बाद में हिंसा फलित हुई।

'हिंसा कर्तुम् आरम्य अपि फलति' - किसी ने हिंसा करने की शुरुआत की; परन्तु बाद में नहीं की, तो भी वह फलित होगी। कोई जीव हिंसा का विचार करके हिंसा करने में उद्यमी हुआ, किन्तु बाद में कारणवश हिंसा नहीं की, ऐसी हिंसा भी फल देती है।

इसप्रकार फल होने का कारण कहते हैं। **'अनुभावेन'** —कषायभाव अनुसार फल होता है। यही पद अगले सूत्रों में भी 'देहली दीपक न्याय' की तरह सर्वत्र जान लेना, इसलिए मध्य में कहा है।

एकः करोति हिंसां भवन्ति फलभागिनो बहवः।
बहवो विदधति हिंसां हिंसाफलभुग् भवत्येकः ॥५५॥

अन्वयार्थः—[एकः] एक पुरुष **[हिंसां]** हिंसा **[करोति]** करता है, परन्तु **[फलभागिनः]** फल भोगने वाले **[बहवः]** बहुत **[भवन्ति]** होते हैं। इसी तरह **[हिंसां]** हिंसा **[बहवः]** अनेक पुरुष **[विदधति]** करते हैं,

परन्तु *[हिंसाफलभुक्]* हिंसा का फल भोगने वाला *[एकः]* एक ही पुरुष *[भवति]* होता है।

टीकाः—'हिंसां एकः करोति फलभागिनः बहवः भवन्ति' – कहीं हिंसा तो एक पुरुष करता है और फल भोक्ता अनेक होते हैं। उसका उदाहरणः–चोर को (फांसीकी शिक्षामें) मारता तो एक चाण्डाल ही है; परन्तु सर्व दर्शक रौद्र परिणाम करके पाप के भोक्ता होते हैं। **'हिंसां बहवः विदधति एकः हिंसाफलभुक् भवति'** – कहीं हिंसा तो बहुत पुरुष करते हैं, परन्तु हिंसा का फल भोक्ता एक ही पुरुष होता है। उसका उदाहरणः–संग्राम में हिंसा तो बहुत पुरुष करते हैं; परन्तु राजा स्वामित्वबुद्धि से उस हिंसा का प्रेरक होता है, अतः वही सर्व हिंसा के फल का भोक्ता होता है।

कस्यापि दिशति हिंसा हिंसाफलमेकमेव फलकाले।
अन्यस्य सैव हिंसा दिशत्यहिंसाफलं विपुलं ॥५६॥

हिंसाफलमपरस्य तु ददात्यहिंसा तु परिणामे।
इतरस्य पुनर्हिंसा दिशत्यहिंसाफलं नान्यत् ॥५७॥

अन्वयार्थः—[**कस्यापि**] किसी पुरुष को तो [**हिंसा**] हिंसा [**फलकाले**] उदयकाल में [**एकमेव**] एक ही [**हिंसाफलं**] हिंसा का फल [**दिशति**] देती है और [**अन्यस्य**] दूसरे किसी पुरुष को [**सैव**] वही [**हिंसा**] हिंसा [**विपुलं**] बहुत [**अहिंसा फलं**] अहिंसा का फल [**दिशति**] देती है [**तु अपरस्य**] और अन्य किसी को [**अहिंसा**] अहिंसा [**परिणामे**] उदयकाल में [**हिंसाफलं**] हिंसा का फल [**ददाति**] देती है [**तु पुनः**] तथा [**इतरस्य**] दूसरे किसी को [**हिंसा**] हिंसा [**अहिंसाफलं**] अहिंसा का फल [**दिशति**] देती है, [**अन्यत् न**] अन्य नहीं।

टीकाः—'तु अपरस्य अहिंसा परिणामे हिंसाफलं ददाति' – किसी जीव को अहिंसा, उदय के परिणाम में, हिंसा का फल देती है। किसी जीव को अन्तरङ्ग में तो किसी जीव का बुरा करने का परिणाम है, परन्तु बाह्य में उसे विश्वास दिलाने के लिए भला करता है अथवा बुरा करे, तो भी उसके पुण्य के उदय से इसके निमित्त से उसका भला हो जाता है। वहाँ बाह्य में तो उसकी दया की, परन्तु अन्तरङ्ग में हिंसा के परिणाम होने से हिंसा के फल को पाता है।

पुनः **'इतरस्य हिंसा अहिंसाफलं दिशति, अन्यत् न'** – अन्य किसी जीव को हिंसा, अहिंसा के फल को देती है, अन्य फल नहीं। किसी के अन्तरङ्ग में दयाभाव है और वह यत्नपूर्वक किसी दुखी जीव को देखकर उसके दुख निवारण में प्रयत्नवान है, फिर भी यदि उसे तत्काल कष्ट हो जाय अथवा यत्न करते हुए भी इसके निमित्त से उस दुःखी जीव का प्राणघात हो जाय, वहाँ यद्यपि बाह्य में तो उसकी हिंसा ही हुई; परन्तु अन्तरङ्ग परिणाम से वह अहिंसा के फल को प्राप्त करता है।

इतिविविधभभंगगहने सुदुस्तरे मार्गमूढदृष्टीनाम् ।
गुरवो भवन्ति शरण प्रबुद्धनयचक्रसञ्चाराः ।।५८।।

अन्वयार्थः—[**इति**] इस प्रकार [**सुदुस्तरे**] अत्यन्त कठिनता से पार हो सकनेवाले [**विविधभङ्गगहने**] अनेक प्रकार के भंगों से युक्त *गहन वन में* [***मार्गमूढदृष्टीनाम्***] *मार्ग भूले हुए पुरुष को* [**प्रबुद्धनयचक्र-सञ्चाराः**] अनेक प्रकार के नयसमूह के ज्ञाता [**गुरवः**] श्रीगुरु ही [**शरणं**] शरण [**भवन्ति**] होते हैं।

टीकाः—'इति सुदुस्तरे विविधभङ्गगहने मार्गमूढदृष्टीनां गुरवः शरणं भवन्ति' – इसप्रकार सुगमपने जिसका पार नहीं पाया जा सकता - ऐसे अनेक प्रकार के भंगरूप गहन वन में सत्यश्रद्धानस्वरूप मार्ग में जिसकी दृष्टि भ्रमित हो गई है, उसके लिए श्रीगुरु ही शरण हैं; उनके द्वारा ही सत्यमार्ग का स्वरूप जाना जा सकता है। 'कैसे हैं श्री गुरु ? **'प्रबुद्धनयचक्रसञ्चाराः'** – जिन्होंने अनेक प्रकार के नयसमूह का प्रवर्तन जाना है और सर्व नयों को समझाने में समर्थ है।

अत्यन्तनिशितधारं दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रम् ।
खण्डयति धार्यमाणं मूर्धानं झटिति दुर्विदग्धानाम् ।।५९।।

अन्वयार्थः—[**जिनवरस्य**] जिनेन्द्र भगवान का [**अत्यन्तनिशित-धारं**] अत्यन्त तीक्ष्ण धारवाला और [**दुरासदं**] दुःसाध्य [**नयचक्रं**] नयचक्र [**धार्यमाणं**] धारण करने पर [**दुर्विदग्धानां**] मिथ्याज्ञानी पुरुषों के [**मूर्धानं**] मस्तक को [**झटिति**] तुरन्त ही [**खण्डयति**] खण्ड-खण्ड कर देता है।

भावार्थः—जैनमत का नयभेद समझना अत्यन्त कठिन है। जो कोई मूढ़ पुरुष बिना समझे नयचक्र में प्रवेश करता है, वह लाभ के बदले हानि उठाता है।

इसप्रकार हिंसा के भंग कहे।

अब हिंसा के त्याग का उपदेश देते हैं:—

अवबुध्य हिंस्यहिंसकहिंसाहिंसाफलानि तत्त्वेन।
नित्यमवगूहमानैर्निजशक्त्या त्यज्यतां हिंसा ॥६०॥

अन्वयार्थः—[**नित्यं**] निरन्तर [**अवगूहमानैः**] संवर में उद्यमी पुरुषों को [**तत्त्वेन**] यथार्थ रीति से [**हिंस्यहिंसकहिंसाहिंसाफलानि**] हिंस्य, हिंसक, हिंसा और हिंसा का फल [**अवबुध्य**] जानकर [**निजशक्त्या**] अपनी शक्ति प्रमाण [**हिंसा**] हिंसा [**त्यज्यतां**] छोड़नी चाहिए।

टीका:—**'नित्यं अवगूहमानैः निजशक्त्या हिंसा त्यज्यताम्'** – संवर में उद्यमी जीवों को सदैव अपनी शक्ति से हिंसा का त्याग करना चाहिए, जितनी हिंसा छूट सके उतनी छोड़ना चाहिए। किस प्रकार? **'तत्त्वेन हिंस्य हिंसक हिंसा हिंसाफलानि अवबुध्य'** – यथार्थरीति से **हिंस्य, हिंसक, हिंसा, और हिंसाका फल** – इन चार भावों को जानकर हिंसा का त्याग करना उचित है। इन्हें जाने बिना त्याग होता नहीं है और यदि किया भी गया हो, तो कार्यकारी नहीं है।

उन चारों का स्वरूप कहते हैं:—

१. **हिंस्यः**—जिसकी हिंसा हो उसे हिंस्य कहते हैं। अपने भावप्राण अथवा द्रव्यप्राण तथा परजीव के भावप्राण या द्रव्यप्राण यह हिंस्य के भेद हैं अथवा एकेन्द्रियादि जीवसमास के भेद जानना अथवा जहाँ-जहाँ जीव के उत्पन्न होने के स्थान है, वह जानना चाहिए। उनका यथास्थान वर्णन होता ही है।

२. **हिंसकः**—हिंसा करनेवाले जीव को हिंसक कहते हैं, वहाँ प्रमादभावरूप से परिणमन करनेवाले अथवा अयत्नाचार में प्रवर्तन करनेवाले जीव को हिंसक जानना।

३. **हिंसाः**—हिंस्य को पीड़ा पहुंचाना अथवा उसका घात करना हिंसा हैं। उसका वर्णन पहले कर चुके हैं।

४ हिंसाफलः—हिंसा से जो कुछ फल प्राप्त हो, उसे हिंसाफल कहते हैं। इस लोक में तो हिंसक जीव निन्दा पाते हैं, राजा द्वारा दण्ड प्राप्त करते हैं और जिसकी यह हिंसा करना चाहता है; यदि उसका वश चले, तो वही इसका घात कर डालता है तथा परलोक में नरकादि गति पाता है, वहाँ नाना प्रकार के छेदन-भेदनादि शारीरिक, तथा अनेक प्रकार के मानसिक कष्ट भोगता है। नरक का वर्णन कोई कहाँ तक लिखे ? सर्व दुःखों का समुदाय ही है। तिर्यंचादि का दुःख प्रत्यक्ष ही ही प्रतिभासित होता है। यह सब हिंसा का फल है।

इसप्रकार हिंस्य को जानकर स्वयं ही उसका घात न करे, हिंसक को जानकर स्वयं वैसा न बने, हिंसा को जानकर उसका त्याग करे और हिंसा का फल जानकर उससे भयभीत रहे। इसलिये यह चार भेद जानना चाहिए।

आगे जो जीव हिंसा का त्याग करना चाहते हैं, उन्हें प्रथम क्या करना चाहिये, वह कहते हैं:—

मद्यं मांसं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन।
हिंसाव्युपरतिकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव ॥६१॥

अन्वयार्थः—[**हिंसाव्युपरतिकामैः**] हिंसा के त्याग के इच्छुक पुरुषों को [**प्रथममेव**] प्रथम ही [**यत्नेन**] यत्नपूर्वक [**मद्यं**] शराब, [**मांसं**] मांस, [**क्षौद्रं**] मधु [शहद] और [**पञ्चोदुम्बरफलानि**] पांच उदुम्बर फल * [**मोक्तव्यानि**] छोड़ देना चाहिये।

टीकाः—'हिंसाव्युपरतिकामैः **प्रथमं एव यत्नेन मद्यं, मांसं, क्षौद्रं, पञ्च उदुम्बरफलानि मोक्तव्यानि**'—जो जीव हिंसा का त्याग करना चाहते हैं, उन्हें प्रथम ही यत्नपूर्वक मद्य, मांस, मधु और पांच उदुम्बरफल ये आठ वस्तुएँ त्याग करने योग्य हैं।

वहाँ प्रथम ही मद्यके दोषको कहते हैं:—

मद्यं मोहयति मनो मोहितचित्तस्तु विस्मरति धर्मम्।
विस्मृतधर्मा जीवो हिंसामविशङ्कमाचरति ॥६२॥

---

* पांच उदुम्बर फलों के नाम — बड़, पीपल अर्थात् गूलरके फल, पाकर, ऊमर, कठूमर [फणस] के फल (अंजीर भी ऊमर फल में या कठूमर में समझना)।

अन्वयार्थः—[**मद्यं**] मदिरा [**मनो मोहयति**] मन को मोहित करती है और [**मोहितचित्तः**] मोहितचित्त पुरुष [**तु**] तो [**धर्मम्**] धर्म को [**विस्मरति**] भूल जाता है तथा [**विस्मृतधर्मा**] धर्म को भूला हुआ [**जीवः**] जीव [**अविशङ्कम्**] निःशंक – निडर होकर [**हिंसां**] हिंसा का [**आचरति**] आचरण करता है।

टीकाः—'**मद्यं मनः मोहयति**' – मदिरा मन को मोहित करती है, मदिरा पीने के बाद कुछ होश नहीं रहता। '**तु मोहितचित्तः धर्मं विस्मरति**' – और मोहित चित्तवाला मनुष्य धर्म को भूल जाता है। खबर बिना धर्म को कौन संभाले ? '**विस्मृतधर्मा जीवः अविशङ्कम् हिंसां आचरति**' – धर्म को भूला हुआ जीव निःशंक होकर बेधड़क हिंसा का आचरण करता है। धर्म की खबर न होने से हिंसा करने में किसका डर करे ? इसलिए मदिरा हिंसा का परम्परा कारण है।

आगे मदिरा को हिंसा का साक्षात् कारण बताते हैं:—

रसजानां च बहूनां जीवानां योनिरिष्यते मद्यम् ।
मद्यं भजतां तेषां हिंसा संजायतेऽवश्यम् ।।६३।।

अन्वयार्थः—[**च**] और [**मद्यं**] मदिरा [**बहूनां**] बहुत [**रसजानां जीवानां**] रस से उत्पन्न हुए जीवों का [**योनिः**] उत्पत्ति स्थान [**इष्यते**] माना जाता है, इसलिए जो [**मद्यं**] मदिरा का [**भजतां**] सेवन करता है, उसके [**तेषां**] उन जीवों की [**हिंसा**] हिंसा [**अवश्यम्**] अवश्य ही [**संजायते**] होती है।

टीकाः—'**च मद्यं बहूनां रसजानां जीवानां योनिः इष्यते**' – मदिरा रस से उत्पन्न हुए बहुत एकेन्द्रियादि जीवों की योनि अर्थात् उत्पत्ति स्थान है, इसलिए '**मद्यं भजतां तेषां हिंसा अवश्यं संजायते**' – जो मदिरापान करता है, उसके उन मदिरा के जीवों की हिंसा अवश्यमेव होती है। मदिरा में जो जीव पैदा हुए थे; उन सब को यह पी गया, तो हिंसा कैसे नहीं हुई ?

आगे मदिरा में भावित हिंसा बताते हैं:—

अभिमानभयजुगुप्साहास्यारतिशोककामकोपाद्याः ।
हिंसायाः पर्यायाः सर्वेऽपि च सरकसन्निहिताः ।।६४।।

अन्वयार्थः—[**च**] और [**अभिमानभयजुगुप्साहास्यारतिशोककामकोपाद्याः**] अभिमान, भय, ग्लानि, हास्य, अरति, शोक, काम, क्रोधादि, [**हिंसायाः**] हिंसा के [**पर्यायाः**] भेद हैं और [**सर्वेऽपि**] ये सभी [**सरकसन्निहिताः**] मदिरा के निकटवर्ती हैं।

टीकाः—'**च अभिमानभयजुगुप्साहास्यारतिशोककामकोपाद्याः हिंसायाः पर्यायाः सर्वे अपि सरकसन्निहिताः**'– तथा अभिमान, भय, जुगुप्सा, हास्य, अरति, शोक, काम, क्रोधादि जितने हिंसा के भेद हैं, वे सभी मदिरा के निकटवर्ती हैं। एक मदिरापान करने से वे सभी ऐसे तीव्ररूप प्रगट होते हैं कि माता के साथ भी कामक्रीड़ा करने को तैयार हो जाता है। अभिमानादि का लक्षण पूर्व में वर्णन कर चुके हैं। इसप्रकार मदिरा का प्रत्यक्ष दोष जानकर मदिरा का त्याग करना योग्य है। इसके अतिरिक्त जो अन्य मादक – नशावाली वस्तुयें हैं, उनमें भी हिंसा के भेद प्रगट होते हैं; अतः उन सबका भी त्याग करना उचित है।

आगे मांस के दोष बताते हैं:—

न विना प्राणिविघातान्मांसस्योत्पत्तिरिष्यते यस्मात्।
मांसं भजतस्तस्मात् प्रसरत्यनिवारिता हिंसा ॥६५॥

अन्वयार्थः—[**यस्मात्**] कारण कि [**प्राणिविघातात् विना**] प्राणियों का घात किए बिना [**मांसस्य**] मांस की [**उत्पत्तिः**] उत्पत्ति [**न इष्यते**] नहीं मानी जा सकती, [**तस्मात्**] इसलिए [**मांसं भजतः**] मांसभक्षी पुरुष को [**अनिवारिता**] अनिवार्यरूप से [**हिंसा**] हिंसा [**प्रसरति**] फैलती है।

टीकाः—'**यस्मात् प्राणिविघातात् विना मांसस्य उत्पत्ति न इष्यते**' - प्राणियों के – जीवों के घात किए बिना मांस की उत्पत्ति देखने में नहीं आती। मांस (द्विइन्द्रियादि) जीवों के शरीर में होता है, दूसरी जगह नहीं; अतः उनके घात करने पर ही मांस मिलता है। '**तस्मात् मांसं भजतः अनिवारिता हिंसा प्रसरति**' – इसलिए मांसभक्षी को अनिवार्य हिंसा फैलती है – लगती है। मांस खानेवाला हिंसा को कैसे नहीं करे? अवश्य करे ही करे।

आगे कोई कहे कि स्वयं जीव को न मारे तो दोष नहीं है, उससे कहते हैं:—

यद्यपि किल भवति मांसं स्वयमेव मृतस्य महिषवृषभादेः ।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रितनिगोतनिर्मथनात् ।।६६।।

अन्वयार्थः—[**यद्यपि**] यद्यपि [**किल**] यह सत्य है कि [**स्वयमेव**] अपने आप ही [**मृतस्य**] मरे हुए [**महिषवृषभादेः**] भैंस, बैल, इत्यादि का [**मांसं**] मांस [**भवति**] होता है, परन्तु [**तत्रापि**] वहाँ भी अर्थात् उस मांस के भक्षण करने में भी [**तदाश्रितनिगोतनिर्मथनात्**] उस मांस के आश्रय से रहने वाले उसी जाति के निगोदी जीवों के मन्थन से [**हिंसा**] हिंसा [**भवति**] होती है।

टीका:—'**यद्यपि किल स्वयमेव मृतस्य महिषवृषभादेः मांसं भवति तत्र अपि हिंसा भवति**' – यद्यपि प्रगटरूप से अपने आप मरे हुए भैंस, बैल वगैरह जीवों का मांस होता है, तो भी उस मांसभक्षण में भी हिंसा होती है। किस प्रकार ? '**तदाश्रित निगोद निर्मथनात्**' – स्वयं तो जीव को नहीं मारा, परन्तु फिर भी उस मांस के आश्रित जो अनन्त निगोदिया जीव रहते हैं, उनके घात करने से हिंसा होती है।

आगे मांस में निगोदी जीवों की उत्पत्ति कहते हैं:—

आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु ।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानाम् ।।६७।।

अन्वयार्थः—[**आमासु**] कच्ची [**पक्वासु**] पकी [**अपि**] तथा [**विपच्यमानासु**] पकती हुई [**अपि**] भी [**मांसपेशीषु**] मांसपेशियों में [**तज्जातीनां**] उसी जाति के [**निगोतानाम्**] सम्मूर्छन जीवों का [**सातत्येन**] निरन्तर [**उत्पादः**] उत्पादन होता है।

टीका:—'**आमास्वपि, पक्वास्वपि, विपच्यमानासु मांसपेशीषु तज्जातीनां निगोतानाम् सातत्येन उत्पादः अस्ति**' – कच्चा हो, अग्नि पर पका हुआ हो अथवा अग्नि पर पक रहा हो – ऐसे सर्व मांस के टुकड़ों में उसी जाति के अनन्त निगोदिया जीव प्रतिसमय निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं। सर्व अवस्थाओं में मांस के टुकड़ों में निरन्तर उसी मांस जैसे नए-नए अनन्त जीव उत्पन्न होते रहते हैं।

आगे मांस से हिंसा होती है - ऐसा प्रगट करते हैं:—

आमां वा पक्वां वा खादति यः स्पृशति वा पिशितपेशीम ।
स निहन्ति सततनिचितं पिण्डं बहुजीवकोटीनाम् ।।६८।।

अन्वयार्थः—[**यः**] जो जीव [**आमां**] कच्ची [**वा**] अथवा [**पक्वां**] अग्नि में पकी हुई [**पिशितपेशीम्**] मांस की पेशी को [**खादति**] खाता है [**वा**] अथवा [**स्पृशति**] छूता है, [**सः**] वह पुरुष [**सततनिचितं**] निरन्तर इकट्ठे हुए [**बहुजीवकोटीनाम्**] अनेक जाति के जीव समूह के [**पिण्डं**] पिण्ड का [**निहन्ति**] घात करता है।

टीका:—'**यः आमां वा पक्वां पिशितपेशीम् खादति वा स्पृशति सः सततनिचितं बहुजीवकोटीनाम् पिण्डं निहन्ति**' - जो जीव कच्चा अथवा अग्नि में पकाये हुए मांस के टुकड़े का भक्षण करता है अथवा हाथ वगैरह से स्पर्श करता है, वह जीव निरन्तर जिसमें अनेक जाति के जीव इकट्ठे हुए थे, उस पिण्ड का घात करता है। मांस में तो निरन्तर जीव उत्पन्न हो होकर इकट्ठे हुए थे। इसने उस मांस का भक्षण किया अथवा स्पर्श किया, इससे उन जीवों की परम हिंसा उत्पन्न हुई, अतः मांस का त्याग अवश्य करना चाहिए। जिन दूसरी वस्तुओं में भी बहुत जीवों की उत्पत्ति पाई जाती है, वे सभी वस्तुएं त्याग करने योग्य हैं।

आगे मधु के दोष बताते हैं:—

मधुशकलमपि प्रायो मधुकरहिंसात्मकं भवति लोके।
भजति मधु मूढधीको यः स भवति हिंसकोऽत्यन्तम् ॥६९॥

अन्वयार्थः—[**लोके**] इस लोक में [**मधुशकलमपि**] मधु की एक बूंद भी [**प्रायः**] बहुत करके [**मधुकरहिंसात्मकं**] मधुकर - भौंरोंको अथवा मधुमक्खियों की हिंसा स्वरूप [**भवति**] होती है, इसलिए [**यः**] जो [**मूढधीकः**] मूर्ख-बुद्धि मनुष्य [**मधु भजति**] मधु का भक्षण करता है, [**सः**] वह [**अत्यन्तं हिंसकः**] अत्यन्त हिंसा करनेवाला होता है; इसलिये सर्वथा मधु का त्याग करना योग्य है।

स्वयमेव विगलितं यो गृह्णीयाद्वा छलेन मधुगोलात्।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रयप्राणिनां घातात् ॥७०॥

अन्वयार्थः—[**यः**] जो कोई [**छलेन**] कपट से [**वा**] अथवा [**गोलात्**] मधुछत्ता में से [**स्वयमेव विगलितम्**] अपने आप टपका हुआ [**मधु**] मधु का [**गृह्णीयात्**] ग्रहण करता है [**तत्रापि**] वहाँ भी [**तदाश्रय प्राणिनाम्**] उसके आश्रयभूत जन्तुओं के [**घातात्**] घात से [**हिंसा**] [**भवति**] होती है।

आगे इस त्याग को समुच्चय रूप से कहते हैं:—

मधु मद्यं नवनीतं पिशितं च महाविकृतयस्ताः ।
वल्भ्यन्ते न व्रतिना तद्वर्णा जन्तवस्तत्र ।।७१।।

अन्वयार्थः—[**मधु**] शहद [**मद्यं**] मदिरा [**नवनीतं**] मक्खन [**च**] और [**पिशित**] मांस [**महाविकृतयः**] महान विकारों को धारण करनेवाले [**ताः**] इन चारो पदार्थों को [**व्रतिना**] व्रती पुरुष [**न वल्भ्यन्ते**] भक्षण न करे, कारण कि [**तत्र**] उन वस्तुओं में [**तद्वर्णा**] उस जाति के उसी वर्ण के धारो [**जन्तवः**] जीव रहते है ।

टीकाः – **'व्रतिना मधु मद्यं नवनीत च पिशितं ताः महाविकृतयः न वल्भ्यन्ते'** – व्रतधारी जीवों को मधु, मदिरा, मक्खन * और मांस जो बहुत विकार को धारण करनेवाले है तथा इन्हीं के समान अन्य विकारयुक्त पदार्थों का भक्षण नहीं करना चाहिए । मधु की एक बूंद भी मक्खी को हिसा से मिलती है । जो मन्दबुद्धि शहद खाते है, वे अत्यन्त हिंसक है । जो स्वयमेव टपका हुआ अथवा कपट करके मधु छत्ता मे से मधु लेते हैं, वे भी हिसक है कारण कि मधु के आश्रय रहनेवाले जीवों की हिंसा तो उस समय भी होती है । व्रती पुरुष इन वस्तुओं का भक्षण नहीं करता । किसलिये ? **'तत्र तद्वर्णाः जन्तवः'** – उस वस्तु में उसी रंगवाले बहुत जीव होते है । जैसी वह वस्तु है, वैसे ही उसमें जीव होते है । अन्य वस्तुओं के कहने से चमड़े से स्पर्शित घी, तेल, जल अथवा संधान, आचार, विष, मिट्टी इत्यादि अभक्ष्य वस्तुओं का त्याग करना योग्य है । मुख्यरूप से मद्य, मास, मधु का त्याग करवाया, तत्पश्चात् अन्य अभक्ष्य वस्तुओं के छोड़ने का उपदेश किया ।

आगे पांच उदुम्बर फल के दोष बताते हैं:—

योनिरुदुम्बरयुग्मं प्लक्षन्यग्रोधपिप्पलफलानि ।
त्रसजीवानां तस्मात्तेषां तद्भक्षणे हिंसा ।।७२।।

अन्वयार्थः—[**उदुम्बरयुग्मं**] ऊमर, कठूमर [**प्लक्षन्यग्रोधपिप्पल फलानि**] पाकर (अजीर), बड़ के फल और पीपल वृक्ष के फल

* मक्खन को दही मे से निकालने के बाद अन्तर्मुहूर्त्त मे ही तपा लेना चाहिए, अन्यथा वह अभक्ष्य हो जावेगा ।

[त्रसजीवानां] त्रस जीवों की [योनिः] खान है, [तस्मात्] इसलिए [तद्भक्षणे] उनके भक्षण में [तेषां] उन त्रस जीवों की [हिंसा] हिंसा होती है।

टीका:—'उदुम्बरयुग्मं प्लक्ष न्यग्रोध पिप्पलफलानि त्रसजीवानां योनिः' – उदुम्बर और कठूमर यह दो तथा पाकर (अंजीर), बड़ और पीपल के फल ये तीन – ये सभी त्रस जीवों की योनि हैं, इनमें उड़ते हुए जीव दिखाई पड़ते हैं। 'तस्मात् तद्भक्षणे तेषां हिंसा भवति' – अतः इन पांच वस्तुओं के भक्षण में उन त्रस जीवों की हिंसा होती है।

यदि कोई कहे कि इन पांच उदुम्बरादि फलों में त्रस जीव न हों तब तो भक्षण कर लें ? उसके लिए आगे कहते हैं:—

यानि तु पुनर्भवेयुः कालोच्छिन्नत्रसाणि शुष्काणि।
भजतस्तान्यपि हिंसा विशिष्ट रागादिरूपा स्यात् ॥७३॥

अन्वयार्थ:—[तु पुनः] और फिर [यानि] यह पांच उदुम्बर फल [शुष्काणि] सूखे हुए [कालोच्छिन्नत्रसाणि] समय बीतने पर त्रसरहित [भवेयुः] हो गए हों [तान्यपि] उनके भी [भजतः] भक्षण करनेवाले को [विशिष्टरागादिरूपा] विशेष रागादिरूप [हिंसा] हिंसा [स्यात्] होती है।

टीका:—'तु पुनः यानि शुष्काणि कालोच्छिन्नत्रसाणि भवेयुः तान्यपि भजतः हिंसा स्यात्' – फिर जो पांच उदुम्बरादिफल काल पाकर त्रस जीवरहित शुष्क हो गए हों, तो भी उन्हें खानेवाले को हिंसा होती है। कैसी हिंसा होती है ? 'विशिष्ट रागादिरूपा' – जिसमें विशेष रागभाव हुआ है, ऐसे स्वरूपवाली। जो अधिक राग न होता, तो ऐसी निन्द्य वस्तु किसलिए ग्रहण करता ? अतः जहाँ अधिक रागभाव हुआ, वही हिंसा है। जैसे किसी ने हरी वस्तु नहीं खाई, परन्तु उस वस्तु में रागभाव के सद्भाव के कारण उसे सुखाकर खाया। जो राग न हो, तो किसलिए ऐसा प्रयास करे ?

प्रश्न:—यदि सूखी हुई वस्तु में दोष है, तो अन्न क्यों खाते हैं ?

उत्तर:—अन्न निन्द्य नहीं है तथा वह तो रागभाव के बिना सहज प्रवृत्ति से सूखता है और उसका भक्षण भी पेट भरने के निमित्त किया

जाता है, अतः कुछ विशेष राग होने का कारण नहीं है। यहाँ तो विशेषरूप से रागभाव का होना ही हिंसा है - ऐसा बताया गया है।

आगे इस कथन का संकोच करते हैं:—

अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः ॥७४॥

अन्वयार्थ—[**अनिष्टदुस्तरदुरितायतनानि**] दुःखदायक, दुस्तर और पाप के स्थान [**अमूनि**] ऐसे [**अष्टौ**] आठ पदार्थों का [**परिवर्ज्य**] परित्याग करके [**शुद्धधियः**] निर्मल बुद्धिवाले पुरुष [**जिनधर्मदेशनायाः**] जैनधर्म के उपदेश के [**पात्राणि**] पात्र [**भवन्ति**] होते हैं।

टीका:—'**अनिष्ट दुस्तर दुरित आयतनानि अमूनि अष्टौ परिवर्ज्य शुद्धधियः जिनधर्मदेशनायाः पात्राणि भवन्ति**' - महादुःखदायक और सुगमता से जिनका पार न पाया जा सके - ऐसे महापाप के स्थानरूप इन आठ वस्तुओं के खाने से महापाप उत्पन्न होता है, अतः इन्हें सर्वथा छोड़कर निर्मल बुद्धिवाला होता हुआ, जैनधर्म के उपदेश का पात्र होता है। प्रथम इनका त्याग कराया जाय, तत्पश्चात् ही कोई अन्य उपदेश दिया जाय। जैसे जड़ के बिना वृक्ष नहीं होता, वैसे ही इनका त्याग किए बिना श्रावक नहीं होता, इसी कारण इनका नाम मूलगुण है।

आगे इन हिंसादिक के त्याग करने का विधान कहते हैं:—

कृतकारितानुमननैर्वाक्कायमनोभिरिष्यते नवधा।
औत्सर्गिकी निवृत्तिर्विचित्ररूपापवादिकी त्वेषा ॥७५॥

अन्वयार्थ:—[**औत्सर्गिकी निवृत्तिः**] उत्सर्गरूप निवृत्ति अर्थात् सामान्य त्याग [**कृतकारितानुमननैः**] कृत, कारित और अनुमोदनारूप [**वाक्कायमनोभिः**] मन, वचन और काय से [**नवधा**] नौ प्रकार से [**इष्यते**] माना गया है [**तु**] और [**एषा**] यह [**अपवादिकी**] अपवादरूप निवृत्ति [**विचित्ररूपा**] अनेकरूप है।

टीका:—'**औत्सर्गिकी निवृत्तिः कृतकारितानुमननैः वाक्कायमनोभिः नवधा इष्यते**' - यह उत्सर्गरूप त्याग कृत, कारित, अनुमोदन सहित मन, वचन, काय के भेद से नौ प्रकार का कहा गया है। '**तु अपवादिकी एषा विचित्ररूपा**' - और अपवादरूप त्याग अनेक प्रकार का है।

भावार्थः—हिंसादि का त्याग दो प्रकार का है। एक उत्सर्ग-त्याग और दूसरा अपवाद-त्याग। उत्सर्ग अर्थात् सामान्य, सामान्यरूप से सर्वथा त्याग करने को उत्सर्ग-त्याग कहते हैं। उसके नौ भेद हैं—मन से स्वयं करने का चिन्तवन न करे, दूसरे के द्वारा करवाने का चिन्तवन न करे और किसी ने किया हो, उसे भला न जाने। वचन से स्वयं करने के लिए न कहे, अन्य को करवाने के लिए उपदेश न दे, किसी ने किया हो, उसे भला न कहे। काय से स्वयं न करे, अन्य को हाथ इत्यादि से प्रेरित करके न करावे, किसी ने किया हो उसकी हस्तादिक से प्रशंसा न करे - ये नौ भेद हैं।

तथा अपवाद त्याग अनेक प्रकार का है। ये नौ भङ्ग बताये उनमें से कितने ही भंगों से अमुक प्रकार त्याग करे, अमुक प्रकार न करे अथवा थोड़ा या बहुत त्याग करे, इस रीति से मुझे यह कार्य करना, इस रीति से नहीं करना, इस भाँति अपवाद त्याग भिन्न-भिन्न प्रकार का है; अतः शक्य हो उस रीति से त्याग करना।

आगे हिंसा के त्याग के दो प्रकार कहते हैं:—

धर्ममहिंसारूपं संशृण्वन्तोऽपि ये परित्यक्तुम्।
स्थावरहिंसामसहास्त्रसहिंसां तेऽपि मुञ्चन्तु ॥७६॥

अन्वयार्थः—[**ये**] जो जीव [**अहिंसारूपं**] अहिंसारूप [**धर्मं**] धर्म को [**संशृण्वन्तः अपि**] भले प्रकार सुनकर भी [**स्थावर हिंसां**] स्थावर जीवों की हिंसा [**परित्यक्तुम्**] छोड़ने को [**असहाः**] असमर्थ हैं, [**ते अपि**] वे जीव भी [**त्रसहिंसां**] त्रस जीवों की हिंसा [**मुञ्चन्तु**] त्याग दें।

टीका:—**'ये अहिंसारूपं धर्मं संशृण्वन्तः अपि स्थावरहिंसां परित्यक्तुम् असहाः ते अपि त्रसहिंसां मुञ्चन्तु'** — जो जीव अहिंसा ही जिसका स्वरूप है — ऐसे धर्म का श्रवण गुरुमुख से करते हैं; परन्तु रागभाव के वश से स्थावर हिंसा छोड़ने को असमर्थ हैं, उन जीवों को भी त्रसहिंसा का त्याग तो करना ही चाहिए।

भावार्थः—हिंसा का त्याग दो प्रकार से होता है। एक तो सर्वथा त्याग है, वह मुनिधर्म में होता है, उसे अंगीकार करना चाहिये; किन्तु यदि

कषायवश सर्वथा त्याग न बन सके, तो त्रसजीवों की हिंसा का त्याग करके श्रावकधर्म को अंगीकार करना चाहिए।

यहाँ कोई त्रसजीव का स्वरूप पूछे, तो उससे कहते हैं कि संसारी जीव दो प्रकार के हैं—एक स्थावर और त्रस। जो एक स्पर्शनेन्द्रिय सहित एकेन्द्रिय जीव हैं, वे स्थावर हैं, उनके पांच भेद हैं—पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक।

जो द्वीन्द्रियादिक जीव है, उन्हें त्रस कहते हैं। उनके चार भेद हैं—स्पर्शन और रसना इन्द्रिय सहित लट, कौड़ी, शंख, गिजाई वगैरह दो इन्द्रिय जीव है। स्पर्श, जीभ और नासिका संयुक्त कोड़ी, मकोड़ा, कानखजूरा वगैरह तीन इन्द्रिय जीव है। स्पर्श, जीभ, नाक और आंख सहित मक्खी, भौरा, पतंगा इत्यादि चतुरिन्द्रिय जीव हैं। स्पर्श, जिह्वा, नासिका, नेत्र और कर्ण सहित जीव पचेन्द्रिय हैं। उनके दो भेद हैं, जिसके मन पाया जाय उसे सेनी (सज्ञी) और जिसके मन न पाया जाय उसे असैनी (असंज्ञी) कहते हैं। इनमें संज्ञी पचेन्द्रिय को छोड़कर शेष सभी तिर्यचगति के भेद है। संज्ञी पंचेन्द्रिय के चार प्रकार हैं— देव, मनुष्य, नारकी और तिर्यंच। इनमें देव—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवासी के भेद से चार प्रकार के है। मनुष्य आर्य और म्लेच्छ के भेद से दो प्रकार के है। नारकी जीव सात भूमियों की अपेक्षा से सात प्रकार के है। तिर्यंचों में मच्छादिक जलचर, वृषभादिक स्थलचर और हंसादिक नभचर ये तीन प्रकार है। त्रस-स्थावर के ये भेद जानकर इनकी रक्षा करना चाहिए।

आगे श्रावक को स्थावरहिंसा में भी स्वच्छन्दपने का निषेध करते हैं:—

स्तोकैकेन्द्रियघाताद्गृहिणां सम्पन्नयोग्यविषयाणाम्।
शेषस्थावरमारणविरमणमपि भवति करणीयम् ॥७७॥

अन्वयार्थः—[**सम्पन्नयोग्यविषयाणाम्**] इन्द्रियविषयों को न्यायपूर्वक सेवन करनेवाले [**गृहिणाम्**] गृहस्थों को [**स्तोकैकेन्द्रियघातात्**] अल्प एकेन्द्रिय के घात के अतिरिक्त [**शेषस्थावरमारणविरमणमपि**] बाकी के स्थावर (एकेन्द्रिय) जीवों के मारने का त्याग भी [**करणीयम्**] करने योग्य [**भवति**] है।

टीका:—'सम्पन्नयोग्यविषयाणां गृहिणां स्तोकैकेन्द्रियघातात् शेष-स्थावरमारणविरमणम् अपि करणीयम् भवति' – न्यायपूर्वक इन्द्रियों के विषयों को सेवन करनेवाले श्रावकों को यत्नवान होने पर भी थोड़ा एकेन्द्रिय का घात होता है, वह तो होवे; किन्तु शेष स्थावर जीवों को बिना कारण मारने का त्याग भी उसे करना योग्य है।

भावार्थ:—योग्य विषयों का सेवन करते समय सावधानी वर्तते हुए भी स्थावर की हिंसा होती है, वह तो होती ही है, परन्तु अन्य स्थावर जीव की हिंसा करने का त्याग तो करना चाहिए।

आगे इस अहिंसा धर्म का साधन करते हुए सावधान करते हैं:—

अमृतत्वहेतुभूतं परममहिंसारसायनं लब्ध्वा।
अवलोक्य बालिशानामसमञ्जसमाकुलैर्न भवितव्यम ॥७८॥

अन्वयार्थ:—[**अमृतत्वहेतुभूतं**] अमृत अर्थात् मोक्ष का कारणभूत [**परमं**] उत्कृष्ट [**अहिंसारसायनं**] अहिंसारूपी रसायन [**लब्ध्वा**] प्राप्त करके [**बालिशानां**] अज्ञानी जीवों का [**असमञ्जसम्**] असगत वर्तन [**अवलोक्य**] देखकर [**आकुलैः**] व्याकुल [**न भवितव्यम्**] नहीं होना चाहिये।

टीका:—'अमृतत्वहेतुभूतं परमम् अहिंसा रसायनं लब्ध्वा बालिशानां असमञ्जसम् अवलोक्य आकुलैः न भवितव्यम्' – मोक्ष का कारणभूत उत्कृष्ट अहिंसारूपी रसायन प्राप्त करके अज्ञानी जीवों का मिथ्यात्वभाव देखकर व्याकुल नहीं होना चाहिए।

भावार्थ:—आप तो अहिंसा धर्म का साधन करता है और कोई मिथ्यादृष्टि अनेक युक्तियों से हिंसा को धर्म ठहराकर उसमें प्रवर्त्तन करे, तो उसकी कीर्ति देखकर स्वय को धर्म में आकुलता उत्पन्न नहीं करना चाहिए अथवा कदाचित् आपके तो पूर्वबद्ध बहुत पाप के उदय से असाता उत्पन्न हुई हो और उसके तो बहुत पूर्व पुण्य के उदय से किंचित् साता उत्पन्न हुई हो, तो भी अपने को उदयावस्था का विचार करके धर्म में आकुलता नहीं करना चाहिए।

आगे मिथ्यादृष्टि युक्ति से हिंसा में धर्म ठहराता है, उसको बारह सूत्रों में प्रगट करके श्रद्धालु श्रावक को सावधान करते हैं:—

सूक्ष्मो भगवद्धर्मो धर्मार्थं हिंसने न दोषोऽस्ति ।
इति धर्ममुग्धहृदयैर्न जातु भूत्वा शरीरिणो हिंस्याः ॥७९॥

अन्वयार्थः—[**भगवद्धर्मः**] भगवान का कहा हुआ धर्म [**सूक्ष्मः**] बहुत बारीक है, इसलिए [**धर्मार्थं**] धर्म के निमित्त से [**हिंसने**] हिंसा करने में [**दोषः**] दोष [**नास्ति**] नहीं है – [**इति धर्ममुग्धहृदयैः**] ऐसा धर्ममूढ़ अर्थात् भ्रमरूप हृदयवाला [**भूत्वा**] होकर [**जातु**] कभी भी [**शरीरिणः**] शरीरधारी जीवों को [**न हिंस्याः**] नहीं मारना चाहिए ।

टीकाः—**'भगवद्धर्मः सूक्ष्मः'** – ज्ञानसहित धर्म सूक्ष्म है, अतः **'धर्मार्थं हिंसने दोषः न अस्ति'** – धर्म के निमित्त से हिंसा करने में दोष नहीं है; **'इति धर्ममुग्धहृदयैः भूत्वा शरीरिणः जातु न हिंस्याः'** – इसप्रकार धर्म में जिनका चित्त भ्रमरूप हुआ है, ऐसे होकर प्राणियों को कभी भी मत मारो ।

भावार्थः—कोई अज्ञानी कहता है कि दूसरी जगह तो हिंसा करना पाप है, परन्तु यज्ञादि में धर्म के निमित्त से तो हिंसा करने में कोई दोष नहीं है – इस श्रद्धान के साथ हिंसा मे प्रवर्तन करना योग्य नहीं है । जहाँ हिंसा है, वहाँ कभी भी धर्म नही होता है ।

प्रश्नः—जैनमत में मन्दिर बनवाना, पूजाप्रतिष्ठा आदि करना कहा है, वहाँ धर्म है कि नहीं ?

उत्तरः—मन्दिर, पूजा, प्रतिष्ठादि कार्य में यदि जीव हिंसा होने का भय न रखे, यत्नाचार से न प्रवर्त्ते; किन्तु केवल अपनी प्रतिष्ठा और मान पोषण के लिये जैसे तैसे कार्य करे, तो वहाँ धर्म नहीं है, पाप ही है और यत्न पूर्वक कार्य करते हुए थोड़ हिंसा हो तो उस हिंसा का पाप तो हुआ; परन्तु धर्मानुराग से पुण्य संचय विशेष होता है अथवा अपना संचित धन खर्च करने से लोभकषायरूप अन्तरंग हिंसा का त्याग होता है । हिंसा का मूलकारण तो कषाय है, इसलिये तीव्रकषायरूप होकर उनको हिंसा न करने से पाप भी थोड़ा हुआ । अतः इस रीति से पूजा-प्रतिष्ठादि करे, तो पुण्यरूपी धर्म ही होता है । जैसे कोई मनुष्य धन खर्च करने के लिये धन कमाता है, तो उसे कमायी ही कहते हैं । यदि वह धन धर्म कार्य में न लगाता, तो उस धन से विषय सेवन करके महापाप उत्पन्न करता, इस दृष्टि से धर्म कार्य में अल्प सावद्य लगने पर भी नफा ही हुआ ।

जिसप्रकार मुनि एक ही नगर में रागादि (स्नेहादि) उत्पन्न होने के भय से वहाँ न ठहरकर विहार करते हैं, विहार करते हुए थोड़ी बहुत हिंसा भी होती है; परन्तु नफानुकसान का विचार करनेपर एक ही नगर में रहना योग्य नहीं है। उसी प्रकार यहाँ भी नफानुकसान का विचार करना चाहिए। एक सामान्य कथन से विशेष कथन का निषेध नहीं करना चाहिए, ऐसा ही कार्य तो आरम्भी, अव्रती और तुच्छव्रती करते हैं, अतः संक्षेप में ऐसा ही उपदेश है कि धर्म के निमित्त से हिंसा नहीं करना चाहिए।

धर्मो हि देवताभ्यः प्रभवति ताभ्यः प्रदेयमिह सर्वम्।
इति दुर्विवेककलितां धिषणां न प्राप्य देहिनो हिंस्याः॥८०॥

अन्वयार्थः—[**हि**] निश्चय से [**धर्मः**] धर्म [**देवताभ्यः**] देवों से [**प्रभवति**] उत्पन्न होता है, इसलिये [**इह**] इस लोक में [**ताभ्यः**] उनके लिये [**सर्वं**] सभी कुछ [**प्रदेयम्**] दे देना चाहिये [**इति दुर्विवेककलितां**] ऐसे अविवेक से ग्रसित [**धिषणां**] बुद्धि [**प्राप्य**] प्राप्त करके [**देहिनः**] शरीरधारी जीवों को [**न हिंस्याः**] नहीं मारना चाहिए।

टीका:—'**हि धर्मः देवताभ्यः प्रभवति**' – निश्चय से धर्म देवताओं से उत्पन्न होता है, '**इह ताभ्यः सर्वं प्रदेयम्**' – इस लोक में उन देवों के निमित्त सब कुछ दे देना चाहिए। जीवों को भी मारकर उन पर चढ़ा दो – '**इति दुर्विवेककलितां धिषणां प्राप्य देहिनः न हिंस्याः**' – ऐसी अविवेकपूर्ण बुद्धि से प्राणियों को नहीं मारना चाहिए।

भावार्थः—देव, देवी, क्षत्रपाल, काली, महाकाली, चण्डी, चामुण्डी इत्यादि के लिए हिंसा नहीं करना। परजीव के मारने से अपना भला कैसे हो सकता है ? सर्वथा नहीं हो सकता।

पूज्यनिमित्तं घाते छागादीनां न कोऽपि दोषोऽस्ति।
इति संप्रधार्य कार्यं नातिथये सत्त्वसंज्ञपनम्॥८१॥

अन्वयार्थः—[**पूज्यनिमित्तं**] पूज्य पुरुषों के लिये [**छागादीनां**] बकरा वगैरह जीवों को [**घाते**] घात करने में [**कोऽपि**] कोई भी [**दोषः**] दोष [**नास्ति**] नहीं है [**इति**] ऐसा [**संप्रधार्य**] विचारकर [**अतिथये**] अतिथि अथवा शिष्ट पुरुषों के लिए [**सत्त्वसंज्ञपनम्**] जीवों का घात [**न कार्यम्**] नहीं करना चाहिये।

टीका:—**'पूज्यनिमित्तं छागादीनां घाते कोऽपि दोषः न अस्ति'** - अपने गुरु के लिए बकरा आदि जीवों के घात में कुछ दोष नहीं है, **'इति संप्रधार्य अतिथये सत्वसंज्ञपनम् न कार्यम्'** – ऐसा सोचकर अतिथि (फकीर इत्यादि गुरु) के लिये जीवों का घात नहीं करना चाहिए।

भावार्थ:—पापी, विषयलम्पटी और जिह्वालोलुपी, जो स्वयं तथा अन्य जीवों को नरक में ले जाने के लिये तैयार है, ऐसे कुगुरुओं के लिये भी हिंसा करना उचित नहीं है। हिंसा से उनका और अपना कैसे मोक्ष हो सकता है ? अर्थात् कदापि नहीं हो सकता।

बहुसत्वघातजनितादशनाद्वरमेकसत्वघातोत्थम् ।
इत्याकलय्य कार्यं न महासत्वस्य हिंसनं जातु ॥८२॥

अन्वयार्थ:—[**बहुसत्वघातजनितात्**] बहुत से जीवों के घात से उत्पन्न हुए [**अशनात्**] भोजन की अपेक्षा [**एकसत्वघातोत्थम्**] एक जीव के घात से उत्पन्न हुआ भोजन [**वरम्**] अच्छा है – [**इति**] ऐसा [**आकलय्य**] विचारकर [**जातु**] कभी भी [**महासत्वस्य**] बड़े त्रस जीव का [**हिंसनं**] घात [**न कार्यम्**] नही करना चाहिये।

टीका:—**'बहुसत्वघातजनितात् अशनात् एक सत्वघातोत्थम् वरम्'** – बहुत जीवों के नाश से उत्पन्न हुए भोजन की अपेक्षा एक जीव के मारने से उत्पन्न किया गया भोजन उत्कृष्ट है – **'इति आकलय्य जातु महासत्वस्य हिंसनं न कार्यम्'** – ऐसा विचारकर कभी भी बड़े जीव की भी हिंसा नहीं करना चाहिये।

भावार्थ:—कोई कहे कि अन्न के आहार में तो बहुत जीव मरते हैं, इसलिये एक बडा जीव मारकर भोजन करे, तो बहुत भला - ऐसा मानकर पचेन्द्रिय जीव का घात करता है। वहाँ हिंसा तो प्राणघात से है और एकेन्द्रिय की अपेक्षा पचेन्द्रिय के द्रव्यप्राण तथा भावप्राण बहुत अधिक पाये जाते हैं। इसी कारण ऐसा उपदेश है कि बहुत एकेन्द्रिय के जीवों को मारने की अपेक्षा द्वीन्द्रिय जीव के मारने का पाप अनेक गुणा होता है, तो पंचेन्द्रिय के मारने पर क्यों न बहुत पाप होगा ? तथा द्वीन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक के जीवों के मारने मे तो मास का आहार होता है जिसका दोष पहले ही कहा जा चुका है, इसलिये ऐसा ही श्रद्धान करना उचित है।

रक्षा भवति बहूनामेकस्यैवास्य जीवहरणेन ।
इति मत्वा कर्त्तव्यं न हिंसनं हिंस्रसत्त्वानाम् ॥८३॥

अन्वयार्थः—[**अस्य**] इस [**एकस्य एव**] एक ही [**जीवहरणेन**] जीव का घात करने से [**बहूनाम्**] बहुत जीवों की [**रक्षा भवति**] रक्षा होती है – [**इति मत्वा**] ऐसा मानकर [**हिंस्रसत्वानाम्**] हिंसक जीवों की भी [**हिंसनं**] हिंसा [**न कर्त्तव्यम्**] नहीं करना चाहिये ।

टीकाः—**'अस्य एकस्य जीवहरणेन बहूनाम् रक्षा भवति'** – इस एक ही जीव के मारने से बहुत से जीवों की रक्षा होती है **'इति मत्वा हिंस्रसत्वानाम् हिंसनं न कार्यम्'** – ऐसा जानकर हिंसक जीवों का भी घात नहीं करना चाहिए ।

भावार्थः—सर्प, बिच्छू, सिंह, नाहर इत्यादि दूसरे जीवों को काटनेवाले मारनेवाले हिंसक जीवों को मार डालने से बहुत से जीव बच जाते हैं, इसलिये इनके मारने में पाप नहीं है – ऐसा श्रद्धान नहीं करना; क्योंकि इसे तो इसके कार्य का पाप लगेगा । लोक में अनेक जीव पापपुण्य उपार्जन करते हैं, उनमें इसको क्या ? वे हिंसक जीव हिंसा करते हैं, तो उसका पाप उन्हें लगता है, आप उनकी हिंसा करके क्यों पाप उपार्जन करें ?

बहुसत्त्वघातिनोऽमी जीवन्त उपार्जयन्ति गुरुपापम् ।
इत्यनुकम्पां कृत्वा न हिंसनीया शरीरिणो हिंस्राः ॥८४॥

अन्वयार्थः [**बहुसत्वघातिनः**] बहुत जीवों के घातक [**अमी**] ये जीव [**जीवन्तः**] जीवित रहेंगे तो [**गुरु पापम्**] बहुत पाप [**उपार्जयन्ति**] उपार्जित करेंगे – [**इति**] इसप्रकार की [**अनुकम्पां कृत्वा**] दया करके [**हिंस्रा शरीरिणः**] हिंसक जीवों को [**न हिंसनीयाः**] नहीं मारना चाहिये ।

टीकाः – **'बहुसत्वघातिनः अमी जीवन्तः गुरुपापं उपार्जयन्ति'** - बहुत जीवों को मारनेवाले ये पापी जीते रहेंगे, तो बहुत पाप उत्पन्न करेंगे **'इति अनुकम्पां कृत्वा हिंस्राः न हिंसनीयाः'** – इसप्रकार दया करके हिंसक जीवों को भी न मारे।

भावार्थः—शिकारी, चिड़ीमार, बाज इत्यादि जो जो हिंसक हैं, वे जीवित रहेंगे तो बहुत पाप करेंगे और अनेक जीवों को मारेंगे इसलिए

इनको मार देना चाहिए – ऐसा श्रद्धान नहीं करना; क्योंकि उनकी हिंसावृत्ति का पाप उनको ही है, अपने को क्या ? यदि हो सके, तो उनकी उस पापक्रिया को छुड़ा देना ।

बहुदुःखासंज्ञपिताः प्रयान्ति त्वचिरेण दुःखविच्छित्तिम् ।
इति वासनाकृपाणीमादाय न दुःखिनोऽपि हन्तव्याः ।।८५।।

अन्वयार्थः—[तु] और [**बहुदुःखासंज्ञपिताः**] अनेक दुःखों से पीड़ित जीव [**अचिरेण**] थोड़े ही समय में [**दुःखविच्छित्तिम्**] दुःखों का अन्त [**प्रयान्ति**] पा जावेंगे [**इति वासनाकृपाणीं**] इसप्रकार की वासना अथवा विचाररूपी तलवार [**आदाय**] लेकर [**दुःखिनः अपि**] दुःखी जीवों को भी [**न हन्तव्याः**] नहीं मारना चाहिये ।

टीकाः—'**तु बहुदुःखासंज्ञपिताः अचिरेण दुःखविच्छित्तिम् प्रयान्ति**' - ये जीव बहुत दुःख से पीड़ित हैं, अतः यदि इन्हें मार दिया जाय, तो उनका सारा दुःख दूर हो जायेगा । '**इति वासनाकृपाणीं आदाय दुःखिनः अपि न हन्तव्याः**' – ऐसी खोटी वासनारूपी तलवार ग्रहण करके दुःखी जीवों को भी नहीं मारना चाहिए ।

भावार्थः—यह जीव रोग से अथवा दरिद्रता आदि से अत्यन्त दुःखी है; यदि इसे मार दें, तो उस दुःख से वह मुक्त हो जावेगा – ऐसी श्रद्धा नहीं करना चाहिए । मनुष्य और तिर्यंच की आयु पुण्य के उदय से बडी होती है, अतः उसका छेद नही करना अथवा जैसा उसका उदय है, वैसा भोगता है, आप हिंसा करके पाप क्यों उत्पन्न करे ?

कृच्छ्रेण सुखावाप्तिर्भवन्ति सुखिनो हताः सुखिन एव ।
इति तर्कमण्डलाग्रः सुखिनां घाताय नादेयः ।।८६।।

अन्वयार्थः—[**सुखावाप्तिः**] सुख की प्राप्ति [**कृच्छ्रेण**] कष्ट से होती है, अतः [**हताः**] मारने में आए हुए [**सुखिनः**] सुखीजीव [**सुखिनः एव**] परलोक में सुखी ही [**भवन्ति**] होंगे [**इति**] – इसप्रकार [**तर्कमण्डलाग्रः**] कुतर्क की तलवार [**सुखिनां घाताय**] सुखीजीवों के घात के लिए [**न आदेयः**] अंगीकार नहीं करना चाहिए ।

टीकाः—'**कृच्छ्रेण सुखावाप्तिः**' - कष्ट से सुख की प्राप्ति होती है । '**सुखिनः हताः सुखिनः 'एव भवन्ति**' - इसलिये सुखी जीवों को मारा

जाय तो परलोक में भी सुखी ही होंगे, 'सुखिनां घाताय इति तर्कमण्डलाग्रः न आदेयः' - सुखी जीवों के घात के लिए इसप्रकार का विचार किसी को नहीं करना चाहिए ।

भावार्थः—सुख कष्ट से होता है, इसलिए इन सुखी जीवों को काशी के करवत इत्यादि रीति से मारा जाय, तो परलोक में भी वे सुखी होंगे – ऐसा श्रद्धान नहीं करना चाहिये । इसप्रकार मरने से सुखी कैसे हो सकते हैं ? सुखी तो सत्यधर्म के साधन से हो सकते हैं ।

उपलब्धिसुगतिसाधनसमाधिसारस्यभूयसोऽभ्यासात् ।
स्वगुरोः शिष्येण शिरो न कर्त्तनीयं सुधर्ममभिलषिता ।।८७।।

अन्वयार्थः—[**सुधर्मं अभिलषिता**] सत्यधर्म के अभिलाषी [**शिष्येण**] शिष्य द्वारा [**भूयसः अभ्यासात्**] अधिक अभ्यास से [**उपलब्धि सुगतिसाधनसमाधिसारस्य**] ज्ञान और सुगति करने में कारणभूत समाधि के सार को प्राप्त करनेवाले [**स्वगुरोः**] अपने गुरु का [**शिरः**] मस्तक [**न कर्त्तनीयम्**] नहीं काटना चाहिए ।

टीकाः—'**सुधर्मं अभिलषिता शिष्येण स्वगुरोः शिरं न कर्त्तनीयम्**'— धर्म के चाहनेवाले शिष्य को अपने गुरु का मस्तक नहीं काटना चाहिये । कैसे है गुरु ? '**भूयसः अभ्यासात् उपलब्धि सुगति साधन समाधिसारस्य**' - बहुत अभ्यास से जिन्होंने सुगति के कारणभूत समाधि का सार पा लिया है ।

भावार्थः—हमारा गुरु अभ्यास में लग गया है (ध्यान-समाधि में मग्न है), अभ्यास बहुत किया है, अब यदि इसके प्राणों का अन्त कर दिया जाय, तो वह उच्च पद को प्राप्त हो जायेगा - ऐसा विचार करके शिष्य को अपने गुरु का मस्तक काटना योग्य नहीं है । उसने जो साधन किया है, उसके फल को वह भविष्य में प्राप्त करेगा ही, तू हिंसा करके पाप किसलिये उत्पन्न करता है ?

धनलवपिपासितानां विनेयविश्वासनाय दर्शयताम् ।
झटितिघटचटकमोक्षं श्रद्धेयं नैव खारपटिकानाम् ।।८८।।

अन्वयार्थः—[**धनलवपिपासितानां**] थोड़े धन का लोभी और [**विनेयविश्वासनाय दर्शयताम्**] शिष्यों को विश्वास उत्पन्न करने के लिये

दर्शानेवाला [**खारपटिकानाम्**] खारपटिकों का [**झटितिघटचटकमोक्षं**] शीघ्र घड़ा फूटने से चिड़िया के मोक्ष की तरह मोक्ष का [**नैवश्रद्धेयं**] श्रद्धान नहीं करना चाहिए ।

टीका:—**'खारपटिकानाम् झटितिघटचटकमोक्षं नैव श्रद्धेयं'** – एक खारपटिक का मत है, वह तत्काल घड़े के पक्षी के मोक्षसमान मोक्ष कहता है, उसका श्रद्धान नही करना ।

कोई खारपटिक नाम का मत है, उसमें मोक्ष का स्वरूप ऐसा कहते हैं कि जिसप्रकार घड़े में पक्षी कैद है; यदि उस घड़े को फोड़ डाला जाय, तो पक्षी बन्धन-रहित मुक्त हो जाय । उसीप्रकार आत्मा शरीर में बन्द है; यदि शरीर का नाश कर दिया जाय तो, आत्मा बन्धनरहित मुक्त हो जाय – ऐसा श्रद्धान नहीं करना चाहिए; क्योंकि यह श्रद्धान हिंसा का कारण है । अन्तरग कार्माण शरीर के बन्धनरहित आत्मा इसतरह मुक्त कैसे हो सकता है ? कैसा है खारपटिक ? **'धनलवपिपासितानाम्'** - थोड़ासा धन का लोभी है तथा कैसा है ? **'विनेयविश्वासानाय दर्शयताम्'** - शिष्यों को विश्वास दिलाने के लिये कितनी ही रीतियाँ दिखलाता है; अत: इसके कथन का श्रद्धान नहीं करना ।

दृष्ट्वा परं पुरस्तादशनाय क्षामकुक्षिमायान्तम् ।
निजमांसदानरभसादालभनीयो न चात्मापि ।।८६।।

अन्वयार्थ:—[**च**] और [**अशनाय**] भोजन के लिये [**पुरस्तात्**] पास [**आयान्तम्**] आये हुए [**अपरं**] अन्य [**क्षामकुक्षिम्**] भूखे पुरुष को [**दृष्ट्वा**] देखकर [**निजमांसदानरभसात्**] अपने शरीर का मांस देने की उत्सुकता से [**आत्मापि**] अपना भी [**न अलाभनीय:**] घात नही करना चाहिए ।

टीका:—**'च अशनाय आयान्तं क्षामकुक्षिं पुरस्तात् दृष्ट्वा निजमांसदानरभसात् आत्मा अपि न आलभनीय:'** – भोजन लेने के लिए आए हुए दुर्बल उदारवाले मनुष्य को अपने समक्ष देखकर अपने मांस देने के उत्साह से - उतावली से अपने शरीर का भी घात नहीं करना ।

भावार्थ: कोई मांसभक्षी जीव भोजन के लिये अपने पास आया, उसे देखकर उसके लिये अपने शरीर का भी घात नहीं करना, कारण कि मांसभक्षी पात्र नही है, और मांस का दान उत्तम दान नही है ।

को नाम विशति मोहं नयभङ्गविशारदानुपास्यगुरून् ।
विदितजिनमतरहस्यः श्रयन्नहिंसां विशुद्धमतिः ।।९०।।

अन्वयार्थः—[**नयभङ्गविशारदान्**] नय के भङ्गों को जानने में प्रवीण [**गुरून्**] गुरुओं की [**उपास्य**] उपासना करके [**विदितजिनमत-रहस्यः**] जैनमत का रहस्य जाननेवाला [**को नाम**] ऐसा कौन [**विशुद्धमतिः**] निर्मल बुद्धिधारी है, जो [**अहिंसां श्रयन्**] अहिंसा का आश्रय लेकर [**मोहं**] मूढ़ता को [**विशति**] प्राप्त होवे ?

टीका:—**'नाम नयभङ्गविशारदान् गुरून् उपास्य कः मोहं विशति'** - हे जीव, नय के भेदों को जानने में प्रवीण गुरु की सेवा करके कौन जीव मोह को प्राप्त होगा ? अर्थात् कोई नहीं होगा ।

जीव को भले-बुरे, हित-अहित का श्रद्धान गुरु के उपदेश से होता है । पूर्वोक्त अश्रद्धानी कुगुरु के बहकाने से यह जीव अन्यथा प्रवर्त्तन करता है; परन्तु जिस जीव ने सर्व नय के ज्ञाता परम गुरु की सेवा की है, वह भला कैसे भ्रम में पड़ सकता है ? कदापि नहीं पड़ सकता । कैसा है वह जीव ? **'विदितजिनमतरहस्यः'** - जिसने जैनमत का रहस्य जान लिया है और कैसा है वह जीव ? **अहिंसां श्रयन्'** - (सर्वज्ञवीतराग-कथित) दया को ही धर्म का स्वरूप जिसने अंगीकार किया है और कैसा है ? **'विशुद्धमति'** - जिसकी बुद्धि निर्मल है, ऐसा जीव मोह को प्राप्त नहीं होता ।

इसप्रकार दया धर्म को दृढ़ करके अहिंसा व्रत का वर्णन किया ।

सत्यव्रत

यदिदं प्रमादयोगादसदभिधानं विधीयते किमपि ।
तदनृतमपि विज्ञेयं तद्भेदाः सन्ति चत्वारः ।।९१।।

अन्वयार्थः—[**यत्**] जो [**किमपि**] कुछ [**प्रमादयोगात्**] प्रमाद, कषाय के योग से [**इदं**] यह [**असदभिधानं**] स्वपर को हानिकारक अथवा अन्यथारूप वचन [**विधीयते**] कहने में आता है, [**तत्**] उसे [**अनृतं अपि**] निश्चय से असत्य [**विज्ञेयम्**] जानना चाहिए, [**तद्भेदाः चत्वारः**] उसके चार भेद [**सन्ति**] हैं ।

टीकाः—**'यत् किमपि प्रमादयोगात् इदं असत् अभिधानं विधीयते तत् अनृतं अपि विज्ञेयम्'** - जो कुछ प्रमादसहित योग के हेतु से असत्य

अर्थात् बुरा अथवा अन्यथारूप वचन है, उसे निश्चय से अनृत जानो। 'तद्भेदाः चत्वारः सन्ति' - उस असत्य वचन के चार भेद हैं।

उनमें प्रथम भेद कहते हैं:—

स्वक्षेत्रकालभावैः सदपि यस्मिन्निषिध्यते वस्तु ।
तत्प्रथममसत्यं स्यान्नास्ति यथा देवदत्तोऽत्र ॥९२॥

अन्वयार्थः—[**यस्मिन्**] जिस वचन में [**स्वक्षेत्रकालभावैः**] अपने द्रव्य, क्षेत्र काल, भाव से [**सत् अपि**] विद्यमान होने पर भी [**वस्तु**] वस्तु का [**निषिध्यते**] निषेध करने में आता है, [**तत्**] वह [**प्रथमम्**] प्रथम [**असत्यं**] असत्य [**स्यात्**] है, [**यथा**] जैसे [**अत्र**] यहाँ [**देवदत्तः**] देवदत्त [**नास्ति**] नही है।

टीका:—'**यस्मिन् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः सत् अपि वस्तु निषिध्यते तत् प्रथमं असत्यं स्यात्**' - जिस वचन में अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से सत्तारूप में विद्यमान पदार्थ का भी निषेध करने में आये कि पदार्थ नहीं है; यह प्रथम भेदरूप असत्य है। दृष्टान्त कहते हैं - '**यथा अत्र देवदत्तः नास्ति**' - जैसे यहाँ देवदत्त नहीं है।

भावार्थः—किसी क्षेत्र में देवदत्त नाम का पुरुष बैठा था, वहाँ किसी ने पूछा कि यहाँ देवदत्त है ? तो उत्तर दिया कि यहाँ देवदत्त नहीं है। इसीप्रकार अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से जो वस्तु अस्तिरूप हो, उसे नास्तिरूप कहना असत्य का प्रथम भेद है। जो कुछ वह पदार्थ है उसे 'द्रव्य', जिस क्षेत्र को रोककर तिष्ठे उसे 'क्षेत्र', जिस काल में जिस रीति से परिणमन करे उसे 'काल' तथा उस पदार्थ का जैसा कुछ निजभाव है उसे 'भाव' कहते हैं। अपने इस चतुष्टय की अपेक्षा से सर्व पदार्थ अस्तित्वरूप हैं। वहाँ देवदत्त का निजचतुष्टय तो था ही; परन्तु नास्तिरूप जो कथन हुआ, वही असत्य वचन हुआ।

आगे दूसरा भेद कहते हैं:—

असदपि हि वस्तुरूपं यत्र परक्षेत्रकालभावैस्तैः ।
उद्भाव्यते द्वितीयं तदनृतमस्मिन् यथास्ति घटः ॥९३॥

अन्वयार्थः—[**हि**] निश्चय से [**यत्र**] जिस वचन में [**तैः परक्षेत्रकालभावैः**] उन परद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से [**असत् अपि**]

अविद्यमान होने पर भी [वस्तुरूप] वस्तु का स्वरूप [उद्भाव्यते] प्रकट करने में आवे, [तत्] वह [द्वितीयं] दूसरा [अनृतम्] असत्य [स्यात्] है, [यथा] जैसे [अस्मिन्] यहाँ [घटः अस्ति] घड़ा है।

टीका:— '**हि यत्र तैः पर द्रव्यक्षेत्रकालभावैः वस्तुरूपं असत् अपि उद्भाव्यते तत् द्वितीयं अनृतं**' निश्चय से जिस वचन में परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से पदार्थ सत्तारूप नहीं है, तो भी वहाँ प्रगट करना, वह दूसरा असत्य है। उसका दृष्टान्त - '**यथा अस्मिन् घटः अस्ति**' – जैसे कि यहां घड़ा है।

भावार्थः—किसी क्षेत्र में घड़ा तो था नहीं, इसलिए उससमय उसका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव भी नहीं था, दूसरा पदार्थ था; अतः उससमय उसी का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव था। किसी ने पूछा कि यहाँ घड़ा है कि नहीं ? वहाँ घड़ा है – ऐसा कह देना दूसरे असत्य का भेद है; क्योंकि नास्तिस्वरूप वस्तु को अस्ति कहा।

आगे तीसरा भेद कहते हैं:—

वस्तु सदपि स्वरूपात् पररूपेणाभिधीयते यस्मिन् ।
अनृतमिदं च तृतीयं विज्ञेयं गौरिति यथाऽश्वः ॥९४॥

अन्वयार्थः—[**च**] और [**यस्मिन्**] जिस वचन में [**स्वरूपात्**] अपने चतुष्टय से [**सत्अपि**] विद्यमान होने पर भी [**वस्तु**] पदार्थ [**पररूपेण**] अन्य स्वरूप से [**अभिधीयते**] कहने में आता है, उसे [**इदं**] यह [**तृतीयं अनृतं**] तीसरा असत्य [**विज्ञेयं**] जानो, [**यथा**] जैसे [**गौः**] बैल को [**अश्वः**] घोड़ा है [**इति**] ऐसा कहना।

टीका:—'**च यस्मिन् सत् अपि वस्तु पररूपेण अभिधीयते इदं तृतीयं अनृतं विज्ञेयं**' -जिस वचन में यद्यपि पदार्थ अपने चतुष्टय में विद्यमान है, तथापि उस पदार्थ को अन्य पदार्थरूप से कथन किया जाय उसे तीसरा असत्य जानो। उसका उदाहरणः—'**यथा गौः अश्वः**' – जैसे बैल को घोड़ा कहना।

भावार्थः— किसी क्षेत्र में बैल अपने चतुष्टय में स्थित था, वहाँ किसी ने पूछा कि यहाँ क्या है ? तो ऐसे कहने में आया कि यहाँ घोड़ा है –इस प्रकार वस्तु को अन्यरूप कहना यह असत्य का तीसरा भेद है।

अब चौथा भेद कहते हैं:—

गर्हितमवद्यसंयुतमप्रियमपि भवति वचनरूपं यत् ।
सामान्येन त्रेधा मतमिदमनृतं तुरीयं तु ।।९५।।

अन्वयार्थः—[**तु**] और] **इदं** [यह [**तुरीयं**] चौथा [**अनृतं**] असत्य [**सामान्येन**] सामान्यरूप से [**गर्हितं**] गर्हित, [**अवद्यसंयुतम्**] पापसहित [**अपि**] और [**अप्रियं**] अप्रिय इसतरह [**त्रेधा**] तीन प्रकार का [**मतम्**] माना गया हैं, [**यत्**] जो कि [**वचनरूपं**] वचनरूप [**भवति**] है ।

टीका:—'**तु इदं तुरीयं अनृतं सामान्येन त्रेधा मतम् यत् अपि वचनरूपं गर्हितं अवद्यसंयुतं अप्रियं भवति**' — यह चौथा असत्य का भेद तीन प्रकार का है – (१) वचन से निन्दा के शब्द कहना, (२) हिंसा सहित वचन बोलना, (३) अप्रिय अर्थात् दूसरे को बुरे लगें ऐसे वचन बोलना ।

आगे इन भेदों में प्रथम ही गर्हित का स्वरूप कहते हैं:—

पैशून्यहासगर्भं कर्कशमसमञ्जसं प्रलपितं च ।
अन्यदपि यदुत्सूत्रं तत्सर्वं गर्हितं गदितम् ।।९६।।

अन्वयार्थः—[**पैशून्यहासगर्भं**] दुष्टता अथवा निन्दारूप हास्यवाला, [**कर्कश**] कठोर [**असमञ्जस**] मिथ्याश्रद्धानवाला [**च**] और [**प्रलपितं**] प्रलापरूप (**बकवाद**) तथा [**अन्यदपि**] और भी [**यत्**] जो [**उत्सूत्रं**] शास्त्रविरुद्ध वचन है, [**तत्सर्वं**] वे सभी [**गर्हितं**] निन्द्यवचन [**गदितम्**] कहे गये है ।

टीका:—'**यत् वचनं पैशून्यहासगर्भं कर्कशं असमञ्जसम् प्रलपितं च अन्यत् अपि उत्सूत्रं तत् गर्हितं गदितम्**' — जिस वचन में दुष्टता हो, अन्य जीव का बुरा करनेवाला हो, अपने को रौद्रध्यान करानेवाला हो तथा हास्यमिश्रित हो, दूसरे जीव का मर्मछेदक हो, स्वयं को प्रमादकारक हो, कर्कश – कठोर हो अर्थात् सुनने में बुरा लगे, असमंजस – मिथ्याश्रद्धा करानेवाला हो और अप्रमाणरूप हो तथा अन्य भी शास्त्रविरुद्ध वचन गर्हित वचन में गर्भित समझना ।

आगे अवद्यसंयुक्त असत्य का स्वरूप लिखते हैं:—

छेदनभेदनमारणकर्षणवाणिज्यचौर्यवचनादि ।
तत्सावद्यं यस्मात्प्राणिवधाद्याः प्रवर्तन्ते ॥९७॥

अन्वयार्थः—[**यत्**] जो [**छेदनभेदनमारणकर्षणवाणिज्यचौर्यवचनादि**] छेदन, भेदन, मारण, शोषण, व्यापार या चोरी आदि के वचन हैं [**तत्**] वे सब [**सावद्यं**] पापयुक्त वचन हैं, [**यस्मात्**] क्योंकि ये [**प्राणिवधाद्याः**] प्राणीहिंसा आदि पापरूप [**प्रवर्तन्ते**] प्रवर्तन करते हैं ।

टीका:—'**यत् छेदन भेदन मारण कर्षण वाणिज्य चौर्यवचनादि सर्वं सावद्यं अस्ति यस्मात् प्राणिवधाद्याः प्रवर्तन्ते**'—जो नाक आदि छेदने के, काटने के, मारने के, खीचने के, (हिंसक) व्यापार करने के अथवा परवस्तु की चोरी करने आदि के वचन कहने में आवें, वे सभी सावद्य (पाप) सहित झूठ का स्वरूप हैं; क्योंकि इनसे प्राणियों का घात होता है ।

भावार्थः—अवद्य का अर्थ पाप है, अतः जिस वचन से पाप की प्रवृत्ति हो, उसे सावद्य कहते हैं ।

आगे अप्रिय असत्य का स्वरूप कहते हैं:—

अरतिकरं भीतिकरं खेदकरं वैरशोककलहकरम् ।
यदपरमपि तापकरं परस्य तत्सर्वमप्रियं ज्ञेयम् ॥९८॥

अन्वयार्थः—[**यत्**] जो वचन [**परस्य**] दूसरे जीव को [**अरतिकरं**] अप्रीतिकारक [**भीतिकरं**] भयकारक [**खेदकरं**] खेदकारक [**वैर-शोककलहकरं**] वैर, शोक तथा कलहकारक हो और जो [**अपरमपि**] अन्य भी [**तापकरं**] सन्तापकारक हो [**तत्**] वह [**सर्व**] सर्व ही [**अप्रियं**] अप्रिय [**ज्ञेयम्**] जानना चाहिये ।

टीका:—'**यत् वचनं परस्य अरतिकरं भीतिकरं खेदकरं वैरशोककलहकरं तथा अपरमपि तापकरं तत्सर्वं अप्रियं ज्ञेयम्**'—जो वचन दूसरों को अरति करनेवाला अर्थात् बुरा लगनेवाला हो, भय उत्पन्न करनेवाला हो, खेद उत्पन्न करनेवाला हो तथा वैर, शोक, और कलह करनेवाला हो तथा और

भी अनेक प्रकार के दुःख उत्पन्न करनेवाला हो, वह सभी वचन अप्रिय झूठ का ही भेद है।

आगे असत्य वचन में हिंसा का सद्भाव दिखलाते हैं:—

सर्वस्मिन्नप्यस्मिन्प्रमत्तयोगैकहेतुकथनं यत् ।
अनृतवचनेऽपि तस्मान्नियतं हिंसा समवतरति ।।९९।।

अन्वयार्थः—[**यत्**] चूंकि [**अस्मिन्**] इन [**सर्वस्मिन्नपि**] सभी वचनों में [**प्रमत्तयोगैकहेतुकथनं**] प्रमाद सहित योग ही एक हेतु कहने में आया है [**तस्मात्**] इसलिये [**अनृतवचने**] असत्य वचन में [**अपि**] भी [**हिंसा**] हिंसा [**नियतं**] निश्चितरूप से [**समवतरति**] आती है।

टीका:— **'यत् अस्मिन सर्वस्मिन् अपि अनृतवचने प्रमत्तयोगैकहेतुकथनं अस्ति तस्मात् अनृतवचने हिंसा नियतं समवतरति'** इन सभी प्रकार के झूठ वचनों में प्रमादयोग ही कारण है, इसलिए झूठ वचन बोलने में हिंसा अवश्य ही होती है; कारण कि हिंसा प्रमाद से ही होती है, प्रमाद के बिना हिंसा नहीं होती। जहां प्रमाद नहीं होता, वहाँ हिंसा भी नहीं होती और जहां प्रमाद है, वहां हिंसा अवश्य होती है। तत्वार्थसूत्र में हिंसा का लक्षण **'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा'**—ऐसा कहा जाता है अर्थात् प्रमाद के योग से प्राणों का घात करना हिंसा है।

प्रमादसहित योग हिंसा का कारण है:—

हेतौ प्रमत्तयोगे निर्दिष्टे सकलवितथवचनानाम् ।
हेयानुष्ठानादेरनुवदनं भवति नासत्यम् ।।१००।।

अन्वयार्थः—[**सकल वितथवचनानाम्**] झूठ वचनों का [**प्रमत्तयोगे**] प्रमादसहित योग [**हेतौ**] हेतु [**निर्दिष्टे सति**] निर्दिष्ट करने में आया होने से [**हेयानुष्ठानादेः**] हेय—उपादेय आदि अनुष्ठानों का [**अनुवदनं**] कहना [**असत्यं**] झूठ [**न भवति**] नहीं है।

टीका:—**'सकलवितथवचनानाम् प्रमत्तयोगे हेतौ निर्दिष्टे सति हेयानुष्ठानादेः अनुवदनं असत्यं न भवति'** - समस्त झूठ वचनों का कारण प्रमादसहित योग को बताकर हेय और उपादेय का बारम्बार कथन करना झूठ नहीं है।

भावार्थ:—असत्य वचन के त्यागी महामुनि हेय और उपादेय का बारम्बार उपदेश करते हैं। वहाँ पाप की निंदा करनेपर पापी जीवों को उनका उपदेश अप्रिय लगता है अथवा कोई पापी अपने लिये दिये गये धर्मोपदेश को सुनकर दुःख पाते हैं; परन्तु उन आचार्यों को असत्य का दोष नहीं लगता; क्योंकि उनके वचन प्रमाद [कषाय] गर्भित नहीं है। प्रमादपूर्वक वचन में ही हिंसा है, इसलिये कहा है कि प्रमादसहित योग से वचन बोलना वही झूठ है, अन्यथा नहीं।

इसके (असत्य वचन के) त्याग का प्रकार कहते हैं:—

भोगोपभोगसाधनमात्रं सावद्यमक्षमा मोक्तुम् ।
ये तेऽपि शेषमनृतं समस्तमपि नित्यमेव मुञ्चन्तु ।।१०१।।

अन्वयार्थ:—[**ये**] जो जीव [**भोगोपभोगसाधन मात्रं**] भोगोपभोग के साधनमात्र [**सावद्यम्**] सावद्यवचन [**मोक्तुम्**] छोड़ने में [**अक्षमाः**] असमर्थ हैं, [**ते अपि**] वे भी [**शेषम्**] बाकी के [**समस्तमपि**] सभी [**अनृतं**] असत्य भाषरण का [**नित्यमेव**] निरन्तर [**मुञ्चन्तु**] त्याग करें।

टीका:—'**ये अपि भोगोपभोगसाधनमात्रं सावद्यम् मोक्तुम् अक्षमाः (सन्ति) ते अपि शेषं समस्तम् अपि अनृतं नित्यं एव मुञ्चन्तु**'—जो प्राणी अपने न्यायपूर्वक भोगोपभोग के कारणभूत सावद्य (हिंसासहित) वचन त्यागने में असमर्थ है, उन्हें भी अन्य समस्त झूठ वचनों का सदाकाल त्याग करना चाहिये।

भावार्थ:—झूठ का त्याग दो प्रकार का है–एक सर्वथा त्याग, दूसरा एकदेश त्याग। सर्वथा त्याग तो मुनिधर्म में ही बनता है तथा एकदेश त्याग श्रावकधर्म में होता है। जो सर्वथा त्याग बन सके, तब तो बहुत ही उत्तम है, यदि कदाचित् कयाष के उदय से (अर्थात् कषायवश) सर्वथा त्याग न बन सके, तो एकदेश त्याग तो अवश्य ही करना चाहिये; कारण कि श्रावक अवस्था में झूठ के अन्य सर्व भेदों का त्याग होता है, परन्तु सावद्य झूठ का त्याग नहीं हो सकता; किंतु वहाँ भी अपने भोगउपभोग निमित्त ही झूठ वचन – सावद्य वचन हो, परन्तु बिना प्रयोजन न बोले।

अचौर्यव्रत

तीसरे स्तेय (चौर्य) पाप का वर्णन:—

अवितीर्णस्य ग्रहणं परिग्रहस्य प्रमत्तयोगाद्यत् ।
तत्प्रत्येयं स्तेयं सैव च हिंसा वधस्य हेतुत्वात् ॥१०२॥

अन्वयार्थ:—[**यत्**] जो [**प्रमत्तयोगात्**] प्रमाद-कषाय के योग से [**अवितीर्णस्य**] बिना दिये [**परिग्रहस्य**] स्वर्णवस्त्रादि परिग्रह का [**ग्रहणं**] ग्रहण करना है [**तत्**] उसे [**स्तेयं**] चोरी [**प्रत्येयं**] जानना चाहिये [**च**] और [**सा एव**] वही [**वधस्य**] वध का [**हेतुत्वात्**] कारण होने से [**हिंसा**] हिंसा है ।

टीका:—'**यत् प्रमत्तयोगात् अवितीर्णस्य ग्रहणं तत् स्तेयं प्रत्येयं च सैव हिंसा (भवति) वधस्य हेतुत्वात्**'-प्रमाद के योग से बिना दिये हुए स्वर्ण-वस्त्रादि परिग्रह का ग्रहण करना चोरी कहलाता है । (स्वर्णादिक वस्तु को स्वामी की आज्ञा के बिना चुरा लेना, भुला देना, पड़ी हुई उठा लेना, जबरदस्ती ले लेना अथवा जिसतिस प्रकार बिना दिये ले लेना चोरी है ।) और वही चोरी हिंसा है; क्योंकि अपने तथा परजीव के प्राणघात का कारण है ।

भावार्थ:—अपने को चोरी करने का भाव हुआ, वह भावहिंसा है और जो कोई अपने को चोर जान ले तो प्राणो का वियोग करे, वही द्रव्यहिंसा है तथा जिस जीव की वस्तु चोरी गई, उसे जो अन्तरङ्ग पीड़ा हुई, वही उसकी भावहिंसा है और वस्तु के निमित्त से उस जीव के द्रव्य-प्राण पुष्ट थे, उन पुष्ट प्राणों के नाश होने से उसके द्रव्यप्राण पीड़ित हुए वही उसकी द्रव्यहिंसा है । इसप्रकार चोरी करने से चोरी करनेवाले को तथा जिसकी चोरी हुई है, उसकी द्रव्य और भाव दोनों प्रकार की हिंसायें होती हैं ।

चोरी प्रगटरूप से हिंसा है:—

अर्था नाम य एते प्राणा एते बहिश्चराः पुंसाम् ।
हरति स तस्य प्राणान् यो यस्य जनो हरत्यर्थान् ॥१०३॥

अन्वयार्थ:— [**यः**] जो [**जनः**] मनुष्य [**यस्य**] जिस जीव के [**अर्थान्**] पदार्थों अथवा धन को [**हरति**] हर लेता है, [**सः**] वह मनुष्य [**तस्य**] उस जीव के [**प्राणान्**] प्राणों को [**हरति**] हर लेता है; क्योंकि

जगतमें [ये] जो [एते] यह [अर्था नाम] धनादि पदार्थ प्रसिद्ध हैं, [एते] वे सभी [पुंसां] मनुष्य के [बहिश्चराः प्राणाः] बाह्य-प्राण [सन्ति] हैं।

टीका:—'**ये एके अर्था नाम एते पुंसाम् बहिश्चराः प्राणाः सन्ति यस्मात् यः जनः यस्य अर्थान् हरति स तस्य प्राणान् हरति**'—बाह्य जितने भी पदार्थ हैं वे मनुष्य के बाह्यप्राण हैं, इसलिए जो जीव जिस किसी का धन हरण कर लेता है, चुरा लेता है, वह उसके प्राणों का ही हरण कर लेता है।

भावार्थ:—धन, धान्य, सम्पत्ति, बैल, घोड़ा, दास, दासी, घर, जमीन, पुत्र, स्त्री, वस्त्रादि जितने भी पदार्थ जिस जीव के पास हैं उतने ही उसके बाह्यप्राण हैं। उन पदार्थों में से किसी एक भी पदार्थ का नाश होने पर अपने प्राणघात जैसा दुःख उत्पन्न होता है, इसलिये पदार्थों को ही प्राण कहा जाता है। जैसे, '**अन्नं वै प्राणः इति वचनात्**'—अन्न ही प्राण हैं, इस वचन के अनुसार।

हिंसा और चोरी में अव्यापकता नहीं, किन्तु व्यापकता है:—

हिंसायाः स्तेयस्य च नाव्याप्तिः सुघटमेव सा यस्मात्।
ग्रहणे प्रमत्तयोगो द्रव्यस्य स्वीकृतस्यान्यैः ॥१०४

अन्वयार्थ:—[**हिंसायाः**] हिंसा में [**च**] और [**स्तेयस्य**] चोरी में [**अव्याप्तिः**] अव्याप्तिदोष [**न**] नहीं है, [**सा सुघटमेव**] वह हिंसा बराबर घटित होती है, [**यस्मात्**] कारण कि [**अन्यैः**] दूसरे के द्वारा [**स्वीकृतस्य**] स्वीकृत [**द्रव्यस्य**] द्रव्य के [**ग्रहणे**] ग्रहण में [**प्रमत्तयोगः**] प्रमाद का योग है।

टीका:—'**हिंसायाः स्तेयस्य अव्याप्तिः न सा सुघटमेव यस्मात् अन्यैः स्वीकृतस्य द्रव्यस्य ग्रहणे प्रमत्तयोग भवति**' हिंसा और चोरी में अव्याप्तिपना नहीं है, बल्कि भले प्रकार व्यापकपना है; क्योंकि दूसरे जीव ने प्राप्त किये पदार्थों में अपनेपन की कल्पना करने में प्रमादयोग ही मुख्य कारण है।

भावार्थ:—यदि किसी जीव को किसी काल में (जिस समय) जहाँ चोरी है, वहाँ हिंसा न हो, तो अव्याप्तिदूषण हो सकता है; किन्तु प्रमाद बिना चोरी बनती नहीं। प्रमाद का नाम ही हिंसा है और चोरी में प्रमाद अवश्य है ही; इसलिये ऐसा सिद्ध हुआ कि जहाँ-जहाँ चोरी है, वहाँ-वहाँ हिंसा अवश्य ही है।

हिंसा और चोरी में अतिव्याप्तिपना भी नहीं है:—

नातिव्याप्तिश्च तयोः प्रमत्तयोगैककारणविरोधात् ।
अपि कर्म्मानुग्रहणे नीरागाणामविद्यमानत्वात् ।।१०५।।

अन्वयार्थः—[**च**] और [**नीरागाणाम्**] वीतरागी पुरुषों के [**प्रमत्तयोगैककारणविरोधात्**] प्रमत्तयोगरूप एक कारण के विरोध से [**कर्म्मानुग्रहणे**] द्रव्यकर्म नोकर्म की कर्मवर्गणाओं को ग्रहण करने में [**अपि**] निश्चय से [**स्तेयस्य**] चोरी की [**अविद्यमानत्वात्**] अनुपस्थिति [**तयोः**] से उन दोनों में अर्थात् हिंसा और चोरी में [**अतिव्याप्तिः**] अतिव्याप्ति भी [**न**] नहीं है ।

टीका:—'**च तयोः (हिंसा स्तेययोः) अतिव्याप्तिः च न अस्ति यतः नीरागाणां प्रमत्तयोगैककारण विरोधात् कर्मानुग्रहणे अपि हिंसायाः अविद्यमानत्वात्**'—हिंसा और चोरी में अतिव्याप्तिपना भी नहीं है अर्थात् चोरी हो और हिंसा न हो, ऐसा नहीं है तथा हिंसा हो और चोरी न हो, ऐसा भी नहीं है; क्योंकि वीतरागी महापुरुषों के प्रमादसहित योग का कारण नहीं है । इसलिये द्रव्यकर्म-नोकर्म वर्गणाओं का ग्रहण होते हुये भी, प्रमाद न होने से चोरी का सद्भाव नहीं है ।

भावार्थ:—बिना दी हुई वस्तु का ग्रहण चोरी है । वीतरागी अर्हन्त भगवान के कर्मनोकर्म वर्गणाओं का ग्रहण होता है और वे वर्गणायें किसी की दी हुई नहीं है । वहाँ उनके चोरी का प्रसंग आता; परन्तु प्रमाद और योग बिना चोरी नहीं कहलाती । प्रमादयोग है, वही हिंसा है, इसलिये अतिव्याप्ति दोष आता; परन्तु वह तो वहाँ है नहीं, अतः यह बात सिद्ध हुई कि जहाँ चोरी है, वहाँ हिंसा है; इसलिए अव्याप्ति नहीं और जहाँ हिंसा नहीं वहाँ चोरी भी नहीं; तथा जहाँ चोरी नहीं वहाँ हिंसा भी नहीं, इस वास्ते अतिव्याप्ति नहीं इसलिये चोरी हिंसारूप ही है ।।१०५।।

चोरी के त्याग का प्रकार:—

असमर्था ये कर्त्तुं निपानतोयादिहरणविनिवृत्तिम् ।
तैरपि समस्तमपरं नित्यमदत्तं परित्याज्याम् ।।१०६।।

अन्वयार्थः—[**ये**] जो जीव [**निपानतोयादिहरणविनिवृत्तिम्**] दूसरे के कुआं, बावड़ी आदि जलाशयों का जल इत्यादि त्याग [**कर्त्तुम्**] करने में [**असमर्था**] असमर्थ हैं, [**तैः**] उन्हें [**अपि**] भी [**अपरं**] अन्य

[**समस्तं**] सर्व [**अदत्तं**] बिना दी हुई वस्तुओं के ग्रहण करने का [**नित्यम्**] हमेशा [**परित्याज्यम्**] त्याग करना योग्य है।

टीका:—'**ये (जीवा:) निपानतोयादिहरणविनिवृत्तिम् कर्तुम् असमर्थाः तैः (जीवैः) अपि नित्यं समस्तं अदत्तं परित्याज्यम्**'—जो जीव कुआँ, नदी, बावड़ी आदि के पीनेरूप जल से लेकर मिट्टी आदि वस्तुएं जो सामान्य जनता के उपयोग के लिए होती हैं, उनके ग्रहण का त्याग करने में अशक्त है, उन्हें भी हमेशा दूसरे के द्वारा दी हुई वस्तुओं के अलावा अन्य समस्त वस्तुओं के ग्रहण का त्याग करना चाहिये।

भावार्थ:—चोरी का त्याग भी दो प्रकार से है-एक सर्वथा त्याग और दूसरा एकदेश त्याग। सर्वथा त्याग तो मुनिधर्म में ही होता है, अतः वह बन सके, तो अवश्य ही करना चाहिये। श्रावक कुआं, नदी आदि का पानी, खान की मिट्टी इत्यादि किसी के बिना पूछे भी ग्रहण करले तो उसका नाम चोरी नहीं है और यदि मुनि उन्हें ग्रहण कर ले तो चोरी कहलायेगी।

ब्रह्मचर्य व्रत

कुशील (अब्रह्म) का स्वरूप:—

यद्वेदरागयोगान्मैथुनमभिधीयते तदब्रह्म ।
अवतरति तत्र हिंसा वधस्य सर्वत्र सद्भावत् ।।१०७।।

अन्वयार्थ:—[**यत्**] जो [**वेदरागयोगात्**] वेद के रागरूप योग से [**मैथुनं**] स्त्री-पुरुषों का सहवास [**अभिधीयते**] कहा जाता है [**तत्**] वह [**अब्रह्म**] अब्रह्म है और [**तत्र**] उस सहवास में [**वधस्य**] प्राणिवध का [**सर्वत्र**] सर्व स्थान में [**सद्भावात्**] सद्भाव होने से [**हिंसा**] हिंसा [**अवतरति**] होती है।

टीका:—'**यत् वेदरागयोगात् मैथुनं अभिधीयते तत् अब्रह्म भवति तत्र हिंसा अवतरति (यतः) सर्वत्र वधस्य सद्भावात्**'—स्त्रीवेद पुरुषवेद, नपुंसकवेद के परिणामरूप रागभाव सहित योग से मैथुन अर्थात् स्त्रीपुरुष का मिलकर कामसेवन करना कुशील है—(अब्रह्म है) उस कुशील में हिंसा उत्पन्न होती है, कारण कि कुशील करने और करनेवाले के सर्वत्र हिंसा का सद्भाव है।

भावार्थ:—स्त्री की योनि, नाभि, कुच और कांख में मनुष्याकार संमूर्च्छन पंचेन्द्रिय जीव उत्पन्न होते हैं, इसलिये स्त्री के साथ सहवास करने

में द्रव्यहिंसा होती है तथा स्त्री और पुरुष दोनों के कामरूप परिणाम होते हैं, जिससे भावहिंसा होती है। शरीर की शिथिलतादि के निमित्त से अपने द्रव्यप्राण का घात होता है। परजीव स्त्री या पुरुष के विकारी परिणाम का कारण है अथवा उसको पीड़ा उत्पन्न होती है, उसके परिणाम विकारी होते हैं, इससे अन्य जीव के भावप्राण का घात होता है तथा मैथुन में बहुत जीव मरते हैं, इसतरह अन्य जीव के द्रव्यप्राण का घात होता है।

मैथुन में प्रगटरूप से हिंसा है:—

हिंस्यन्ते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत्।
बहवो जीवा योनौ हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत् ॥१०८॥

अन्वयार्थः—[**यद्वत्**] जैसे [**तिलनाल्यां**] तिल से भरी हुई नली में [**तप्तायसि विनिहिते**] गरम लोहे की शलाका डालने से [**तिलाः**] तिल [**हिंस्यन्ते**] भुन जाते हैं [**तद्वत्**] वैसे ही [**मैथुने**] मैथुन के समय [**योनौ**] योनि में भी [**बहवो जीवाः**] बहुत से जीव [**हिंस्यन्ते**] मर जाते हैं।

टीका:—'**यद्वत् तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते (सति) तिलाः हिंस्यन्ते तद्वत् योनौ मैथुने (कृते सति) बहवो जीवा हिंस्यन्ते**' – जैसे तिलों से भरी हुई बाँस की नली में अत्यन्त गरम की हुई लोहे की शलाका डाली जाय, तो सब तिल भुन जाते हैं, उसीप्रकार स्त्री के अंग में पुरुष के अंग से मैथुन करने पर योनिगत सर्व जीव तुरन्त ही मरण को प्राप्त होते है – यही प्रगट से द्रव्यहिंसा है।

कोई कहे कि अनङ्गक्रीड़ा में तो हिंसा नहीं होती? उससे कहते हैं:—

यदपि क्रियते किंचिन्मदनोद्रेकादनंगरमणादि।
तत्रापि भवति हिंसा रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात् ॥१०९॥

अन्वयार्थः—और [**अपि**] तदुपरान्त [**मदनोद्रेकात्**] काम की उत्कटता से [**यत् किञ्चित्**] जो कुछ [**अनगरमणादि**] अनंगक्रीड़ा [**क्रियते**] की जाती है [**तत्रापि**] उसमें भी [**रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात्**] रागादि की उत्पत्ति के कारण [**हिंसा**] हिंसा [**भवति**] होती है।

टीका:—'**यत् अपि मदनोद्रेकात् अनंगरमणादि किंचित् क्रियते तत्रापि हिंसा भवति रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात्**' – जो जीव तीव्र चारित्रमोह

कर्म के उदय से (उदय में संयुक्त होने से) तीव्र कामविकार होने के कारण अनंगक्रीड़ा (काम सेवन करने योग्य अंगों को छोड़कर अन्य अंगों द्वारा क्रीड़ा) करता है, वहाँ भी हिंसा होती है। कारण कि हिंसा का होना रागादि की उत्पत्ति के आधीन है। यदि रागादि न हों, तो हिंसा कभी नहीं हो सकती। राग तीव्र न हो, तो कामक्रीड़ा क्यों करे? इससे सिद्ध हुआ कि अनंगक्रीड़ा में भी हिंसा होती है।

कुशील के त्याग का क्रम

ये निजकलत्रमात्रं परिहर्तुं शक्नुवन्ति न हि मोहात्।
निःशेषशेषयोषिन्निषेवणं तैरपि न कार्यम् ॥११०॥

अन्वयार्थः—[ये] जो जीव [मोहात्] मोह के कारण [निजकलत्रमात्रं] अपनी विवाहिता स्त्री को ही [परिहर्तुं] छोड़ने में [हि] निश्चय से [न शक्नुवन्ति] समर्थ नहीं हैं, [तैः] उन्हें [निःशेषशेषयोषिन्निषेवणं अपि] बाकी की समस्त स्त्रियों का सेवन तो कदापि [न] नहीं [कार्यम्] करना चाहिये।

टीकाः—'ये (जीवाः) हि मोहात् निजकलत्रमात्रं परिहर्तुं हि न शक्नुवन्ति तैरपि निःशेषशेषयोषिन्निषेवणं न कार्यम्' – जो जीव अप्रत्याख्यानावरण चारित्रमोहनीय के उदय से (उदयवश) अपनी विवाहिता स्त्री को छोड़ने में समर्थ नहीं हैं, उन्हें भी (अपनी विवाहिता स्त्री के अलावा) संसार की अन्य समस्त स्त्रियों के साथ कामसेवन नहीं करना चाहिये और अपनी विवाहिता स्त्री में ही सन्तोष रखना चाहिये – यह ब्रह्मचर्यव्रत है। सर्वथा त्याग तो मुनि धर्म है। स्त्री मात्र के साथ कामसेवन करने का त्याग करना महाव्रत है।

परिग्रहपरिमाण व्रत

परिग्रह पाप का स्वरूप

या मूर्च्छा नामेयं विज्ञातव्यः परिग्रहो ह्येषः।
मोहोदयादुदीर्णो मूर्च्छा तु ममत्वपरिणामः ॥१११॥

अन्वयार्थः—[इयं] यह [या] जो [मूर्च्छा नाम] मूर्च्छा है [एषः] इसे ही [हि] निश्चय से [परिग्रहः] परिग्रह [विज्ञातव्यः] जानना चाहिये [तु] और [मोहोदयात्] मोह के उदय से [उदीर्णः]

उत्पन्न हुआ [**ममत्वपरिणामः**] ममत्वरूप परिणाम ही [**मूर्च्छा**] मूर्च्छा है।

टीका:—'या इयं मूर्च्छा नाम हि एषः परिग्रहः विज्ञातव्यः तु (पुनः) मोहोदयात् उदीर्णः ममत्वपरिणाम मूर्च्छा (अस्ति)' – हे भव्य जीवो ! इस मूर्च्छा को ही निश्चय से परिग्रह जानो। मूर्च्छा किसे कहते हैं ? चारित्रमोहनीय कर्म के उदय को प्राप्त हुआ जो ममत्वपरिणाम (अर्थात् 'यह मेरा है' – ऐसा परिणाम) है, वही मूर्च्छा है।

ममत्वपरिणाम ही वास्तविक परिग्रह है, इस बातको दृढ़ करते हैं:–

मूर्च्छालक्षणकरणात् सुघटा व्याप्तिः परिग्रहत्वस्य ।
सग्रन्थो मूर्च्छावान् विनापि किल शेषसंगेभ्यः ॥११२॥

अन्वयार्थ: [**परिग्रहत्वस्य**] परिग्रहपना का [**मूर्च्छालक्षणकरणात्**] मूर्च्छा लक्षण करने से [**व्याप्तिः**] व्याप्ति [**सुघटा**] भले प्रकार से घटित होती है, क्योंकि [**शेषसंगेभ्यः**] बाह्य परिग्रह [**बिना अपि**] बिना भी [**मूर्च्छावान्**] मूर्च्छा करनेवाला पुरुष [**किल**] निश्चय से [**सग्रन्थ**] बाह्य परिग्रह सहित है।

टीका: 'परिग्रहत्वस्य मूर्च्छालक्षणकरणाम् व्याप्तिः सुघटा (यतः) किल शेषसंगेभ्यः विना अपि मूर्च्छावान् सग्रन्थः' – परिग्रहभाव का लक्षण मूर्च्छा किया, उसमें व्याप्ति भले प्रकार बनती है, क्योंकि धन, धान्यादि बाह्य परिग्रह बिना भी ममत्वपरिणामवाला जीव परिग्रह सहित होता है।

भावार्थ: – साहचर्य के नियम को व्याप्ति कहते हैं अर्थात् जहाँ लक्षण हो वहाँ लक्ष्य भी हो, उसका नाम व्याप्ति है; इसलिये जहाँ-जहाँ मूर्च्छा है वहाँ-वहाँ परिग्रह अवश्य है और जहाँ मूर्च्छा नहीं है, वहाँ परिग्रह भी नहीं है। मूर्च्छा की परिग्रह के साथ व्याप्ति है। कोई जीव नग्न है, बाह्य परिग्रह से रहित है, परन्तु यदि अन्तरंग में मूर्च्छा अर्थात् ममत्वपरिणाम है, तो वह परिग्रहवान ही है और एक ममत्व के त्याग दिगम्बर मुनि के पींछी, कमण्डलरूप बाह्य परिग्रह होने पर भी अन्तरंग में ममत्व नहीं है, इसलिए वह वास्तविक परिग्रहसे रहित ही है।

शंकाकर की शंका व उसका समाधान

यद्येवं भवति तदा परिग्रहो न खलु कोऽपि बहिरंगः ।
भवति नितरां यतोऽसौ धत्ते मूर्च्छानिमित्तत्वम् ॥११३॥

अन्वयार्थ:—[**यदि**]जो [**एवं**] ऐसा है अर्थात् मूर्च्छा ही परिग्रह होवे [**तदा**] तो [**खलु**] निश्चय से [**बहिरंग परिग्रहः**] बाह्य परिग्रह

[क अपि] कुछ भी नहीं सिद्ध होता तो ऐसा नहीं है, [यतः] क्योंकि [असौ] यह बाह्य परिग्रह [मूर्च्छानिमित्तत्वम्] मूर्च्छा के निमित्तपने को [नितरां] अतिशयरूप से [धत्ते] धारण करता है।

टीका:— प्रश्न – 'खलु यदि एवं भवति तदा बहिरंगः कोऽपि परिग्रहः न (स्यात्)' उत्तर – 'यः असौ (बहिरंग) नितरां मूर्च्छानिमित्तत्वं धत्ते' – यहाँ कोई तर्क करता है कि यदि निश्चय से मूर्च्छा का नाम ही परिग्रह है, तो फिर धनधान्यादि बाह्य वस्तु परिग्रह नहीं ठहरी। इनको परिग्रह किसलिये कहते हो? श्रीगुरु उत्तर देते हैं:- यह धनधान्यादि तो अत्यन्तरूप से परिग्रह हैं, क्योंकि बाह्य वस्तु ही मूर्च्छा का कारण है।

भावार्थ:—परिग्रह का लक्षण तो मूर्च्छा ही है; परन्तु बाह्य धन-धान्यादि वस्तु मूर्च्छा उत्पन्न करने के लिये (निमित्त) कारण है, इसलिये उसे भी परिग्रह कहा जाता है।

एवमतिव्याप्तिः स्यात्परिग्रहस्येति चेद्भवेन्नैवम्।
यस्मादकषायाणां कर्मग्रहणे न मूर्च्छास्ति ॥११४॥

अन्वयार्थ:—[एवं] इसप्रकार [परिग्रहस्य] बाह्य परिग्रह की [अतिव्याप्तिः] अतिव्याप्ति [स्यात्] होती है, [इति चेत्] यदि ऐसा कहते हो तो [एवं] ऐसा [न भवेत्] नहीं होता [यस्मात्] कारण कि [अकषायाणां] कषायरहित अर्थात् वीतरागी पुरुषों को [कर्मग्रहणे] कार्मणवर्गणा के ग्रहण में [मूर्च्छा] मूर्च्छा [नास्ति] नहीं है।

टीका:—'एव परिग्रहस्य अतिव्याप्तिः स्यात् इति चेत् न एवं भवेत् यस्मात् अकषायाणां कर्मग्रहणे मूर्च्छा नास्ति' – यहाँ कोई प्रश्न करता है कि जो परिग्रह को मूर्च्छा उत्पन्न करने का निश्चयकारण कहते हो तो (मूर्च्छा परिग्रहः) इस लक्षण में अतिव्याप्ति दोष आता है; क्योंकि अर्हन्त अवस्था में भी कार्माणवर्गणा तथा नोकर्मवर्गणा – इन दोनों के ग्रहणरूप परिग्रह है, वहाँ भी मूर्च्छा हो जायेगी, तो ऐसा नहीं है, कारण कि कषायरहित जीवों के कर्म-नोकर्म का ग्रहण होने पर भी मूर्च्छा अर्थात् ममत्वपरिणाम नहीं हैं।

भावार्थ:—अतिव्याप्ति तो तब हो जब निष्परिग्रही वीतरागी महापुरुषों के मूर्च्छा हो; किन्तु वह तो उनके होती नहीं, अतः अर्हन्त वीतरागी भगवान के कर्म-नोकर्म का ग्रहण होने पर भी मूर्च्छा के अभाव

से परिग्रह नहीं कहलाता, इसलिये अतिव्याप्ति दोष नहीं है। बाह्य वस्तु मूर्च्छा उत्पन्न करने में कारणमात्र है, इसलिये उसको उपचार से परिग्रह कह दिया है, परमार्थ मे तो परिग्रह का लक्षण मूर्च्छा ही है।

परिग्रह के भेद

अतिसंक्षेपाद् द्विविधः स भवेदाभ्यन्तरश्च बाह्यश्च।
प्रथमश्चतुर्दशविधो भवति द्विविधो द्वितीयस्तु ॥११५॥

अन्वयार्थः—[**स**] वह परिग्रह [**अतिसंक्षेपात्**] अत्यन्त संक्षेप से [**आभ्यन्तरः**] अन्तरंग [**च**] और [**बाह्यः**] बहिरंग [**द्विविधः**] दो प्रकार का [**भवेत्**] है [**च**] और [**प्रथमः**] पहला अन्तरग परिग्रह [**चतुर्दशविधः**] चौदह प्रकार का [**तु**] तथा [**द्वितीयः**] दूसरा बहिरंग परिग्रह [**द्विविधः**] दो प्रकार का [**भवति**] है।

टीका:—'**स (परिग्रहः) अति संक्षेपात् द्विविधः आभ्यन्तरः बाह्यश्च प्रथमः (आभ्यन्तरः) चतुर्दशविधः भवति द्वितीयस्तु द्विविधः भवति'** – वह परिग्रह सक्षप में दो प्रकार का है – पहला आभ्यन्तर, दूसरा बाह्य, अन्तरग आत्मा के परिणाम को आभ्यांतर परिग्रह कहते हैं। और बाहर के सभी पदार्थों को बाह्य परिग्रह कहते है। पहला परिग्रह चौदह प्रकार का है तथा दूसरा बाह्य परिग्रह दो प्रकार का है।

आभ्यन्तर परिग्रह के चौदह भेद

मिथ्यात्ववेदरागास्तथैव हास्यादयश्च षड् दोषाः।
चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्थाः ॥११६॥

अन्वयार्थः—[**मिथ्यात्ववेदरागाः**] मिथ्यात्व, स्त्री, पुरुष और नपुंसक वेद का राग [**तथैव च**] इसी तरह [**हास्यादयः**] हास्यादि अर्थात् हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा ये [**षड् दोषाः**] छह दोष [**च**] और [**चत्वारः कषाया**] चार कषाय अर्थात् क्रोध मान माया, लोभ अथवा अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरणी प्रत्याख्यानावरणी और सज्वलन ये चार कषायभाव – इस भाँति [**आभ्यन्तराः ग्रन्थाः**] अन्तरंग परिग्रह [**चतुर्दश**] चौदह हैं।

टीका:—'**आभ्यन्तराः ग्रन्थाः मिथ्यात्ववेदरागाः तथैव हास्यादयः षड् दोषाः च चत्वारः कषायाः चतुर्दश (भवन्ति)**' – आभ्यन्तर परिग्रह

चौदह प्रकार का है – (१) मिथ्यात्व (तत्त्वार्थ का अश्रद्धानरूप मिथ्यात्वभाव) (२) पुरुषवेद (स्त्री के अभिलाषारूप परिणाम) (३) स्त्रीवेद (पुरुष के अभिलाषारूप परिणाम) (४) नपुंसकवेद (स्त्री-पुरुष दोनों के अभिलाषारूप परिणाम) (५) हास्य (६) रति (७) अरति (८) शोक (९) भय (१०) जुगुप्सा (११) क्रोध (१२) मान (१३) माया (१४) लोभ –ये चौदह आभ्यन्तर परिग्रह हैं।

बाह्य परिग्रह के दो भेद कहकर उसे हिंसामय बताते हैं:—

अथ निश्चित्तसचित्तौ बाह्यस्य परिग्रहस्य भेदौ द्वौ।
नैषः कदापि संगः सर्वोऽप्यतिवर्तते हिंसाम् ।।११७।।

अन्वयार्थ:—[**अथ**] इसके बाद [**बाह्यस्य**] बहिरंग [**परिग्रहस्य**] परिग्रह [**निश्चित्तसचित्तौ**] अचित्त और सचित्त यह [**द्वौ**] दो [**भेदौ**] भेद हैं [**एषः**] यह [**सर्वः अपि**] सभी [**सङ्ग**] परिग्रह [**कदापि**] किसी भी समय [**हिंसाम्**] हिंसा का [**न अतिवर्तते**] उल्लंघन नहीं करते अर्थात् कोई भी परिग्रह कभी भी हिंसा रहित नहीं है।

टीका:—'**अथ बाह्यस्य परिग्रहस्य निश्चित्तसचित्तौ द्वौ भेदौ (भवतः) एषः सर्वोऽपि (परिग्रह) संगः हिंसाम् कदापि न अतिवर्तते**' – बाह्य परिग्रह अचेतन और सचेतन के भेद से दो प्रकार का है। सोना, चांदी, मकान वस्त्रादि चेतनारहित पदार्थ अचित्त तथा पुत्र, कलत्र, दासी, दासादि चेतनासहित पदार्थ सचित्त कहे जाते हैं – ये दोनों ही प्रकार के परिग्रह हिंसा का उल्लघन नहीं करते अर्थात कोई हिंसा बिना नहीं है।

हिंसा-अहिंसा का लक्षण कहकर इसी अर्थ को दृढ़ करते हैं:—

उभयपरिग्रहवर्जनमाचार्याः सूचयन्त्यहिंसेति।
द्विविधपरिग्रवहनं हिंसेति जिनप्रवचनज्ञाः ।।११८।।

अन्वयार्थ: [**जिनप्रवचनज्ञाः**] जैन सिद्धान्त के ज्ञाता [**आचार्याः**] आचार्य [**उभयपरिग्रहवर्जनं**] दोनों प्रकार के परिग्रह के त्याग को [**अहिंसा**] 'अहिंसा' [**इति**] ऐसा और [**द्विविध परिग्रहवहनं**] दोनों प्रकार के परिग्रह धारण करने को [**हिंसा इति**] 'हिंसा' ऐसा [**सूचयन्ति**] सूचित करते हैं – कहते हैं।

टीका:—'**जिनप्रवचनज्ञाः आचार्याः उभयपरिग्रहवर्जनं अहिंसा (भवति) इति सूचयन्ति तथा द्विविधपरिग्रहवहनं हिंसा (भवति)**

सूचयन्ति' – जैन सिद्धान्त के ज्ञाता आचार्य, दोनों प्रकार के अन्तरंग और बाह्य परिग्रह का त्याग करना ही अहिंसा है तथा दोनों प्रकार के परिग्रह का धारण करना ही हिंसा है – ऐसा कहते हैं। परिग्रह के त्याग बिना अहिंसा की सिद्धि नहीं होती है।

दोनों परिग्रहों में हिंसा है – ऐसा बताते हैं:—

हिंसापर्यायत्वात् सिद्धा हिंसान्तरंगसंगेषु ।
बहिरङ्गेषु तु नियतं प्रयातु मूर्च्छैव हिंसात्वम् ।।११९।।

अन्वयार्थ:—[**हिंसापर्यायत्वात्**] हिंसा की पर्यायरूप होने से [**अन्तरंगसंगेषु**] अन्तरंग परिग्रह में [**हिंसा**] हिंसा [**सिद्धा**] स्वयं-सिद्ध है [**तु**] और [**बहिरंगेषु**] बहिरंग परिग्रहों में [**मूर्च्छा**] ममत्व-परिणाम [**एव**] ही [**हिंसात्वम्**] हिंसाभाव को [**नियतम्**] निश्चय से [**प्रयातु**] प्राप्त होता है।

टीका:—**'अन्तरंगसंगेषु हिंसापर्यायत्वात् हिंसा सिद्धा तु (पुनः) बहिरंगेषु नियतं मूर्च्छैव हिंसात्वं प्रयातु'** - अन्तरंग चौदह प्रकार के परिग्रह के सभी भेद हिंसा की पर्याय होने से हिंसा सिद्ध ही है। बहिरंग परिग्रह में निश्चय से ममत्वपरिणाम है, वह हिंसा को प्राप्त होता है।

भावार्थ:—अन्तरंग परिग्रह जो मिथ्यात्वादि चौदह प्रकार का है, वह जीव का विभाव (विकारी) परिणाम है, इसलिये वह हिंसा ही है; परन्तु बाह्यवस्तु में भी निश्चय से ममत्वपरिणाम है, वही हिंसा का कारण है। बाह्यवस्तु में जो ममत्वपरिणाम है, उसीका नाम परिग्रह है। केवली भगवान के समवशरणादि विभूति होती है; परन्तु ममत्व-परिणाम बिना परिग्रह नहीं है। अथवा यदि कोई परिग्रह को अंगीकार करके कहे कि मेरे तो ममत्वपरिणाम नहीं है, तो यह बात झूठ है; कारण कि वह ममत्व बिना अंगीकार होता ही नहीं है।

यदि बहिरंग पदार्थ में ममत्वपरिणाम का होना ही परिग्रह है, तो सभी में समान रूप से ही परिग्रहजन्य पापबन्ध होना चाहिए:—

एवं न विशेषः स्यादुन्दुररिपुहरिणशावकादीनाम् ।
नैवं भवति विशेषस्तेषां मूर्च्छाविशेषेण ।।१२०।।

अन्वयार्थ: –[**एवं**] यदि ऐसा ही हो अर्थात् बहिरंग में ममत्व-परिणाम का नाम ही मूर्च्छा हो, तो [**उन्दुररिपुहरिणशावकादीनाम्**]

बिल्ली और हरिण के बच्चे वगैरह में [**विशेषः**] कोई विशेषता [**न स्यात्**] न रहे, परन्तु [**एवं**] ऐसा [**न भवति**] नहीं है, क्योंकि [**मूर्च्छाविशेषेण**] ममत्वपरिणामों की विशेषता से [**तेषां**] उस बिल्ली और हरिण के बच्चे इत्यादि जीवों में [**विशेषः**] विशेषता है अर्थात् समानता नहीं है।

टीका:—**'यदि एवं (तर्हि) उन्दुररिपु-हरिणशावकादीनाम् विशेषः न, एवं न भवति तेषां मूर्च्छाविशेषेण विशेषः भवति'** – यहाँ कोई शंका करता है कि जो बाह्यपदार्थ में ही ममत्वपरिणाम हिंसा का का कारण है और वह ममत्वपरिणाम सामान्य रीति से सभी जीवों के होता है, अतः सभी जीवों के समान पाप होना चाहिये। जिस प्रकार मांसाहारी बिल्ली और घास खानेवाले हिरन के बच्चे में भोजन करने संबंधी ममत्वपरिणाम सामान्यरूप से समान ही है, (बहिरङ्ग का कुछ प्रयोजन कहा नहीं)। इसके उत्तर में आचार्य भगवान उससे कहते हैं कि बात वास्तव में ऐसी नहीं है। बिल्ली और हिरन के बच्चों की बाबत में भी विशेषता है, समानता नहीं है; क्योंकि बिल्ली के तो मांस खाने के परिणाम हैं और हिरन के बच्चे के घास खाने के परिणाम हैं। बस, ममत्व की विशेषता – अधिकता से ही विशेषता है।

ममत्व - मूर्च्छा में विशेषता

हरिततृणांकुरचारिणि मंदा मृगशावके भवति मूर्च्छा।
उन्दुरनिकरोन्माथिनि मार्जारे सैव जायते तीव्रा ॥१२१॥

टीका:—[**हरिततृणाङ्कुरचारिणि**] हरी घास के अंकुर खानेवाले [**मृगशावके**] हरिण के बच्चे में [**मूर्च्छा**] मूर्च्छा [**मन्दा**] मन्द [**भवति**] होती है और [**सा एव**] वही मूर्छा [**उन्दुरनिकरोन्माथिनि**] चूहों के समूह का उन्मथन करनेवाली [**मार्जारे**] बिल्ली में [**तीव्रा**] तीव्र [**जायते**] होती है।

टीका:—**'हरिततृणाङ्कुरचारिणि मृगशावके मन्दा मूर्च्छा भवति तथा सैव मूर्च्छा उन्दुरनिकरोन्माथिनि मार्जारे तीव्रा जायते'** – हरी घास खानेवाला हिरण का बच्चा है, उसे घास खाने में भी ममत्व बहुत थोड़ा है और चूहों के समूह को खानेवाली बिल्ली को चूहे खाने में बहुत तीव्र ममत्व है – बस यही इन दोनों में विशेषता है।

भावार्थः—प्रथम तो हिरण के बच्चे को हरी घास में अधिक लालसा नहीं है, फिर उसे खाने में बहुत सरागता भी नहीं है तथा खाते समय यदि किंचित् भी भय मालूम पड़े, तो तत्काल छोड़कर भाग खड़ा होता है, इससे ज्ञात होता है कि उसके आसक्ति – ममत्वपरिणाम बहुत तीव्र नहीं है। चूहों के समूह को मारनेवाली बिल्ली को चूहे खाने का लालसा बहुत है और चूहों को मारनेके पश्चात् उन्हे खाने में सरागता भी विशेष है तथा जिससमय वह चूहों को खा रही हो, उससमय उसके ऊपर लाठी की चोटें भी पड़ें, तो भी बड़ी मुश्किल से ही उसे छोड़ती है; इससे ज्ञात होता है कि हरिण के बच्चे और बिल्ली की मूर्च्छा में बहुत अन्तर है इसी भाँति बहुत आरम्भ – परिग्रहवाले तथा अल्प आरम्भ – परिग्रहवाले जीवों में भी परिणामों का अन्तर जानना।

आगे इस प्रयोजन को सिद्ध करते हैं:—

निर्बाधं संसिध्येत् कार्यविशेषो हि कारणविशेषात्।
औधस्यखण्डयोरिह माधुर्य्यप्रीतिभेद इव ॥१२२॥

अन्वयार्थ—[**औधस्य...ण्डयो**] दूध और खांड में [**माधुर्य्यप्रीतिभेदः इव**] मधुरता के प्रीतिभेद की तरह [**इह**] इस लोक में [**हि**] निश्चय से [**कारणविशेषात्**] कारण की विशेषता से [**कार्यविशेषः**] कार्य की विशेषता [**निर्बाधं**] बाधारहित [**संसिध्येत्**] भले प्रकार से सिद्ध होती है।

टीकाः—'**हि कारणविशेषतात् कार्यविशेषः निर्बाधं संसिध्येत् यथा-औधस्यखण्डयोः इह माधुर्यप्रीति इव भवति**' – निश्चय से कारण की विशेषता होने से कार्य की विशेषता होती है। जैसे गाय के दूध में और खाँड में कमबढ मिठास होने के कारण कमबढ़ प्रीति होती है। गाय के थन के ऊपर जो दूध रहने की थैली होती है, उसे औध कहते हैं, उसमें उत्पन्न होनेवाली वस्तु को औधस अर्थात् दूध कहते हैं।

भावार्थः—ऐसा नियम है कि जैसा कारण हो, वैसा ही कार्य उत्पन्न होता है। जैसे दूध में मिठास कम है और शक्कर में अधिक है, इसलिये दूध में प्रीति कम होती है और शक्कर में विशेष होती है।

आगे इसके उदाहरण को प्रगट करते हैं :—

माधुर्यप्रीतिः किल दुग्धे मन्दैव मन्दमाधुर्ये ।
सैवोत्कटमाधुर्ये खण्डे व्यपदिश्यते तीव्रा ॥१२३॥

अन्वयार्थः—[**किल**] निश्चय से [**मन्दमाधुर्य**] थोड़ी मिठासवाले [**दुग्धे**] दूध में [**माधुर्यप्रीतिः**] मिठास की रुचि [**मन्दा**] थोड़ी [**एव**] ही [**व्यपदिश्यते**] कहने में आती है और [**सा एव**] वही मिठास की रुचि [**उत्कटमाधुर्ये**] अत्यन्त मिठासवाली [**खण्डे**] खांड में [**तीव्रा**] अधिक कहने में आती है।

टीका:—'**किल मन्दमाधुर्ये दुग्धे माधुर्यप्रीतिः मन्दा व्यपदिश्यते तथा सैव माधुर्यप्रीतिः उत्कटमाधुर्ये खण्डे तीव्रा व्यपदिश्यते**'—निश्चय से थोडी मिठासवाले दूध में मिष्टरस की रुचिवाले पुरुष को रुचि बहुत थोड़ी होती है और अधिक मिठासवाली शक्कर में उसी पुरुष को अत्यधिक होती है।

भावार्थ:—जैसे कोई मनुष्य मिष्टरस का अभिलाषी है, तो उसको दूध में रुचि कम होती है और खांड में रुचि अधिक होती है, उसी प्रकार जिस पुरुष के पदार्थ में जितना ही ममत्वभाव होगा, वह पुरुष उतना ही हिंसा का भागीदार होगा, अधिक का नहीं भले उसके पास वह पदार्थ उपस्थित हो अथवा न हो। यहाँ कोई बहुत आरम्भ परिग्रह करनेवाला जीव कहता है कि हमारे ममत्वभाव नहीं है, बाह्य में परिग्रह अधिक है, तो क्या हुआ ? तो उससे कहते हैं कि ऐसा नहीं बन सकता; क्योंकि जो ममत्वभाव न होता, तो बाह्य परिग्रह एकत्र ही किसलिये किया ? और जो बाह्य परिग्रह होने पर भी कोई पुरुष यदि ममत्व का त्यागी हो, तो उन बाह्य पदार्थों को क्षणमात्र में छोड़ सकता है; इसलिये सिद्ध हुआ कि ममत्वभाव बिना बाह्य पदार्थों का संग्रह नहीं हो सकता। जैसे-जैसे अपना ममत्वभाव बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे अपने लिये बाह्य पदार्थों का संग्रह भी करता जाता है। ऐसा नहीं हो सकता कि बाह्य परिग्रह तो अंगीकार करता जाय और कहे कि मेरे अन्तरङ्ग में ममत्वभाव नहीं है। हिंसा में तो ऐसा बनता है कि बाह्य हिंसा हो जाय और अन्तरङ्ग शुद्ध हो अर्थात किसी को भावहिंसा के बिना भी द्रव्यहिंसा तो हो सकती है, परन्तु बाह्य पदार्थों का संग्रह अर्थात परिग्रह का अंगीकार ममत्वभाव के बिना नहीं हो सकता।

परिग्रह त्याग करने का उपाय

तत्त्वार्थाश्रद्धाने निर्युक्तं प्रथममेव मिथ्यात्वम् ।
सम्यग्दर्शनचौराः प्रथमकषायाश्च चत्वारः ।।१२४।।

अन्वयार्थः—[**प्रथमम्**] पहले [**एव**] ही [**तत्वार्थाश्रद्धाने**] तत्त्वार्थ के अश्रद्धान में जिसने [**निर्युक्त**] संयुक्त किया है ऐसा [**मिथ्यात्व**] मिथ्यात्व [**च**] और [**सम्यग्दर्शनचौरा**] सम्यग्दर्शन के चोर [**चत्वारः**] चार [**प्रथमकषायाः**] पहले कषाय अर्थात् अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ हैं।

टीकाः—'प्रथमं तत्वार्थाश्रद्धाने मिथ्यात्वं निर्युक्तं एवं मिथ्यात्वं च चत्वारः प्रथमकषायाः सम्यग्दर्शनचौराः सन्ति' – पहले तत्त्वार्थ के मिथ्याश्रद्धान में जिसको संयुक्त किया है अर्थात् पहला मिथ्यात्व नाम का अन्तरंग परिग्रह है और पहली चौकड़ी अर्थात् अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ ये चार। इसप्रकार सम्यग्दर्शन के ये पाच चोर हैं। जबतक इनका नाश नहीं होता, तब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता।

भावार्थः—यहाँ यह बताया जा रहा है कि इन चौदह प्रकार के अन्तरङ्ग परिग्रहों का त्याग किस रीति से किया जावे। प्रथम ही यह जीव जब सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है, तब मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी चौकड़ी का नाश करता है। अनादि मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा तो पांच का नाश होता है और सादि [मिथ्यादृष्टि] की अपेक्षा, सात का नाश होता है। ये दो भेद अन्तरग परिग्रह के हुए। तात्पर्य यह कि पहले ही यह जीव मिथ्यात्व नामक परिग्रह का त्याग करता है, तत्त्वार्थ का श्रद्धान न होना ही मिथ्यात्व है। पश्चात् अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ को भी उसी तत्त्वार्थ के अश्रद्धान के साथ विदा कर देता है, क्योंकि यह चारों ही सम्यक्त्व के चोर हैं, इनकी उपस्थिति में सम्यग्दर्शन नहीं रह सकता। इसी लिए अनन्त संसार का कारण जानकर इनका नाम अनतानुबंधी रखा है, इनकी वासना भी अनन्तकाल तक रहती हैं।

आगे अवशेष भेद बताते हैं:—

प्रविहाय च द्वितीयान् देशचरित्रस्य सन्मुखायातः ।
नियतं ते हि कषायाः देशचरित्रं निरुन्धन्ति ।।१२५।।

अन्वयार्थः—[**च**] और [**द्वितीयान्**] दूसरे कषाय अर्थात् अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ को [**प्रविहाय**] छोड़कर

[देशचरित्रस्य] देशचारित्र के [सन्मुखायातः] सन्मुख आता है [हि] कारण कि [ते] वे [कषायाः] कषायें [नियतं] निश्चित रूप से [देशचरित्रं] एकदेश चारित्र को [निरुन्धन्ति] रोकती है।

टीकाः—'च श्रावकाः द्वितीयान् अप्रत्याख्यान क्रोधादीन् चतुष्कान् प्रविहाय देशचरित्रस्य सन्मुखायातः भवन्ति हि ते कषायाः नियतं देशचरित्रं निरुन्धन्ति' – सम्यग्दृष्टि श्रावक उन अप्रत्याख्या- नावरण[1] क्रोध मान माया लोभ इन चार कषायों का नाश करके चारित्र के सन्मुख होता है अर्थात् ग्रहण करता है। कारण कि निश्चय से वही अप्रत्याख्यानावरणादि चारों देशव्रती श्रावक के व्रतों का घात करते हैं। इस तरह यह अन्तरंग परिग्रह का तीसरा भेद हुआ।

निजशक्त्या शेषाणां सर्वेषामन्तरङ्गसङ्गानाम्।
कर्तव्यः परिहारो मार्दवशौचादि भावनया ॥१२६॥

अन्वयार्थः—इसलिए [निजशक्त्या] अपनी शक्ति से [मार्दवशौचादिभावनया] मार्दव, शौच, संयमादि दशलक्षण धर्म द्वारा [शेषाणां] अवशेष [सर्वेषाम्] सभी [अन्तरङ्गसङ्गानाम्] अन्तरग परिग्रहों का [परिहारः] त्याग [कर्त्तव्यः] करना चाहिये।

टीकाः—'शेषाणां अन्तरङ्गसङ्गानाम् निजशक्त्या मार्दव-शौचादि भावनया परिहारः कर्त्तव्यः'—अवशेष सभी प्रकार के अन्तरङ्ग परिग्रह हैं, उनको अपनी शक्ति अनुसार अपने कोमल परिणाम तथा सन्तोषरूपी धर्म भावना से त्याग करना अर्थात् यथाक्रम सबका त्याग करना चाहिए।

भावार्थः—अन्तरङ्ग परिग्रह चौदह प्रकार का है। उनके नाम इसी ग्रन्थ के श्लोक ११६ में बताए गए हैं। मिथ्यात्व, चौकड़ी रूप चार कषाय तथा हास्यादि नौ नोकषाय[2] इस तरह चौदह भेद हैं, इनका क्रमपूर्वक त्याग करना। इनमें से मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय हैं,

---

१. अप्रत्याख्यानावरण–अ=ईषत्-थोड़ा, प्रत्याख्यान=त्यागको, आवरण=आच्छादित करनेवाला।

२. नोकषाय=१ हास्य, २ रति, ३ अरति, ४ शोक, ५ भय, ६ जुगुप्सा (ग्लानि), ७ स्त्रीवेद ८ पुरुषवेद, ९ नपुंसकवेद।

वे सम्यग्दर्शन और स्वरूपाचरण चारित्र का घात करती हैं। अप्रत्याख्यानावरणी नामक चार कषायें हैं, वे देशचारित्र का घात करती हैं अर्थात् श्रावकपद नहीं होने देती। प्रत्याख्यानावरणी नामक चार कषायें सकलसंयम का घात करती हैं अर्थात् मुनिपद नहीं होने देतीं। (प्रत्याख्यान सर्वथा त्याग को कहते है) तथा संज्वलनादि चार हास्यादि छह और तीन वेद ये सभी यथाख्यातचारित्र के घात में निमित्त हैं। (निजशक्ति के बल से) इसप्रकार इन सभी व्रतों को क्रमपूर्वक धारण करके अन्तरंग परिग्रह को क्रमपूर्वक छोड़ना चाहिये।

बाह्य परिग्रह के त्याग का क्रम

बहिरङ्गादपि सङ्गात् यस्मात्प्रभवत्यसंयतोऽनुचितः।
परिवर्जयेदशेषं तमचित्तं वा सचित्तं वा ।।१२७।।

अन्वयार्थः— [**वा**] तथा [**तम्**] उस बाह्य परिग्रह को [**अचित्तं**] भले ही वह अचेतन हो [**वा**] या [**सचित्तं**] सचेतन हो [**अशेषं**] सम्पूर्णरूप से [**परिवर्जयेत्**] छोड देना चाहिये [**यस्मात्**] कारण कि [**बहिरङ्गात्**] वहिरंग [**सङ्गात्**] परिग्रह से [**अपि**] भी [**अनुचितः**] अयोग्य अथवा निन्द्य [**असंयमः**] असंयम [**प्रभवति**] होता है।

टीकाः -'**यस्मात् बहिरङ्गात् अपि संगात् अनुचित: असंयमः भवति तस्मात् त अचित सचित्त वा अशेषं परिग्रहं परिवर्जयेत्**' — चूं कि बाह्य धन-धान्यादि परिग्रह से भी महान असयम होता है अर्थात् जबतक परिग्रह रहता है तबतक सयम का भलेप्रकार पालन नहीं हो सकता, इसलिये वह बाह्य परिग्रह भले ही अजीव हो या सजीव हो – दोनों ही प्रकार का परिग्रह त्याग करने योग्य है।

भावार्थः - बाह्य परिग्रह में संसार के सभी पदार्थ प्रायः आ जाते है, इसलिये बाह्य परिग्रह के सजीव और अजीव ऐसे दो भेद किये हैं। रुपया, पैसा, खेती आदि अजीव परिग्रह हैं और हाथी, घोड़ा, बैल, नौकर चाकर आदि सजीव परिग्रह है – इनका भी एकदेश और सर्वदेश त्याग होता है।

जो सर्वदेश त्याग न कर सकें, वे एकदेश त्याग करें – ऐसा कहते हैं —

योऽपि न शक्यस्त्यक्तुं धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादि ।
सोऽपि तनूकरणीयो निवृत्तिरूपं यतस्तत्त्वं ॥१२८॥

अन्वयार्थः—[**अपि**] और [**यः**] जो [**धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादिः**] धन, धान्य, मनुष्य, गृह, सम्पदा इत्यादि परिग्रह [**त्यक्तुम्**] सर्वथा छोड़ना [**न शक्यः**] शक्य न हो [**सः**] तो उसे [**अपि**] भी [**तनू**] न्यून [**करणीयः**] कर देना चाहिये [**यतः**] कारण कि [**निवृत्तिरूपं**][1] त्यागरूप ही [**तत्त्वम्**] वस्तु का स्वरूप है ।

टीका:—'**योऽपि मनुष्यः धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादिः त्यक्तुम् न शक्तः सोऽपि मनुष्यः धनधान्यादिकः तनूकरणीयः यतः तत्त्वं निवृत्तिरूपं अस्ति**' – जो प्राणी धन (गाय-भैंस आदि), धान्य (गेहूं-यवादि अन्न), मनुष्यादि (पुत्रादिक अथवा दासादिक), वास्तु (मकानादि,, वित्त (सोना-चांदिरुपया आदि) इत्यादि समस्त बहिरंग (दस प्रकार के) परिग्रह को सर्वथा छोड़ने मे अशक्त हो, उसे उसमें से थोड़ा परिग्रह रखने का परिमाण करना चाहिये, कारण तत्त्व त्यागरूप ही है ।

भावार्थः—बहिरंग परिग्रह मूलतः सजीव और अजीव के भेद से दो प्रकार का है । दोनों के दश भेद हैं – क्षेत्र, मकान, चांदी, सोना, धन – चार पगवाले पशु, वस्त्र, पात्र, अनाज,[2] दासी, दास इत्यादि बाह्य परिग्रह के दश भेद हैं । इनका यदि सम्पूर्ण त्याग न कर सके, तो (जितना

---

१ तत्त्व निवृत्तिरूप है उसका अर्थः—प्रत्येक वस्तु स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावसे सदा परिपूर्ण ही है और परद्रव्यादिसे शून्य अर्थात् निवृत्तिरूप ही है । वर्तमान अशुद्ध दशामे परद्रव्यके आलम्बनसे रागी जीवों को बाह्यसामग्रीके प्रति ममत्वरूप राग भूमिकानुसार होता है, उसका स्वाश्रयके बलसे त्याग करानेके लिये बाह्यपदार्थके त्यागका उपदेश है । वास्तवमें तो आत्माके परवस्तुकात्याग ही है । किन्तु जो कुछ राग, ममत्वभाव है, उसके त्यागरूप निर्मल परिणाम जितने अशोमे होते है, उतने ही अशोंमें रागादिकी उत्पत्ति ही नही होती । जहाँ ऐसा होवे वहाँ उस जीवको हरवस्तु के त्यागका कर्त्ता कहना वह उस जातिके अभावरूप निमित्तका ज्ञान करानेके लिये असद्भूत व्यवहारयका कथन है । (निश्चय सम्यग्दर्शन बिना अज्ञानीके हठरूप त्यागको व्यवहार से भी धर्म संज्ञा नही होती) ।

२ दासी दासादिको द्विपद=दो पैरवाला कहने में आता है ।

अपने पास वर्तमान में विद्यमान हो, उसमें से जितना बन सके उतना कम कर देना) अपनी आवश्यकतानुसार परिग्रह करके ही परिग्रह रखना और शेष का त्याग करना, कारण कि तत्त्व त्यागरूप है। जबतक यह आत्मा त्यागधर्म[1] का आचरण नहीं करता है, तबतक उसे मोक्ष नहीं मिल सकता। निवृत्ति नाम भी मोक्ष का ही है। इसप्रकार हिंसादि पांचों पापों का विस्तृत वर्णन किया।

रात्रि भोजन त्याग का वर्णन

रात्रौ भुञ्जानानां यस्मादनिवारिता भवति हिंसा।
हिंसाविरतैस्तस्मात् त्यक्तव्या रात्रिभुक्तिरपि ॥१२६॥

अन्वयार्थ:--[**यस्मात्**] कारण कि [**रात्रौ**] रात में [**भुञ्जानानां**] भोजन करनेवाले को [**हिंसा**] हिंसा [**अनिवारिता**] अनिवार्य [**भवति**] होती है [**तस्मात्**] इसलिए [**हिंसाविरतः**] हिंसा के त्यागियों को [**रात्रिभुक्तिः अपि**] रात्रि भोजन का भी [**त्यक्तव्या**] त्याग करना चाहिये।

टीका :—'**यस्मात् रात्रौ भुञ्जानानां अनिवारिता हिंसा भवति तस्मात् हिंसाविरतैः रात्रिभुक्तिः अपि त्यक्तव्य**'—रात में भोजन करनेवाले को हिंसा अवश्य ही होती है; क्योंकि रात्रि भोजन में हिंसा का निवारण किसी भी प्रकार नही हो सकता, अतः हिंसा के त्यागियों को रात्रि भोजन का त्याग अवश्य ही करना चाहिये।

भावार्थ:—रात्रि में भोजन करने से जीवों की हिंसा अवश्य ही होती है। प्रायः ऐसे छोटे-छोटे बहुत जीव हैं, जो रात में ही गमन करते हैं और दीपक के प्रकाश के प्रेम से दीपक के पास आते हैं, अतः रात में चूल्हा जलाने में पानी आदि भरने में, चक्की से पीसने में, भोजन बनाने में नियम से असंख्य जीवों की हिंसा होती है, इसलिए हिंसा का त्याग करनेवाले दयालु पुरुषों को रात में खाने का अवश्य ही त्याग करना चाहिये।

---

१ त्यागधर्म=जिस प्रकार प्रकाश की उत्पत्ति के बिना अंधेरा नहीं टलता, उसी प्रकार निज शुद्धात्मा के आश्रय द्वारा निर्मल श्रद्धा-ज्ञान और स्वरूप में एकाग्रतारूप शुद्ध परिणति की प्राप्ति किए बिना राग का त्याग अर्थात् वीतरागी धर्मरूप मोक्ष का उपाय और मोक्ष नहीं मिलता।

रात्रि भोजन में भावहिंसा भी होती है :—

रागाद्युदयपरत्वादनिवृत्तिर्नातिवर्तते हिंसाम् ।
रात्रिं दिवमाहरतः कथं हि हिंसा न संभवति ।।१३०।।

अन्वयार्थ:—[**अनिवृत्तिः**] अत्यागभाव [**रागाद्युदयपरत्वात्**] रागादिभावों के उदय की उत्कटता से [**हिंसा**] हिंसा को [**न-अतिवर्तते**] उल्लंघन करके नहीं प्रवर्तते, तो [**रात्रिं दिवम्**] रात और दिन [**आहरतः**] आहार करनेवाले को [**हि**] निश्चय से [**हिंसा**] हिंसा [**कथं**] क्यों [**न संभवति**] संभव नहीं होगी ?

टीका.—**'रागादिउदयपरत्वात् अनिवृत्तिः (अत्यागः) हिंसां न अतिवर्तते यतः रात्रिं दिवम् आहरतः (भुञ्जानस्य) हि हिंसा कथं न संभवति ? (अपितु संभवति एवं')** — रागादिभाव उत्कृष्ट होने के कारण रागादि का अत्यागपना हिंसा का उल्लंघन नहीं कर सकता । जहां जीव के उत्कृष्ट रागभाव होता है, वहां त्याग नहीं हो सकता और रागभाव ही हिंसा है, अतः जहां तक रागादि का त्याग नहीं है, वहां तक अहिंसा नहीं है, अपितु हिंसा ही है । तो फिर रात-दिन खानेवाले को हिंसा क्यों न हो ? नियम से होती ही है, रागादि का होना ही वास्तविक हिंसा का लक्षण है ।

शंकाकार की शंका

यद्येवं तर्हि दिवा कर्त्तव्यो भोजनस्य परिहारः ।
भोक्तव्यं तु निशायां नेत्थं नित्यं भवति हिंसा ।।१३१।।

अन्वयार्थ:—[**यदि एवं**] यदि ऐसा है अर्थात् सदाकाल भोजन करने में हिंसा है [**तर्हि**] तो [**दिवा भोजनस्य**] दिन में भोजन करने का [**परिहारः**] त्याग [**कर्त्तव्यः**] कर देना चाहिये [**तु**] और [**निशायां**] रात में [**भोक्तव्यं**] भोजन करना चाहिये, क्योंकि [**इत्थं**] इस तरह से [**हिंसा**] हिंसा [**नित्यं**] सदाकाल [**न भवति**] नहीं होगी ।

टीका:—**'यदि एवं तर्हि दिवा भोजनस्य परिहारः तु निशायां भोक्तव्यं इत्थं नित्यं हिंसा न भवति'** – यहां कोई तर्क करता है कि दिन और रात दोनों समय भोजन करने से हिंसा होती है, तो दिन में भोजन का त्याग करके रात में ही भोजन ग्रहण करना चाहिये, जिससे

सदाकाल हिंसा न हो। ऐसा ही नियम किस लिये बनाया कि दिन में ही भोजन किया जाय और रात में न किया जाय ?

आचार्य इसका उत्तर देते हैं :—

नैवं वासरभुक्तेर्भवति हि रागोऽधिको रजनिभुक्तौ।
अन्नकवलस्य भुक्तेर्भुक्ताविव मांसकवलस्य ॥१३२॥

अन्वयार्थः—[**एवं न**] ऐसा नही है कारण कि [**अन्नकवलस्य**] अन्न के ग्रास के [**भुक्तेः**] भोजन से [**मांसकवलस्य**] मांस के ग्रास के [**भुक्तौ इव**] भोजन मे जिस प्रकार राग अधिक होता है उसी प्रकार [**वासर भुक्तेः**] दिन के भोजन की अपेक्षा [**रजनिभुक्तौ**] रात्रि भोजन से [**हि**] निश्चय से [**रागाधिकः**] अधिक राग [**भवति**] होता है।

टीकाः—**'हि रजनिभुक्तौ अधिकः रागः भवति वासरभुक्ते एवं न भवति यथा अन्नकवलस्य भुक्तौ मासकवलस्य भुक्तौ इव'** — निश्चय से रात्रि भोजन करने मे अधिक रागभाव है और दिन में भोजन करने मे कम रागभाव है। जैसे अन्न के भोजन मे कम रागभाव है और मास के भोजन मे अधिक रागभाव है।

भावार्थः—उदर भरने की अपेक्षा तो दोनो भोजन समान है, परन्तु प्रत्येक प्राणी को अन्न, दूध, घी इत्यादि खाने में तो साधारण रागभाव है अर्थात् न्यून लोलुपता है; क्योंकि अन्न का आहार तो सर्व मनुष्यों को सहज ही है इसलिये प्रायः अधिक प्राणी तो अन्न का ही भोजन करते हैं, तथा मास के भोजन मे कामादिक की अपेक्षा अथवा शरीर के स्नेह – मोह की अपेक्षा विशेष रागभाव होता है, क्योंकि मांस का भोजन सभी मनुष्यो का स्वाभाविक – प्राकृतिक आहार नही है। उसी तरह दिन के भोजन में प्रायः सभी प्राणियो को साधारण रागभाव है, क्योंकि दिवा भोजन सर्व प्राणियो को होता है तथा रात के भोजन मे कामादिक की अपेक्षा तथा शरीर मे अधिक स्नेह की अपेक्षा अधिक रागभाव है, इसलिये रात का भोजन बहुत कम मनुष्यो के होता है।

यह स्वाभाविक बात है कि दिन में भोजन करने से जितनी अच्छी तरह से पाचन होता है और जितना अच्छा स्वास्थ्य रहता है, उतना रात में खाने मे कभी नही रह सकता, इसलिये रात्रि भोजन का त्याग

करना चाहिये और दिन में ही भोजन करना चाहिये। इस प्रकार शंकाकार की शका का निराकरण हुआ।

रात्रिभोजन में द्रव्यहिंसा

अर्कालोकेन विना भुञ्जानः परिहरेत् कथं हिंसाम् ।
अपि बोधितः प्रदीपे भोज्यजुषां सूक्ष्मजीवानाम् ।।१३३।।

अन्वयार्थः—तथा [**अर्कालोकेन विना**] सूर्य के प्रकाश बिना रात में [**भुञ्जानः**] भोजन करनेवाला मनुष्य [**बोधित प्रदीपे**] जलते हुए दीपक में [**अपि**] भी [**भोज्यजुषा**] भोजन में मिले हुए [**सूक्ष्मजीवानाम्**] सक्ष्म जीवों की [**हिंसा**] हिसा [**कथ**] किस तरह [**परिहरेत्**] टाल सकता है।

टीका:—**'बोधित प्रदीपे अपि अर्कालोकेन विना भुञ्जान भोज्यजुषां सूक्ष्मजंतूनाम् हिंसा कथं परिहरेत्'**—रात में दीपक जलाने पर भी सूर्य के प्रकाश के बिना रात्रि में भोजन करनेवाला पुरुष, भोजन में प्रीति रखनेवाले सूक्ष्म जन्तु वगैरह है, उनकी हिंसा से नहीं बच सकता।

भावार्थः रात्रि में विना दीपक जलाये जो पुरुष भोजन करता है, उसके आहार में तो बड़े-बड़े छिपकली आदि जीव भी पड़ जावें, तब भी उनका पता नही चलता और यदि दीपक जलाकर सावधानी भी वर्ती जाय, तो भी उसके भोजन में दीपक के सम्बन्ध से तथा भोज्य-पदार्थ के सम्बन्ध से आने वाले छोटे-छोटे पतगे तथा मच्छर आदि अवश्य गिरते हैं और उनकी हिंसा भी अवश्यम्भावी है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि रात्रिभोजी मनुष्य द्रव्य और भाव दोनों प्रकार की हिंसाओं से बच नहीं सकता, अतः अहिंसाव्रत पालन करने वाले को रात्रिभोजन अवश्य त्याग देना चाहिये। जो मनुष्य रात्रि को सिंगाड़ा आदि की पकोड़ी, पूड़ी आदि लाकर या बनाकर खाते हैं, वे भी दोनों प्रकार की हिंसा करते हैं।

किं वा बहुप्रलपितैरिति सिद्धं यो मनोवचनकायैः ।
परिहरति रात्रिभुक्तिं सततमहिंसां स पालयति ।।१३४।।

अन्वयार्थः—[**वा**] अथवा [**बहुप्रलपितै**] बहुत प्रलाप से [**किं**] क्या ? [**यः**] जो पुरुष [**मनोवचनकायैः**] मन, वचन, काय से [**रात्रि-**

भुक्ति] रात्रि भोजन का [**परिहरति**] त्याग करता है, [**स**] वह [**सततम्**] निरन्तर [**अहिंसां**] अहिंसा का [**पालयति**] पालन करता है [**इति सिद्धम्**] ऐसा सिद्ध हुआ।

टीका—'वा बहुप्रलपितै किं इति सिद्धं य मनोवचनकायै रात्रिभुक्तिं परिहरति स सततम् अहिंसा पालयति'—अथवा बहुत कहने से क्या? यह बात सिद्ध हुई कि जो मनुष्य मन, वचन, काय से रात्रिभोजन का त्याग करता है वह निरन्तर अहिंसाव्रत का पालन करता है।

भावार्थः—रात्रिभोजन करने में और रात में भोजन बनाने में सदैव हिंसा है। रात्रि में भोजन करने की अपेक्षा रात्रि में भोजन बनाने में बहुत अधिक हिंसा होती है, इसलिये अहिंसाव्रत पालन करनेवाले को प्रथम ही इसका त्याग करना चाहिये। खासतौर से बाजार के बने हुए पदार्थों का तो बिलकुल ही त्याग करना चाहिये। परन्तु यदि पाक्षिक श्रावक किसी कारणवश सम्पूर्ण त्याग न कर सके तो पानी, पान, मेवा, सुपारी, इलायची इत्यादि वस्तुयें जिन में रात में बिलकुल आरम्भ न करना पड़े, ग्रहण करना चाहे तो कर सकता है, परन्तु वह तभी गहण करे, जब कि उनके पानी के बिना निर्वाह अशक्य हो। (वास्तव में रात्रिभोजन के त्याग बिना अहिंसाव्रत की सिद्धि होती ही नहीं इसीलिये कोई आचार्य तो इसे अहिंसाणुव्रत में गर्भित करते हैं और कोई इसे जुदा ही षष्टम अणुव्रत कहते हैं)

इत्यत्र त्रितयात्मनि मार्गे मोक्षस्य ये स्वहितकामाः।
अनुपरतं प्रयतन्ते प्रयान्ति ते मुक्तिमचिरेण ॥१३५॥

अन्वयार्थः—[**इति**] इस प्रकार [**अत्र**] इस लोक में [**ये**] जो [**स्वहितकामा**] अपने हित के इच्छुक [**मोक्षस्य**] मोक्ष के [**त्रितयात्मनि**] रत्नत्रयात्मक [**मार्गे**] मार्ग में [**अनुपरत**] सर्वदा बिना अटके हुए [**प्रयतन्ते**] प्रयत्न करते हैं [**ते**] वे पुरुष [**मुक्तिम्**] मोक्ष में [**अचिरेण**] शीघ्र ही [**प्रयान्ति**] गमन करते हैं।

टीका:—'ये [पुरुषाः] स्वहितकामाः इत्यत्र त्रितयात्मनि मोक्षमार्गे अनुपरतं प्रयतन्ते ते [पुरुषाः] अचिरेण मुक्तिं प्रयान्ति' – जो जीव अपने हित की इच्छा करता हुआ इस रीति से रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग में सदैव प्रयत्न करता रहता है, वह जीव शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त करता है। जीव मात्र का हित मोक्ष है, संसार में अन्य कहीं भी आनन्द नहीं है, अतः जो जीव मोक्ष में जाने के इच्छुक हैं, उन्हे सदैव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्ग में निरन्तर प्रयत्न करते रहना चाहिये। जो जीव मोक्ष की मात्र चर्चा-वार्ता तो करते रहे, किन्तु मोक्ष के मार्ग की खोज न करें और उसके अनुसार चलने का प्रयत्न न करे, तो कभी मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकते और जो जीव उसके मार्ग में चलते हैं अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेते हैं, वे जीव तुरन्त ही मोक्ष के परमधाम में पहुच जाते हैं।

इसप्रकार (तत्त्वज्ञानपूर्वक) पाँचों पाप के त्याग सहित पाँच अणुव्रत तथा रात्रि भोजन के त्याग का वर्णन करके अब सात शीलव्रतों का वर्णन करते हैं, क्योंकि सात शीलव्रत पांच अणुव्रतों की रक्षा करने के लिये नगर के कोट समान हैं। जैसे किला नगर का रक्षण करता है, वैसे ही सात शीलव्रत पाँच अणुव्रतों की रक्षा करते हैं, वही कहते हैं—

परिधय इव नगराणि व्रतानि किल पालयन्ति शीलानि ।
व्रतपालनाय तस्माच्छीलान्यपि पालनीयानि ॥१३६॥

अन्वयार्थः—[**किल**] निश्चय से [**परिधयः इव**] जैसे कोट, किला [**नगराणि**] नगरों की रक्षा करता है, उसी तरह [**शीलानि**] तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये सात शील [**व्रतानि**] पाँचों अणव्रतों का [**पालयन्ति**] पालन अर्थात् रक्षण करते हैं, [**तस्मात्**] इसलिये [**व्रतपालनाय**] व्रतों का पालन करने के लिये [**शीलानि**] सात शीलव्रत [**अपि**] भी [**पालनीयानि**] पालन करना चाहिये।

टीका:—'किल शीलानि व्रतानि पालयन्ति परिधयः नगराणि इव तस्मात् व्रतपालनाय शीलानि अपि पालनीयानि' – निश्चय से जो सात शीलव्रत हैं, वे पांचों अणुव्रतों की रक्षा करते हैं, जिसप्रकार कोट नगर की रक्षा करता है, इसलिये पांच अणुव्रतों का पालन करने के लिये तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत – इसप्रकार ये सात शीलव्रतों का अवश्य

पालन करना ही चाहिये। अब उनका ही वर्णन करते हैं वह सुनो। तीन गुणव्रतों के नाम – १. दिग्व्रत, २. देशव्रत, ३. अनर्थदण्डत्यागव्रत। चार शिक्षाव्रत के नाम – १. सामायिक, २. प्रोषधोपवास, ३. भोगोपभोगपरिमाणव्रत, ४. वैयावृत – इस प्रकार ये सात शीलव्रत हैं।

पहले दिग्व्रत नाम के गुणव्रत का स्वरूप कहते हैं:—

प्रविधाय सुप्रसिद्धैर्मर्यादां सर्वतोऽप्यभिज्ञानैः।
प्राच्यादिभ्यो दिग्भ्यः कर्त्तव्या विरतिरविचलिता ॥१३७॥

अन्वयार्थः—[**सुप्रसिद्धैः**] भले प्रकार प्रसिद्ध [**अभिज्ञानैः**] ग्राम, नदी, पर्वतादि भिन्न-भिन्न लक्षणों से [**सर्वतः**] सभी दिशाओं में [**मर्यादां**] मर्यादा [**प्रविधाय**] करके [**प्राच्यादिभ्यः**] पूर्वादि [**दिग्भ्यः**] दिशाओं में [**अविचलिता विरतिः**] गमन न करने की प्रतिज्ञा [**कर्त्तव्या**] करना चाहिये।

टीका:—'**सुप्रसिद्धैः अभिज्ञानैः सर्वतः मर्यादां प्रविधाय प्राच्यादिभ्यः दिग्भ्यः अविचलिता विरतिः कर्त्तव्या**' – प्रसिद्ध तथा सर्वविदित महान पर्वतादि, नगरादि अथवा समुद्रादि से सीमा बांधकर जीवनपर्यन्त चार दिशा, चार विदिशा और ऊपर तथा नीचे इसप्रकार दशों दिशाओं में जाने की प्रतिज्ञा कर लेना चाहिये तत्पश्चात् उस बांधी हुई मर्यादा से बाहर जीवनभर न जाने को दिग्व्रत कहते हैं। यहाँ पर्वत इत्यादि अथवा हवाई जहाज में बैठकर ऊपर जाने की अपेक्षा ऊर्ध्वदिशा का और कुआँ या समुद्रादि में घुसने की अपेक्षा अधोदिशा का ग्रहण किया गया है।

दिग्व्रत पालन करने का फल

इति नियमितदिग्भागे प्रवर्तते यस्ततो बहिस्तस्य।
सकलासंयमविरहाद् भवत्यहिंसाव्रतं पूर्णम् ॥१३८॥

अन्वयार्थः—[**यः**] जो [**इति**] इसप्रकार [**नियमितदिग्भागे**] मर्यादा की हुई दिशाओं के अन्दर [**प्रवर्तते**] रहता है [**तस्य**] उस पुरुष को [**ततः**] उस क्षेत्र के [**बहिः**] बाहर के [**सकलासंयमविरहात्**] समस्त असयम के त्याग के कारण [**पूर्णं**] परिपूर्ण [**अहिंसाव्रतं**] अहिंसाव्रत [**भवति**] होता है।

टीका:—'यः [पुरुष] इति नियमितदिग्भागे प्रवर्तते तस्य ततः बहिः सकलासंयमविरहात् पूर्णं अहिंसाव्रतं भवति' – जो मनुष्य इस भाँति मार्यादित दशों दिशाओं के क्षेत्र के अन्दर ही अपना सारा कार्य करता है, उसको उन क्षेत्रों से बाहर समस्त ही असंयम का त्याग होने के कारण सम्पूर्ण अहिंसाव्रत (महाव्रत) पल जाता है, अतः दिग्व्रत पालन करने से अहिंसाव्रत पुष्ट होता है ।

देशव्रत नामक गुणव्रत का स्वरूप

तत्रापि च परिमाणं ग्रामापणभवनपाटकादीनाम् ।
प्रविधाय नियतकालं करणीयं विरमणं देशात् ।।१३९।।

अन्वयार्थः—[**च**] और [**तत्र अपि**] उस दिग्व्रत में भी [**ग्रामापणभवनपाटकादीनाम्**] ग्राम, बाजार, मकान, मोहल्ला इत्यादि का [**परिमाण**] परिमाण [**प्रविधाय**] करके [**देशात्**] मर्यादा किये हुये क्षेत्र से बाहर [**नियतकालं**] अपने निश्चित किये हुये समय तक जाने का [**विरमणं**] त्याग [**करणीयं**] करना चाहिये ।

टीका:—'तत्रापि च दिग्व्रते पि ग्रामापणभवनपाटकादीनाम् नियतकालं परिमाणं प्रविधाय देशात् विरमणं करणीयम्' – दिग्व्रत में दशों दिशाओं की मर्यादा की थी, उसमें भी ग्राम, बाजार, मकान, मोहल्ला वगैरह तक एक दिन, एक सप्ताह, एक पक्ष. महीना, अयन, वर्ष इत्यादि निश्चित काल तक जाने-आने का प्रमाण करके बाहर के क्षेत्र से विरक्त होना देशव्रत कहलाता है । इस देशव्रत से भी अहिंसा का पालन होता है ।

इति विरतो बहुदेशात् तदुत्थहिंसाविशेषपरिहारात् ।
तत्कालं विमलमतिः श्रयत्यहिंसां विशेषेण ।।१४०।।

अन्वयार्थः—[**इति**] इसप्रकार [**बहुदेशात् विरतः**] बहुत क्षेत्र का त्याग करनेवाला [**विमलमतिः**] निर्मल बुद्धिवाला श्रावक [**तत्कालं**] उस नियमित काल में [**तदुत्थहिंसाविशेषपरिहारात्**] मर्यादाकृत क्षेत्र से उत्पन्न होनेवाली हिंसा विशेष के त्याग से [**विशेषेण**] विशेष रूपसे [**अहिंसा**] अहिंसाव्रत का [**श्रयति**] आश्रय करता है ।

टीका:—'इति बहुदेशात् विरतोः विमलमतिः तत्काल तदुत्थ-हिंसाविशेषपरिहारात् विशेषेण अहिंसां श्रयति' – इसप्रकार दिग्व्रत में

किए हुए क्षेत्र का परिमाण करके उस क्षेत्र से बाहर हिंसा का त्याग होने पर भी उत्तम बुद्धिवाला श्रावक, जो उस समय दूसरे भी थोड़े क्षेत्र की मर्यादा करता है, तो वह विशेषरूप से अहिंसा का आश्रय करता है। जिस पुरुष ने जीवन भर के लिये दक्षिण में कन्याकुमारी और उत्तर में हिमालय तक जाने का दिग्व्रत किया है, वह हमेशा तो हिमालय नहीं जाता इसलिये वह रोजाना ऐसी प्रतिज्ञा करता है कि आज मैं अमुक गाँव में ही रहूँगा, उससे बाहर नहीं जाऊँगा। अतः जिस दिन वह उस गाँव में ही रहने का नियम कर लेता है, उस दिन उस गांव के बाहर के प्रदेश में अहिंसा महाव्रत का पालन हो जाता है।

अनर्थदण्डत्याग नामक गुणव्रत का स्वरूप

बिना प्रयोजन पाप के उत्पन्न करने के त्याग को अनर्थदण्डत्यागव्रत कहते हैं, उसके पांच भेद हैं – १. अपध्यानत्यागव्रत २. पापोपदेश-त्यागव्रत, ३. प्रमादचर्यात्यागव्रत, ४. हिंसादानत्यागव्रत, ५. दुःश्रुति त्यागव्रत।

अपध्यानअनर्थदण्डत्यागव्रत का स्वरूप

पापर्द्धिजयपराजयसङ्गरपरदारगमनचौर्याद्याः ।
न कदाचनापि चिन्त्याः पापफलं केवलं यस्मात् ॥१४१॥

अन्वयार्थः—[**पापर्द्धि-जय-पराजय-सङ्गर-परदारगमन-चौर्याद्याः**] शिकार, जय, पराजय, युद्ध, परस्त्रीगमन, चोरी आदिका [**कदाचनापि**] किसी भी समय [**न चिन्त्याः**] चिन्तवन नहीं करना चाहिये [**यस्मात्**] कारण कि इन अपध्यानों का [**केवलं**] मात्र [**पापफलं**] पाप ही फल है।

टीका:—'**पापर्द्धि-जय-पराजय-सङ्गर-परदारगमन-चौर्याद्याः कदाचन न चिन्त्याः यस्मात् केवलं पापफलं भवति**' – शिकार करने की (अर्थात् इस जीव को इसप्रकार मारें ऐसा भाव करना), संग्राम में किसी की हार, परस्त्रीगमन करने का चिंतवन अथवा चोरी करने का इत्यादि खराब-खोटे कार्यों की, जिनके करने से मात्र पाप ही होता है, उनका कभी भी चिंतवन नहीं करना चाहिये। अतः जिस बात का विचार करने से केवल पाप का ही बन्धन होता है, उसे ही अपध्यान कहते हैं और स्वरूप में विशेष सावधानी द्वारा उसका त्याग करना ही अपध्यानअनर्थदण्ड-त्यागव्रत है।

पापोपदेश नामक अनर्थदण्डत्यागव्रत का स्वरूप

विद्यावाणिज्यमषीकृषिसेवाशिल्पजीविनां पुंसाम् ।
पापोपदेशदानं कदाचिदपि नैव वक्तव्यम् ।।१४२।।

अन्वयार्थः—[**विद्या-वाणिज्य-मषी-कृषि-सेवा-शिल्पजीविनां**] विद्या, व्यापार, लेखनकला, खेती, नौकरी और कारीगरी से निर्वाह चलानेवाले [**पुंसाम्**] पुरुषों को [**पापोपदेशदानं**] पाप का उपदेश मिले ऐसा वचन [**कदाचित् अपि**] किसी भी समय [**नैव**] नहीं [**वक्तव्यम्**] बोलना चाहिये ।

टीका:—'**विद्या-वाणिज्य-मषी-कृषि-सेवा-शिल्पोजीविनां पुंसाम् पापोपदेशदानं वचनं कदाचित् अपि नैव वक्तव्यम्** – विद्या अर्थात् वैद्यक, ज्योतिष आदि करनेवाला, अन्नादिक का व्यापार करनेवाला, लेखनकार्य करनेवाला, नौकरीचाकरी करनेवाला तथा लुहार,सुनार, दर्जी आदि के काम करनेवालों को इन्हीं कार्यों सम्बन्धी अथवा दूसरा कोई भी पापबन्ध करनेवाला कार्य हो उस का किसी को भी उपदेश नहीं देना चाहिये – इसीको पापोपदेश अनर्थदण्डत्यागव्रत कहते हैं । श्रावक गृहस्थ अपने कुटुम्बियों को, भाईबन्धों को, सगेसम्बन्धियों को अथवा जिनके साथ अपना प्रयोजन है उनको तथा अपने साधर्मी भाइयों को जीवन निर्वाह करने के लिये अवश्य व्यापारादि का उपदेश देकर निमित्त सम्बन्धी चेष्टा कर सकता है, परन्तु जिनके साथ अपना कोई भी प्रयोजन नहीं है, उन्हें उपदेश नहीं देना चाहिये ।

प्रमादचर्या अनर्थदण्डत्यागव्रत का स्वरूप

भूखननवृक्षमोट्टनशाड्वलदलनाम्बुसेचनादीनि ।
निष्कारणं न कुर्याद्दलफलकुसुमोच्चयानपि च ।।१४३।।

अन्वयार्थः–[**भूखनन-वृक्षमोट्टन-शाड्वलदलनअम्बुसेचनादीनि**] पृथ्वी खोदना, वृक्ष उखाड़ना, अतिशय घासवाली भूमि रौंदना, पानी सींचना आदि [**च**] और [**दलफलकुसुमोच्चयान्**] पत्र, फल, फूल तोड़ना [**अपि**] इत्यादि भी [**निष्कारणं**] बिना प्रयोजन [**न कुर्यात्**] नहीं करना चाहिये ।

टीका:—'**निष्कारणं भूखनन-वृक्षमोट्टन-शाड्वलदलन-अम्बुसेचनादीनि च दलफलकुसुमोच्चयान् अपि च न कुर्यात्** – बिना प्रयोजन पृथ्वी

खोदना, वृक्ष उखाड़ना, घास को रौंदना, पानी सींचना फैलाना तथापत्ता, फल, फूल तोड़ना इत्यादि कोई भी कार्य नहीं करना चाहिए।

भावार्थः—गृहस्थ श्रावक अपने प्रयोजन के लिये भूमिकानुसार कुछ भी कर सकता है; परन्तु जिसमें अपना कुछ भी स्वार्थ न हो, जैसे कि रास्ता चलते वनस्पति आदि तोड़ना, भूमि खोदते चलना इत्यादि व्यर्थ के काम नहीं करना उसे ही प्रमादचर्या अनर्थदण्डत्यागव्रत कहते हैं।

हिंसाप्रदान अनर्थदण्डत्यागव्रत का स्वरूप

असिधेनुविषहुताशनलाङ्गलकरवालकार्मुकादीनाम्।
वितरणमुपकरणानां हिंसायाः परिहरेद्यत्नात् ॥१४४॥

अन्वयार्थः—[**असिधेनु-विष-हुताशन-लाङ्गल करवाल-कार्मुकादीनाम्**] छुरी, विष, अग्नि, हल, तलवार, धनुष आदि [**हिंसायाः**] हिंसा के [**उपकरणानां**] उपकरणों का [**वितरणम्**] वितरण करना अर्थात दूसरों को देना [**यत्नात्**] सावधानी से [**परिहरेत्**] छोड़ देना चाहिये।

टीकाः—'**हिंसायाः उपकरणानांअसिधेनु-विष-हुताशन-लाङ्गल-करवाल-कार्मुकादीनाम् परिहरेत्**' – हिंसा करने के साधन छुरी, विष, अग्नि, हल, तलवार, धनुष-बाण आदि का देना प्रयत्न से दूर करे अर्थात् अन्य को नहीं देना चाहिये, इसीको हिंसादान अनर्थदण्डत्यागव्रत कहते हैं। जिन वस्तुओं के देने से हिंसा होती हो, उन वस्तुओं का उपयोग प्रयोजन-वश अपने लिये तो कर सकते हैं, किन्तु अन्यको वे वस्तुएं कभी भी नहीं देना चाहिए।

दुःश्रुति अनर्थदण्डत्यागव्रत का स्वरूप

रागादिवर्द्धनानां दुष्टकथानामबोधबहुलानाम्।
न कदाचन कुर्वीत श्रवणार्जनशिक्षणादीनि ॥१४५॥

अन्वयार्थः—[**रागादिवर्द्धनानां**] राग, द्वेष, मोहादि को बढ़ानेवाली तथा [**अबोधबहुलानाम्**] बहुत अंशों में अज्ञान से भरी हुई [**दुष्टकथानाम्**] दुष्ट कथाओं का [**श्रवणार्जनशिक्षणादीनि**] सुनना, धारण करना, सीखना आदि [**कदाचन**] किसी समय, कभी भी [**न कुर्वीत**] नहीं करना चाहिए।

टीका: –'अबोध (मिथ्यात्व) बहुलानां रागादिवर्द्धनानां दुष्टकथानां श्रवणार्जनशिक्षणादीनि न कदाचन कुर्वीत' – मिथ्यात्वसहित राग, द्वेष, वैरभाव, मोह, मदादि बढ़ानेवाली कुकथाओं का श्रवण तथा नवीन कथायें बनाना, बांचना वगैरह कभी भी नहीं करना चाहिये, इसे ही दुःश्रुति अनर्थदण्डत्यागव्रत कहते हैं।

भावार्थ:—जो कथा सुनने से, पढ़ने से और सीखने से विषयादि की वृद्धि होगी, मोह बढ़ेगा और अपने तथा पर के परिणामों में संक्लेश होगा, अतः ऐसी राजकथा, चोरकथा, भोजनकथा, स्त्रीकथा इत्यादि कथायें कहना या सुनना नहीं चाहिये।

महाहिंसा का कारण और अनेक अनर्थ उत्पन्न करनेवाला जुआ भी त्याग करना चाहिये:—

सर्वानर्थप्रथममं मथनं शौचस्य सद्म मायायाः।
दूरात्परिहरणीयं चौर्यासत्यास्पदं द्यूतम् ॥१४६॥

अन्वयार्थ:—[सर्वानर्थप्रथमं] सप्त व्यसनों में पहला अथवा सर्व अनर्थों में मुख्य [शौचस्य मथनं] सन्तोष का नाश करनेवाला, [मायायाः] मायाचार का [सद्म] घर और [चौर्यासत्यास्पदम्] चोरी तथा असत्य का स्थान [द्यूतम्] ऐसे जुआ का [दूरात्] दूर से ही [परिहरणीयम्] त्याग करना चाहिये।

टीका:—'सर्वानर्थप्रथमम् मथनं शौचस्य, सद्म मायायाः चौर्यासत्यास्पदं द्यूतम् दूरात् परिहरणीयम्' – सभी अनार्थों को उत्पन्न करनेवाला, लोभ का त्याग शौच, उसका नाश करनेवाला और कपट का घर ऐसे जुआ को दूरसे ही छोड़ना चाहिये।

भावार्थ:—वास्तव में जुआ खेलना बहुत ही निन्द्य काम है और व्यसनों में सबसे अधिक निकृष्ट है। जुआरी मनुष्य प्रायः सभी पापों का आचरण करता है, अतः जुआ का त्याग अवश्य करना चाहिये। अनर्थदण्ड त्यागनेवाले को जुआ का भी त्याग करना चाहिये।

विशेष कहते हैं:—

एवंविधमपरमपि ज्ञात्वा मुञ्चत्यनर्थदण्डं यः।
तस्यानिशमनवद्यं विजयमहिंसाव्रतं लभते ॥१४७॥

अन्वयार्थ:—[यः] जो मनुष्य [एवं विधं] इसप्रकार के [अपरमपि] दूसरे भी [अनर्थदण्डं] अनर्थदण्ड को [ज्ञात्वा] जानकर

[**मुञ्चति**] त्याग करता है, [**तस्य**] उसके [**अनवद्यं**] निर्दोष [**अहिंसाव्रतं**] अहिंसाव्रत [**अनिशं**] निरन्तर [**विजयं**] विजय को [**लभते**] प्राप्त करता है।

टीका:—'यः एवं विधं अपरम् अपि अनर्थदण्डं ज्ञात्वा मुञ्चति तस्य अनवद्यं अहिंसाव्रतं अनिशं विजयं लभते' – जो मनुष्य इसप्रकार दूसरे भी बिना प्रयोजन पापबन्ध करनेवाले अनर्थदण्ड को जानकर छोड़ देता है, उसका पापरहित अहिंसाव्रत हमेशा विजय प्राप्त करता है अर्थात् सदैव पुण्यबन्ध करके पाप का त्याग करता हुआ, कर्मों की निर्जरा करता है।

भावार्थ:—संसार में ऐसे छोटे-छोटे अनेक कार्य हैं, जिनको करने से व्यर्थ ही पाप का बन्ध हुआ करता है, अतः सभी मनुष्यों को जिससे अपना कोई प्रयोजन नहीं है, ऐसे व्यर्थ अनर्थदण्ड का त्याग अवश्य करना चाहिये - यही कर्त्तव्य है।

इसप्रकार तीन गुणव्रतों का वर्णन समाप्त हुआ।

अब चार शिक्षाव्रतों का वर्णन करते हैं:—

पहला सामायिक शिक्षाव्रत

रागद्वेषत्यागान्निखिलद्रव्येषु साम्यमवलम्ब्य ।
तत्त्वोपलब्धिमूलं बहुशः सामायिकं कार्यम् ।।१४८।।

अन्वयार्थ:—[**रागद्वेषत्यागात्**] रागद्वेष के त्याग से [**निखिलद्रव्येषु**] सभी इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में [**साम्यं**] साम्यभाव को [**अवलम्ब्य**] अंगीकार करके [**तत्त्वोपलब्धिमूलं**] आत्मतत्त्व की प्राप्ति का मूलकारण ऐसा [**सामायिकं**] सामायिक [**बहुशः**] बहुत बार [**कार्यम्**] करना चाहिये।

टीका:—**'निखिलद्रव्येषु रागद्वेषत्यागात् साम्यं अवलम्ब्य तत्त्वोपलब्धिमूलं सामायिकं बहुशः कार्यम्'** – समस्त इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में राग-द्वेष भावों के त्यागपूर्वक समताभाव का अवलम्बन करके आत्मा के (शुद्ध) स्वरूप की प्राप्ति करने में मूलकारण सामायिक है. वह बार-बार करना चाहिये अर्थात् प्रतिदिन तीन बार करना चाहिये। यही सामायिक शिक्षाव्रत है।

भावार्थः—'सम्' अर्थात् एकरूप और 'अय' अर्थात् आत्मा के स्वरूप में गमन, वह 'समय' हुआ। ऐसा 'समय' जिसका प्रयोजन है, उसे सामायिक कहते हैं। यह सामायिक समताभाव के बिना नहीं हो सकता, अतः सुखदायक और दुखदायक पदार्थों में समान बुद्धि रखते हुए स्वरूप में मग्न होना ही परमकार्य है। श्रावक को ऐसी सामायिक तीनों काल पांचों पापों का त्याग करके अवश्य करना चाहिये। इसे ही सामायिक शिक्षाव्रत कहते हैं।

सामायिक कब और किस प्रकार से करना चाहिये यह बताते हैं:—

रजनीदिनयोरन्ते तदवश्यं भावनीयमविचलितम्।

इतरत्र पुनः समये न कृतं दोषाय तद्गुणाय कृतम् ॥१४९॥

अन्वयार्थः—[**तत्**] वह सामायिक [**रजनीदिनयोः**] रात्रि और दिन के [**अन्ते**] अन्त में [**अविचलितम्**] एकाग्रतापूर्वक [**अवश्यं**] अवश्य [**भावनीयम्**] करना चाहिये [**पुनः**] और यदि [**इतरत्र समये**] अन्य समय में भी [**कृतं**] करने में आवे, तो [**तत्कृतं**] वह सामायिक कार्य [**दोषाय**] दोष के लिये [**न**] नहीं है, अपितु [**गुणाय**] गुण के लिये ही होती है।

टीका—'**तत् सामायिकं रजनीदिनयोः अन्ते अवश्यं अविचलितं भावनीयम् पुनः इतरत्र समये दोषाय कृतम् न किन्तु तत् गुणाय कृतम् अस्ति**' – वह सामायिक* प्रत्येक श्रावक को रात दिन के अन्त में अर्थात् प्रभात और सन्ध्याकाल अवश्य ही नियमपूर्वक करना चाहिये। इसके अतिरिक्त यदि शेष समय में भी सामायिक की जावे, तो वह गुण के निमित्त ही है, दोष के निमित्त नहीं है।

---

*सामायिक के लिए १. योग्य क्षेत्र, २. योग्य काल, ३. योग्य आसन, ४. विनय ५. मनशुद्धि, ६. वचनशुद्धि, ७. भावशुद्धि, ८. कायशुद्धि – इन आठ बातों की अनुकूलता होना आवश्यक है। उसमें भेदज्ञान पूर्वक स्वसन्मुखता के बल से जितनी परिणामों की शुद्धता हो उतनी निश्चय सामायिक है, वहाँ वर्तते हुए शुभराग को व्यवहार सामायिक कहते हैं। निश्चय सम्यग्दर्शनज्ञानपूर्वक जिसने कषाय की दो चौकड़ियों का अभाव किया है, उस जीव के सच्चे अणुव्रत और सामायिक व्रत होता है। जिसके निश्चय सम्यग्दर्शन न हुआ हो, उसके व्रत को भगवान सर्वज्ञदेव बालव्रत अर्थात् अज्ञानमयव्रत कहते हैं।

भावार्थः—गृहस्थ श्रावक गृहस्थी के अनेक कार्यों में संलग्न रहता है, अतः उसके लिये आलम्बनरूप प्रभात और सन्ध्या दोनों समय आचार्यों ने नियमित किये हैं। यों तो सामायिक जब भी इच्छा हो की जा सकती है, उससे आत्मा का कल्याण ही है, नुकसान कदापि नहीं है। इसलिये प्रत्येक श्रावक को दोनों समय अथवा तीन समय उत्कृष्ट छह घड़ी, मध्यम चार घड़ी, जघन्य दो घड़ी तक पांचों पाप तथा आरम्भ परिग्रह त्याग करके एकान्त स्थान में मन शुद्ध करके पहले पूर्व दिशा में नमस्कार करना अर्थात् अंगों को भूमि से लगाकर नमना, फिर नौ बार नमस्कार मंत्र का जाप करना, पश्चात् तीन आवर्त्तन अर्थात् हाथ जोड़कर प्रदक्षिणा करना, और एक शिरोनति अर्थात् हाथ जोड़कर मस्तक नमाना – इसप्रकार चारों दिशाओं में करके खड्गासन अथवा पद्मासन धारण करके सामायिक करना चाहिये और जब सामायिक पूर्ण हो जाय, तब अन्त में भी प्रारम्भ की तरह नौ बार नमस्कार मन्त्र का जाप, तीन-तीन आवर्त्तन, एक-एक शिरोनति करना चाहिये। यही सामायिक करने की स्थूल विधि है। सामायिक करते समय सामायिक काल में श्रावक भी मुनि के समान ही है।

सामायिकाश्रितानां समस्तसावद्ययोगपरिहारात्।
भवति महाव्रतमेषामुदयेऽपि चरित्रमोहस्य ॥१५०॥

अन्वयार्थः—[**एषाम्**] यह [**सामायिकाश्रितानां**] सामायिक दशा को प्राप्त श्रावकों को [**चरित्रमोहस्य**] चारित्रमोह का [**उदये अपि**] उदय होने पर भी [**समस्तसावद्ययोगपरिहारात्**] समस्त पाप के योग का त्याग होने से [**महाव्रत**] महाव्रत [**भवति**] होता है।

टीकाः – '**सामायिकाश्रितानां एषां श्रावकानां समस्तसावद्ययोगपरिहारात् चरित्रमोहस्य उदये अपि महाव्रतं भवति**' – सामायिक करनेवाले श्रावक के उससमय समस्त पांचों पापों का त्याग होने से प्रत्याख्यानावरण चारित्रमोहनीयकर्म का उदय होने पर भी महाव्रत ही है।

भावार्थः—श्रावक जिससमय सामायिक कर रहा हो, उससमय वास्तव में उसकी अवस्था मुनि समान ही है, भेद केवल इतना ही है कि मुनि दिगम्बर है और श्रावक वस्त्रसहित है, मुनि महाराज ने प्रत्याख्यानावरण कषायों का त्याग कर दिया है और श्रावक ने अभी तक प्रत्याख्यानावरण कषाय का त्याग नहीं किया है।

अब दूसरे शिक्षाव्रत प्रोषधोपवास का स्वरूप कहते हैं:—

सामायिकसंस्कारं प्रतिदिनमारोपितं स्थिरीकर्तुम् ।
पक्षार्द्धयोर्द्वयोरपि कर्त्तव्योऽवश्यमुपवासः ॥१५१॥

अन्वयार्थः—[**प्रतिदिनं**] प्रतिदिन [**आरोपितं**] अंगीकार किए [**सामायिक संस्कारं**] सामायिकरूप संस्कार को [**स्थिरीकर्तुम्**] स्थिर करने के लिये [**द्वयोः**] दोनों [**पक्षार्द्धयोः**] पक्ष के अर्द्ध भाग में अर्थात् अष्टमी और चतुर्दशी के दिन [**उपवासः**] उपवास [**अवश्यमपि**] अवश्य ही [**कर्त्तव्यः**] करना ।

टीका:—'**प्रतिदिनं आरोपितं सामायिक संस्कारं स्थिरीकर्तुम् द्वयोरपि पक्षार्द्धयोः अवश्यं उपवासः कर्त्तव्यः**' – प्रतिदिन अंगीकार किये हुए सामायिक व्रत की दृढ़ता करने के लिये दोनों पखवाड़ों के (शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष के) अर्द्ध भाग में चतुर्दशी और अष्टमी के दिन उपवास अवश्य करना चाहिये ।

भावार्थ:—प्रोषध का अर्थ है पर्व और उपवास का अर्थ है 'निकट-वास करना' । पर्व में पाप से छूटकर धर्म में वास करने को प्रोषधोपवास कहते हैं । यह प्रोषधोपवास प्रत्येक महीने में चार बार किया जाता है अर्थात् प्रत्येक चतुर्दशी और अष्टमी के दिन किया जाता है । इससे सामायिक करने की भावना दृढ़ रहती है अर्थात् विषयकषायों से चित्त सदा विरक्त ही रहता है, इसलिये प्रत्येक गृहस्थ को सामायिक अवश्य ही करना चाहिए ।

प्रोषधोपवास की विधि

मुक्तसमस्तारम्भः प्रोषधदिनपूर्ववासरस्यार्द्धे ।
उपवासं गृह्णीयान्ममत्वमपहाय देहादौ ॥१५२॥

अन्वयार्थः—[**मुक्तसमस्तारम्भः**] समस्त आरम्भ से मुक्त होकर [**देहादौ**] शरीरादि में [**ममत्वं**] ममत्वबुद्धि का [**अपहाय**] त्याग करके [**प्रोषधदिनपूर्ववासरस्यार्द्धे**] पर्व के पहले दिन के मध्याह्न काल में [**उपवासं**] उपवास को [**गृह्णीयात्**] अंगीकार करना चाहिए ।

टीका:—'**प्रोषधदिनपूर्ववासरस्यार्द्धे मुक्तसमस्तारम्भः देहादौ ममत्वं अपहाय उपवासं गृह्णीयात्**' – जिस दिन उपवास करना है, उसके एक

दिन पहले अर्थात् धारणा के दिन समस्त आरम्भ छोड़कर चार प्रकार के आहार का त्याग करके शरीरादि में ममत्वभाव छोड़कर उपवास ग्रहण करें।

भावार्थः—जैसे अष्टमी के दिन उपवास करना है, तो सप्तमी के दोपहर के बारह बजे से चारों प्रकार के आहार का त्याग करके समस्त आरम्भ का त्याग करते हुए शरीरादि से मोह छोड़कर उपवास धारण करना चाहिए।

उपवास के दिन का कर्त्तव्य

श्रित्वा विविक्तवसतिं समस्तसावद्ययोगमपनीय।
सर्वेन्द्रियार्थविरतः कायमनोवचनगुप्तिभिःस्तिष्ठेत् ॥१५३॥

अन्वयार्थः—फिर [**विविक्तवसतिं**] निर्जन वसतिका[1] – निवास-स्थान में [**श्रित्वा**] जाकर [**समस्तसावद्ययोगं**] सम्पूर्ण सावद्ययोग[2] का [**अपनीय**] त्याग करके [**सर्वेन्द्रियार्थविरतः**] सर्व इन्द्रियों से विरक्त होकर [**कायमनोवचनगुप्तिभिः**] मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति सहित [**तिष्ठेत्**] स्थित होवे।

टीकाः—'**विविक्तवसतिं श्रित्वा समस्त सावद्ययोगं अपनीय सर्वेन्द्रियार्थविरतः कायमनोवचनगुप्तिभिः तिष्ठेत्**' – जिसने सप्तमी के दिन उपवास धारण किया है, वह श्रावक उसी समय एकान्त स्थान में जाकर [सोलह पहर अर्थात् ४८ घण्टे के लिये] हिंसादि पांच पापों को संकल्प-पूर्वक त्याग करके पाँचों इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होकर मन, वचन और काय को वश रखे अर्थात् तीन गुप्ति का पालन करे।

भावार्थः—उपवास का सारा समय धर्मध्यानादि में व्यतीत करना चाहिये। एकान्त स्थान के बिना धर्मध्यान नहीं हो सकता, इसलिये

---

१ प्राचीन समय में नगर-ग्रामों के बाहर धर्मात्माजन मुनियों के ठहरने के लिये, आराम के लिए अथवा सामायिक आदि करने के लिये झोंपड़ी आदि बनवा देते थे, उसे वसतिका कहते थे। अनेक नगरों में वसतिका आजकल भी देखने में आती है।

२ सम्पूर्ण सावद्ययोग का त्याग=जिस समय सावद्ययोग का त्याग करे, उससमय "सर्व सावद्ययोग का त्यागी होता हूं" – ऐसी प्रतिज्ञा करे।

एकान्त स्थान धर्मशाला, चैत्यालय वगैरह में वास करे और मन में विचार करे तो केवल धार्मिक बातों का ही विचार करे, वचन बोले तो धार्मिक बातों का ही विवेचन करे तथा काय की चेष्टा करे तो अपनी मर्यादा प्रमाण क्षेत्र में धर्मरूप ही करे, निरर्थक चलना फिरना न करे इस – भाँति तीनों गुप्तियों का पालन करे।

पश्चात् क्या करना चाहिये, यह बताते हैं:—

धर्मध्यानासक्तो वासरमतिवाह्य विहितसान्ध्यविधिम् ।
शुचिसंस्तरे त्रियामां गमयेत्स्वाध्यायजितनिद्रः ।।१५४।।

अन्वयार्थ:—[**विहितसान्ध्यविधिम्**] प्रातःकाल तथा सन्ध्याकाल की सामायिकादि क्रिया करके [**धर्मध्यानासक्तः**] धर्मध्यान में लीन होकर [**अतिवाह्य वासरम्**] दिवस व्यतीत करे और [**स्वाध्यायजितनिद्रः**] पठनपाठन से निद्रा को जीतकर [**शुचिसंस्तरे**] पवित्र बिस्तर (चटाई आदि) पर [**त्रियामां**] रात [**गमयेत्**] पूर्ण करे।

टीका:—'**धर्मध्यानासक्तो वासरं अतिवाह्य विहितसान्ध्यविधिम् स्वाध्यायजितनिद्रः शुचिसंस्तरे त्रियामां गमयेत्**' – उपवास अंगीकार करके श्रावक धर्मध्यान में लीन होकर दिवस पूर्ण करके तथा सन्ध्यासमय सामायिक आदि करके तीन पहर तक पवित्र बिस्तर में यथाशक्ति स्वाध्याय करते हुए रात्रि व्यतीत करे।

भावार्थ:—यह उपवास धारण का दिन है, अतः दोपहर के बारह बजे से सन्ध्याकाल तक धर्मध्यान करना, फिर सामायिक करके स्वाध्याय करना पश्चात् शयन करना और यथाशक्ति ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करना। इसके बाद प्रातःकाल चार बजे बिस्तर को छोड़कर जागृत हो जाना चाहिये।

इसके बाद क्या करना ?

प्रातः प्रोत्थाय ततः कृत्वा तात्कालिकं क्रियाकल्पम् ।
निर्वर्तयेद्यथोक्तं जिनपूजां प्रासुकैर्द्रव्यैः ।।१५५।।

अन्वायार्थ:—[**ततः**] इसके बाद [**प्रातः**] सुबह ही [**प्रोत्थाय**] उठकर [**तात्कालिकं**] प्रातःकाल की [**क्रियाकल्पम्**] सामायिकादि क्रियायें [**कृत्वा**] करके [**प्रासुकैः**] प्रासुक अर्थात् जीवरहित [**द्रव्यैः**]

द्रव्यों से [**यथोक्तं**] आर्ष ग्रन्थों में कहे अनुसार [**जिनपूजां**] जिनेन्द्रदेव की पूजा [**निर्वर्तयेत्**] करे।

टीका:—'**ततः प्रातः प्रोत्थाय तात्कालिकं क्रियाकल्पं कृत्वा यथोक्तं प्रासुकैः द्रव्यैः जिनपूजां निर्वर्तयेत्**' – शयन के बाद चार बजे ब्रह्ममुहूर्त में जाग्रत होकर सामायिक और भजन व स्तुति आदि करके शौचस्नानादि से निपटकर प्रासुक आठ द्रव्यों से भगवान की पूजा करना तथा स्वाध्याय आदि करना।

भावार्थ:—आचार्यों का अभिप्राय यहाँ प्रासुक द्रव्यों से पूजन करने का है, अतः जल को लौंग द्वारा प्रासुक[1] बना लेना चाहिए या जल को उबाल लेना चाहिए और उसी जल से द्रव्यों को धोना चाहिए। भगवान की पूजा में अनेक प्रकार के सचित्त पदार्थ जैसे नारङ्गी, मौसम्मी, गन्ना इत्यादि उपवास के व्रतधारियों को कदापि नहीं चढ़ाना चाहिए।

उक्तेन ततो विधिना नीत्वा दिवसं द्वितीयरात्रिं च।
अतिवाहयेत्प्रयत्नादर्धं च तृतीयदिवस्य ॥१५६॥

अन्वयार्थ:—[**ततः**] उसके बाद [**उक्तेन**] पूर्वोक्त [**विधिना**] विधि से [**दिवसं**] उपवास का दिन [**च**] और [**द्वितीयरात्रिं**] दूसरी रात को [**नीत्वा**] व्यतीत करके [**च**] फिर [**तृतीयदिवसस्य**] तीसरे दिन का [**अर्धं**] आधा भाग भी [**प्रयत्नात्**] अतिशय यत्नाचारपूर्वक [**अतिवाहयेत्**] व्यतीत करे।

टीका:—'**ततः उक्तेन विधिना दिवसं नीत्वा च द्वितीयरात्रिं नीत्वा च तृतीय दिवसस्य अर्द्धं प्रयत्नात् अतिवाहयेत्**' – फिर जिस प्रकार धर्मध्यानपूर्वक पहले आधा दिन व्यतीत किया था, उसी प्रकार दूसरा दिन भी व्यतीत करके तथा जैसे स्वाध्यायपूर्वक पहली रात व्यतीत की थी, वैसे ही दूसरी रात भी व्यतीत करके अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक तीसरा आधा दिन भी व्यतीत करना चाहिए।

---

१ प्रासुक=जो द्रव्य सूखा हो, पका हुआ हो, अग्नि पर तपाया हुआ हो, लवण तथा अम्लरस मिश्रित हो, कोल्हू, छुरी, चक्की आदि यन्त्रोंसे छिन्न-भिन्न किया हुआ हो, तथा संशोधित हो, वह सभी प्रासुक द्रव्य है।

यह गाथा स्वामी कार्तिकेय ग्रन्थ की संस्कृत टीका में तथा गोमट्टसार की केशववर्णी कृत संस्कृत टीका में सत्यवचन के भेदों में कही गई है।

भावार्थः—जिसप्रकार धारणा का दिन व्यतीत किया था, उसी प्रकार पारणा का दिन भी व्यतीत करे। धारणा से लेकर पारणा तक का सोलह पहर का समय (४८ घण्टे) श्रावक को भले प्रकार धर्मध्यान-पूर्वक ही व्यतीत करना चाहिए, तभी उसका उपवास करना सार्थक है; कारण कि विषयकषायों का त्याग करने के लिए ही उपवासादि किये जाते हैं।

अब उपवास करने का फल बताते हैं:—

इति यः षोडशयामान् गमयति परिमुक्तसकलसावद्यः।
तस्य तदानीं नियतं पूर्णमहिंसाव्रतं भवति ॥१५७॥

अन्वयार्थः—[**यः**] जो जीव [**इति**] इसप्रकार [**परिमुक्तसकल-सावद्यः**] सम्पूर्ण पापक्रियाओं से रहित होकर [**षोडश यामान्**] सोलह पहर [**गमयति**] व्यतीत करता है, [**तस्य**] उसे [**तदानीं**] उससमय [**नियतं**] निश्चयपूर्वक [**पूर्णं**] सम्पूर्ण [**अहिंसाव्रतं**] अहिंसाव्रत [**भवति**] होता है।

टीका—'**इति (पूर्वोक्तरीत्या) यः (श्रावकः) परिमुक्तसकल-सावद्यः षोडशयामान् गमयति, तस्य (श्रावकस्य) तदानीं नियतं पूर्णं अहिंसाव्रतं भवति**' – जिसप्रकार से उपवास की विधि बताई हैं, उसी प्रकार से जो श्रावक सम्पूर्ण आरम्भ-परिग्रह का त्याग करके सोलह पहर व्यतीत करता है, उस श्रावक को उन सोलह पहर में नियम से पूर्ण अहिंसाव्रत का पालन होता है।

भावार्थः—उपवास तीन प्रकार का है – उत्कृष्ट उपवास १६ पहर का है, मध्यम उपवास १२ पहर का है, जघन्य उपवास ८ पहर का है। यथा (१) सप्तमी के दिन दोपहर को १२ बजे उपवास धारण किया और नवमी के दिन दोपहर को १२ बजे पारणा किया – इसतरह १६ पहर हुए, यह उत्कृष्ट उपवास है। (२) सप्तमी के दिन सन्ध्या समय ५ बजे उपवास धारण किया और नवमी के दिन प्रातः ७ बजे पारणा किया, यह १२ पहर का मध्यम उपवास है। (३) जघन्य उपवास आठ पहर का है। अष्टमी के दिन प्रातः ८ बजे उपवास धारण किया और नवमी के दिन प्रातः ८ बजे पारणा किया। वह ८ पहर का जघन्य उपवास हुआ।

उपवास में विशेषतः अहिंसा की पुष्टि होती है:—

भोगोपभोगहेतोः स्थावरहिंसा भवेत् किलामीषाम् ।
भोगोपभोग विरहाद्भवति न लेशोऽपि हिंसायाः ।।१५८।।

अन्वयार्थः—[**किल**] निश्चय से [**अमीषाम्**] इस देशव्रती श्रावक को [**भोगोपभोगहेतोः**] भोगोउपभोग के हेतु से [**स्थावरहिंसा**] स्थावर अर्थात् एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा [**भवेत्**] होती है, परन्तु [**भोगोपभोग विरहात्**] भोगोपभोग के त्याग से [**हिंसायाः**] हिंसा [**लेशः अपि**] लेशमात्र भी [**न भवति**] नहीं होती ।

टीका:—'**किल अमीषाम् (श्रावकानाम्) भोगोपभोगहेतोः स्थावरहिंसा भवेत् (अतः उपवासे) भोगोपभोगविरहात् हिंसायाः लेशोऽपि न भवति**' — निश्चय से इन देशव्रती श्रावकों को भोगोपभोग के निमित्त से स्थावरहिंसा होती है, क्योंकि वे त्रसहिंसा के तो पूर्णरूप से त्यागी ही हैं। जब गृहस्थ श्रावक उपवास में समस्त आरम्भ, परिग्रह और पांचों पापों का सम्पूर्ण त्याग कर देता है, तब उसे उपवास में स्थावरहिंसा भी नहीं होती । कारण कि भोगोपभोग का त्याग हो जाने से हिंसा का अंशमात्र भी नहीं रहा, इसलिए अहिंसा महाव्रत का पालन हुआ ।

इसी प्रकार उपवास में अहिंसा महाव्रत की तरह अन्य चार महाव्रत भी पालन हो जाते हैं — यह बात बताते हैं:—

वाग्गुप्तेर्नास्त्यनृतं न समस्तादानविरहितः स्तेयम् ।
नाब्रह्म मैथुनमुचः सङ्गो नाङ्गेऽप्यमूर्छस्य ।।१५९।।

अन्वयार्थः—और उपवासधारी पुरुष के [**वाग्गुप्तेः**] वचनगुप्ति होने से [**अनृतं**] असत्य वचन [**न**] नहीं है, [**समस्तादानविरहितः**] सम्पूर्ण अदत्तादान के त्याग से [**स्तेयम्**] चोरी [**न**] नहीं है, [**मैथुनमुचः**] मैथुन के त्याग से [**अब्रह्म**] अब्रह्मचर्य [**न**] नहीं है और [**अंगे**] शरीर में [**अमूर्छस्य**] ममत्व न होने से [**सङ्ग**] परिग्रह [**अपि**] भी [**न**] नहीं है ।

टीका:—'वाग्गुप्ते: अनृतं नास्ति, समस्तादानविरहित: स्तेयं नास्ति, मैथुनमुच: अब्रह्म नास्ति, अङ्गे अपि अमूर्छस्य सङ्ग: नास्ति ।' — उपवासधारी पुरुष के वचनगुप्ति का पालन होने से सत्य महाव्रत का पालन होता है, बिना दी हुई समस्त वस्तुओं के ग्रहण करने का त्याग होने से अचौर्य महाव्रत का पालन होता है, सम्पूर्ण मैथुन कर्म का त्याग होने से ब्रह्मचर्य महाव्रत का पालन होता है तथा शरीर में ही ममत्वपरिणाम न होने से परिग्रहत्याग महाव्रत का पालन भी होता है, इसप्रकार उपवास से चारों महाव्रतों का पालन हो जाता है ।

अब यहां कोई शंका करे कि अब श्रावक को भी महाव्रत है और मुनियों को भी महाव्रत है तो दोनों में क्या अन्तर है ? उसका उत्तर :—

इत्थमशेषितहिंसा: प्रयाति स महाव्रतित्वमुपचारात् ।
उदयति चरित्रमोहे लभते तु न संयमस्थानम् ।।१६०।।

अन्वयार्थ:—[**इत्थम्**] इसप्रकार [**अशेषितहिंसा:**] सम्पूर्ण हिंसाओं से रहित [**स:**] वह प्रोषधोपवास करनेवाला पुरुष [**उपचारात्**] उपचार से अथवा व्यवहारनय से [**महाव्रतित्वं**] महाव्रतपना [**प्रयाति**] पाता है, [**तु**] परन्तु [**चारित्रमोहे**] चारित्रमोह के [**उदयति**] उदयरूप होने के कारण [**संयमस्थानम्**] संयमस्थान अर्थात् प्रमत्तादि गुणस्थान [**न लभते**] प्राप्त नहीं करता ।

टीका:—**'इत्थं अशेषितहिंसा: स: (श्रावक) उपचारात् महाव्रतित्वं प्रयाति, तु चारित्रमोहे उदयति (सति) संयमस्थानं न लभते'** — इसप्रकार जिसके हिंसा अवशेष नहीं है, ऐसा श्रावक उपचार से महाव्रती कहलाता है । वास्तव में वह महाव्रती नहीं है, क्योंकि प्रत्याख्यानावरण चारित्रमोहनीय कर्म के उदय में युक्त होने से वह श्रावक महाव्रत संयम को प्राप्त नहीं हो सकता ।

भावार्थ:—वास्तव में जिसके प्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभ का अभाव हो गया है, वह संयमी महाव्रती कहलाता है; परन्तु जिसके उन कषायों का अभाव तो नहीं हुआ है, किन्तु उन द्रव्यरूप पांचों पापों का अभाव हो गया हो तो उसको उपचार से महाव्रत है; वास्तव में महाव्रत नहीं है, क्योंकि पूर्ण संयम प्रमत्तगुणस्थान में ही प्रारम्भ होता है और वह प्रमत्त गुणस्थान प्रत्याख्यानावरण कषाय के अभाव बिना नहीं होता है । इस भांति प्रोषधोपवास का वर्णन किया ।

यह प्रोषधोपवास सभी श्रावकों को करना चाहिये, क्योंकि इसमें पांचों महापापों का त्याग हो जाता है तथा पाँचों इन्द्रियों के विषय तथा कषायों का दमन भी हो जाता है। जो गृहस्थ केवल मान-बड़ाई के लिये ही उपवास अंगीकार करता है और अपने कषायों का त्याग नहीं करता, उसका उपवास करना न करना समान ही है।

तीसरा शिक्षाव्रत – भोगोपभोगपरिमाण

भोगोपभोगमूला विरताविरस्य नान्यतो हिंसा।
अधिगम्य वस्तुतत्त्वं स्वशक्तिमपि तावपि त्याज्यौ ।।१६१।।

अन्वयार्थः—[**विरताविरतस्य**] देशव्रती श्रावक को [**भोगोपभोग-मूला**] भोग और उपभोग के निमित्त से होनेवाली [**हिंसा**] हिंसा होती है [**अन्यतः न**] अन्य प्रकार से नहीं होती, इसलिये [**तौ**] वे दोनों अर्थात् भोग और उपभोग [**अपि**] भी [**वस्तुतत्त्वं**] वस्तुस्वरूप [**अपि**] और [**स्वशक्तिं**] अपनी शक्ति को [**अधिगम्य**] जानकर अर्थात् अपनी शक्ति अनुसार [**त्याज्यौ**] छोड़ने योग्य हैं।

टीका:—'**विरताविरतस्य भोगोपभोगमूला हिंसा भवति अन्यतः न इति हेतोः श्रावकेन वस्तुतत्त्वं अधिगम्य तथा स्वशक्ति अपि अधिगम्य तौ अपि भोगोपभोगौ त्याज्यौ**' – व्रत व अव्रत के धारी देशव्रती श्रावक को भोग और उपभोग सम्बन्धी हिंसा होती है, किन्तु अन्य प्रकार की कोई दूसरी हिंसा नहीं होती; इसलिये वस्तुस्वरूप जानकर अर्थात् इस वस्तु के भोगने में इतना दोष है, यह वस्तु भक्ष्य है, यह वस्तु अभक्ष्य है, ऐसा विचार करके तथा अपनी शक्ति अर्थात् शरीर और परिणामों की शक्ति को जानकर जितना बन सके उतना भोगोपभोग का परिमाण करके शेष का त्याग कर देना चाहिए।

भावार्थ—जो एक बार भोगने में आवे उसे भोग कहते हैं। जैसे दाल, भात, रोटी, पूड़ी, दूध, दही, पेड़ा, जलेबी, पानी, पुष्पमाला इत्यादि सभी भोग पदार्थ हैं। जो बार-बार भोगने में आवे उसे उपभोग कहते हैं, जैसे कपड़ा, बर्तन, घर, खेत, गाय, बैल, जेवर, सवारी इत्यादि सभी उपभोग पदार्थ हैं। श्रावक को इन पदार्थों के सम्बन्ध से हिंसा होती है, इसलिये उसे इन हिंसा के कारणों का भी शीघ्र ही त्याग करना चाहिये।

एकमपि प्रजिघांसु निहन्त्यनन्तान्यतस्ततोऽवश्यम् ।
करणीयमशेषाणां परिहरणमनन्तकायानाम् ॥१६२॥

अन्वयार्थः—[**ततः**] कारण कि [**एकम्**] एक साधारण शरीर को – कन्दमूलादिक को [**अपि**] भी [**प्रजिघांसु**] घात करने की इच्छा करनेवाला पुरुष [**अनन्तानि**] अनन्त जीवों को [**निहन्ति**] मारता है, [**अतः**] इसलिये [**अशेषाणां**] सम्पूर्ण [**अनन्तकायानां**] अनन्तकाय का [**परिहरणं**] परित्याग [**अवश्यं**] अवश्य [**करणीयम्**] करना चाहिये ।

टीका:—'**एकं अपि प्रजिघांसुः अतः अनन्तानि निहन्ति ततः अशेषाणां अनन्तकायानां अवश्यं परिहरणं करणीयम्**' – एक कन्दमूल सम्बन्धी जीव को खाने की इच्छा करनेवाला गृहस्थ, उस जीव के साथ-साथ उसके आश्रय रहनेवाले साधारण अनन्त जीव हैं, उन सभी का घात करता है, इसलिये साधारण अनन्तकायवाली जितनी वनस्पतियाँ हैं, उन सभी का * अवश्य त्याग करना चाहिये ।

भावार्थ—वनस्पति साधारण और प्रत्येक इसतरह दो प्रकार की होती है । इसमें से साधारण वनस्पति का त्याग तो गृहस्थ श्रावक को सर्वथा ही कर देना चाहिये ।

अब यहाँ प्रत्येक और साधारण के सभी भेद-प्रभेद स्वरूप से कथन किये जा रहे हैं । पांच स्थावरों में से पृथ्वीकाय, जलकाय, वायुकाय, अग्निकाय इन चार में तो निगोद के जीव रहते नहीं, केवल एक वनस्पतिकाय में ही रहते हैं । उसके प्रत्येक और साधारण इस प्रकार दो भेद हैं । जिस शरीर का एक ही स्वामी हो, उसे प्रत्येक कहते हैं और जिस शरीर के अनन्त स्वामी हों, उसे साधारण कहते हैं । प्रत्येक के भी दो भेद हैं – सप्रतिष्ठित-प्रत्येक और अप्रतिष्ठित-प्रत्येक । जो निगोद सहित हो

---

* उन सभी का त्याग अर्थात् उन सम्बन्धी राग का त्याग, वह भी मिथ्या अभिप्राय के त्यागरूप और स्वाश्रय के ग्रहणरूप सम्यग्दर्शन के बिना यथार्थरीति से व्यवहार त्याग नहीं कहला सकता । धर्मीजीव को त्रस व स्थावर जीव के भेद जानना चाहिये । दोइन्द्रिय आदिसे पंचेन्द्रिय तक जीवों को त्रस तथा पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वायुकायिक, अग्निकायिक, और वनस्पतिकायिक जीवों को स्थावर कहते हैं । (स्थावर जीव को एकेन्द्रियपना है)

अर्थात् जिस शरीर का मूल स्वामी एक हो और उस शरीर के आश्रय अनन्त जीव रहते हों, उसे सप्रतिष्ठित-प्रत्येक कहते हैं। जिस शरीर का मूल स्वामी एक हो और उसके आश्रय अनन्त जीव न रहते हों अर्थात् निगोद सहित न हो, उसे अप्रतिष्ठित-प्रत्येक कहते हैं।

साधारण वनस्पति का लक्षण:—जिसको तोड़ने पर समान भङ्ग हो, जिसके पत्तों में जबतक तन्तु रेखा और नसाजाल न निकले हों, जिसकी मूल, कन्द, कन्दमूल, छाल, पत्ते, छोटी डाली, फूल फल और बीज में उसके तोड़ते समय समान भंग हो जाय, तबतक वह सभी साधारण वनस्पति है और जब उनमें समान भंग न हो, तब वह वनस्पति प्रत्येक हो जाती है। यद्यपि साधारण वनस्पति तथा सप्रतिष्ठित-प्रत्येक वनस्पति इन दोनों में अनन्त जीव हैं, तो भी साधारण वनस्पति के शरीर में जितने जीव हैं, वे सभी उस शरीर के स्वामी हैं और उस वनस्पति के तोड़ने-काटने पर उन सभी जीवों का घात होता है, और सप्रतिष्ठित-प्रत्येक वनस्पति के एक शरीर में शरीर का स्वामी तो एक ही है, किन्तु उस शरीर के आश्रय अनन्त जीव हैं, वे सभी स्वामी नहीं हैं और उस शरीर के स्वामी के मरने-जीने के साथ उन समस्त जीवों के मरने-जीने का कोई सम्बन्ध नहीं है – बस यही दोनों में भेद है, इसलिये गृहस्थ श्रावक को साधारण वनस्पति का सर्वथा ही त्याग करना चाहिये और सप्रतिष्ठित-प्रत्येक का भी त्याग करना चाहिये, क्योंकि एक साधारण वनस्पति के एक शरीर में अनन्तानन्त जीव रहते हैं, इसलिये जब हम एक आलू खाते हैं, तब अनन्तानत जीवों का घात करते हैं।

अब यहाँ एक साधारण वनस्पति का विचार किया जाता है। जैसे एक आलू या अदरख इत्यादि साधारण वनस्पति का विचार करें तो उसमें लोक के जितने प्रदेश हैं उनसे असंख्यातगुने शरीर हैं, उन सर्व शरीर के पिण्डों को **'स्कन्ध'** कहते है, (जैसे अपना एक शरीर है)। और उस एक स्कन्ध में असंख्यात लोक प्रमाण **'अण्डर'** हैं, (जैसे अपने शरीर में हाथ, पैर आदि उपांग हैं) और एक अण्डर में असंख्यात लोकप्रमाण **'पुलवी'** हैं, (जैसे अपने हाथ में उँगलियां हैं) और एक पुलवी में असख्यात लोकप्रमाण **'आवास'** हैं (जैसे एक उँगली में तीन पोर होते हैं) और एक आवास में असंख्यात लोकप्रमाण **'निगोद शरीर'** हैं (जैसे एक पोरे में अनेक रेखायें हैं) और एक निगोद शरीर में सिद्ध राशि से अर्थात्

अनन्त मुक्तात्माओं से अनन्तगुने जीव हैं अर्थात् सिद्धालय में जो अनन्त सिद्ध जीव विराजमान हैं, उनसे भी अनन्तगुने जीव एक निगोद शरीर में हैं (जैसे एक उँगली की रेखा में असंख्यात प्रदेश हैं)।

इसप्रकार एक आलू अथवा साधारण हरी के (आलू, अदरक इत्यादि के) टुकड़े में अनन्तानन्त जीव रहते हैं, अतः ऐसी वनस्पतियों का शीघ्र ही त्याग कर देना चाहिये।

आगे इसी को विशेषरूप से बताते हैं:—

नवनीतं च त्याज्यं योनिस्थानं प्रभूतजीवानाम्।
यद्वापि पिण्डशुद्धौ विरुद्धमभिधीयते किञ्चित् ॥१६३॥

अन्वयार्थः—[**च**] और [**प्रभूतजीवानाम्**] बहुत जीवों का [**योनिस्थानं**] उत्पत्तिस्थानरूप [**नवनीतं**] मक्खन (लौनी) [**त्याज्यं**] त्याग करने योग्य है [**वा**] अथवा [**पिण्डशुद्धौ**] आहार की शुद्धि में [**यत्किंचित्**] जो किञ्चित् भी [**विरुद्धं**] विरुद्ध [**अभिधीयते**] कहा गया है, वह [**अपि**] भी त्याग करने योग्य है।

टीका:—'च प्रभूतजीवानां योनिस्थानं नवनीतं त्याज्यम् वा यत्किंचित् विरुद्धं अभिधीयते (तत्) अपि त्याज्यम्।'— तथा बहुत जीवों की उत्पत्ति का स्थान (दही में से निकली हुई अग्नि पर बिना तपाई हुई लौनी) जो ताजा मक्खन, वह भी त्याग करने योग्य है और आहारशुद्धि में जो कुछ भी निषिद्ध बताते हैं, वह सभी छोड़ देना चाहिये।

भावार्थ:—आचारशास्त्र में जो पदार्थ अभक्ष्य और निषिद्ध बताते हैं, उन सबका त्याग करना चाहिये। जैसे कि चमड़े में रखा हुआ अथवा चमड़े का स्पर्श किया हुआ जल, तेल, घी, हींग तथा नल का पानी इत्यादि सभी अशुद्ध हैं; अतः इनका ग्रहण नहीं करना चाहिये। एक मुहूर्त्त अर्थात् ४८मिनिट से अधिक समय का रखा हुआ कच्चा दूध, एक दिन उपरान्त का दही, बाजार का आटा, अनजाना फल, बैंगन, सड़ा हुआ अनाज, बहुबीजवाली वस्तु नहीं खाना चाहिए। मर्यादा उपरान्त के समय का आटा नहीं खाना चाहिये। (अचार, मुरब्बा, घुना हुआ अन्न, दहीबड़ा, अत्यन्त तुच्छफल इत्यादि जो भी वस्तुयें शास्त्र में निषिद्ध हैं, उनका त्याग करना चाहिये।) बत्तीस अंगुल लम्बा, चौबीस अंगुल चौड़ा मोटा स्वच्छ वस्त्र लेकर उसे दोहरा करके पानी छानना चाहिये और वही छना हुआ जल

पीने तथा अन्य काम में प्रयोग करना चाहिये। उस छाने हुये कच्चे पानी की मर्यादा ४८ मिनट की है। छाने हुए पानी में यदि लौंग, इलायची, गोल मिरच इत्यादि कूटकर डाल दी जाय और वह इतनी मात्रा में डाली जाय कि पानी का रङ्ग और स्वाद बदल जाय तो उस जल की मर्यादा दो पहर अर्थात् छह घण्टे की है और जिस पानी को इतना उबाला जाय कि उसमें उछाला आने लगे उस औटाये हुए पानी की मर्यादा २४ घण्टे की है, उसके पश्चात् वह भी किसी काम में नहीं लेना चाहिए। इसप्रकार पानी को उपयोग में लेना चाहिए तथा पानी का गालन भी जिस कुएँ आदि से पानी लाया गया हो, उसी कुएँ आदि में डालना चाहिए अन्य में नहीं। (आटे की मर्यादा शीतऋतु में सात दिन, ग्रीष्म में पांच दिन तथा बरसात में तीन दिन की है, तत्पश्चात् ग्रहण नहीं करना चाहिए।) इस तरह श्रावक को अपनी भोग-उपभोग की सामग्री में विवेक रखकर त्याग और ग्रहण करना चाहिये।

इस सम्बन्ध में और विशेष कहते हैं:—

अविरुद्धा अपि भोगा निजशक्तिमपेक्ष्य धीमता त्याज्याः।
अत्याज्येष्वपि सीमा कार्यैकदिवानिशोपभोग्यतया ॥१६४॥

अन्वयार्थः—[**धीमता**] बुद्धिमान पुरुष [**निजशक्ति**] अपनी शक्ति [**अपेक्ष्य**] देखकर [**अविरुद्धाः**] अविरुद्ध [**भोगाः**] भोग [**अपि**] भी [**त्याज्याः**] छोड़ देवें और जो [**अत्याज्येषु**] उचित भोग-उपभोग का त्याग न हो सके तो उसमें [**अपि**] भी [**एकदिवानिशोपभोग्यतया**] एक दिवस या रात की उपभोग्यता से [**सीमा**] मर्यादा [**कार्या**] करनी चाहिये।

टीका:—'धीमता निजशक्ति अपेक्ष्य अविरुद्धाः अपि भोगाः त्याज्याः तथा अत्याज्येषु अपि एकदिवानिशोपभोग्यतया सीमा कार्या।' – बुद्धिमान श्रावक अपनी शक्ति का विचार करके श्रावक के लिये खानेयोग्य पदार्थ है, उसे भी जितना बन सके उतना छोड़ देवे और जो सर्वथा न छोड़ सके तो उसमें भी एक दिन, एक रात, एक सप्ताह, एक पक्ष आदि की मर्यादा करके क्रम-क्रम से छोड़े (अर्थात् यह भोग मुझे इतने ही काल में भोगना है, अन्य काल में मेरे त्याग है – ऐसी मर्यादा कर लेवे)।

पुनरपि पूर्वकृतायां समीक्ष्य तात्कालिकीं निजां शक्तिम् ।
सीमन्यन्तरसीमा प्रतिदिवसं भवति कर्त्तव्या ।।१६५।।

अन्वयार्थः—[**पूर्वकृतायां**] पहले की हुई [**सीमनि**] मर्यादा में [**पुनः**] फिरसे [**अपि**] भी [**तात्कालिकीं**] उस समय की अर्थात् वर्तमान समय की [**निजां**] अपनी [**शक्तिम्**] शक्ति को [**समीक्ष्य**] विचार कर [**प्रतिदिवसं**] प्रत्येक दिन [**अन्तरसीमा**] मर्यादा में भी थोड़ी मर्यादा [**कर्त्तव्या भवति**] करना योग्य है ।

टीका:—'**पुनरपि पूर्वकृतायां सीमनि तात्कालिकीं निजां शक्तिम् समीक्ष्य प्रतिदिवस अन्तरसीमा कर्त्तव्या भवति ।**' – पहले जो एक दिन, एक सप्ताह इत्यादि क्रम से त्याग किया था, उसमें भी अपनी वर्तमान शक्ति देखकर घड़ी, घन्टा, पहर इत्यादि की थोड़ी-थोड़ी मर्यादा करके जितना त्याग बन सके, उतना त्याग करना चाहिए। इसप्रकार अपने भोग-उपभोग की सामग्री के पदार्थ की संख्या तथा जितने काल की मर्यादा कम कर सके, उतनी अवश्य कम करना चाहिये, इसीमें आत्मा का कल्याण❋ है ।

इति यः परिमितभोगैः सन्तुष्टस्त्यजति बहुतरान् भोगान् ।
बहुतरहिंसाविरहात्तस्याहिंसा विशिष्टा स्यात् ।।१६६।।

अन्वयार्थः—[**यः**] जो गृहस्थ [**इति**] इसप्रकार [**परिमितभोगैः**] मर्यादारूप भोगों से [**सन्तुष्टः**] सन्तुष्ट होकर [**बहुतरान्**] बहुत से [**भोगान्**] भोगों को [**त्यजति**] छोड़ देता है, [**तस्य**] उसके [**बहुतर-हिंसाविरहात्**] अधिक हिंसा के त्याग से [**विशिष्टा अहिंसा**] विशेष अहिंसाव्रत [**स्यात्**] होता है ।

टीका:—'**यः इति परिमितिभोगैः सन्तुष्टः बहुतरान् भोगान् त्यजति तस्य बहुतरहिंसाविरहात् विशिष्टा अहिंसा स्यात् ।**' – इसप्रकार जो श्रावक भोगोपभोग के पदार्थों से सन्तुष्ट होता हुआ बहुत से भोगोपभोग

❋ यहां भूमिकानुसार ऐसा राग आता है, उसका ज्ञान कराने के लिये उपदेशवचन है । आत्मा का कल्याण तो अन्तरङ्ग में निजकारणपरमात्मा के आश्रय से होनेवाली शुद्धिवीतराग भाव है । वहाँ अशुभ से बचने के लिये जो शुभराग आता है, उसे उपचार से – व्यवहार से भला कहने की रीति है ।

के पदार्थों को छोड़ देता है, उसके बहुत हिंसा न होने से विशेष रूप से अहिंसाव्रत होता है।

भावार्थ:—जो श्रावक भोगोपभोग के पदार्थों को मर्यादापूर्वक त्याग करता ही रहता है, उसके उतने ही अंशों में सन्तोष प्रगट होकर लोभादि कषाय के त्यागरूप सम्यक् अहिंसा प्रगट होती है। उस भोग-उपभोग के निमित्त के अवलम्बन करने से हिंसारूप भाव होते थे, उनका त्याग होने से भावहिंसा नहीं हुई और पर जीवों की हिंसा न होने से द्रव्यहिंसा नहीं हुई; तथा उतने ही अंशों में लोभ कषाय का त्याग हो जाने से भावहिंसा भी नहीं हुई; इसलिये (अकषाय-ज्ञातास्वरूप में सावधान ऐसे) त्यागी मनुष्य को अवश्य ही विशेष अहिंसा होती है।

इसप्रकार भोगोपभोगपरिमाण नामक तीसरे शिक्षाव्रत का वर्णन किया।

अब चौथे वैयावृत्त (अतिथिसंविभाग) शिक्षाव्रत का वर्णन करते हैं:—

विधिना दातृगुणवता द्रव्यविशेषस्य जातरूपाय।
स्वपरानुग्रहहेतोः कर्त्तव्योऽवश्यमतिथये भागः ॥१६७॥

अन्वयार्थ:—[**दातृगुणवता**] दाता के गुणों से युक्त गृहस्थ के द्वारा [**जातरूपाय अतिथये**]❀ दिगम्बर मुनि को [**स्वपरानुग्रहहेतोः**] अपने और पर के अनुग्रह के लिये [**द्रव्यविशेषस्य**] विशेष द्रव्य का अर्थात् देने योग्य वस्तु का [**भागः**] भाग [**विधिना**] विधिपूर्वक [**अवश्यम्**] अवश्य ही [**कर्त्तव्यः**] करना चाहिये।

टीका:—'**विधिना दातृगुणवता द्रव्यविशेषस्य जातरूपाय अतिथये स्वपरानुग्रहहेतोः अवश्यं भागः कर्त्तव्यः।**' – नवधाभक्तिपूर्वक तथा दातार के सप्तगुणों से संयुक्त श्रावक को दान देने योग्य वस्तुओं का जो गुणवान पात्र है, उसको अपने तथा पर के उपकार के लिये अवश्य दान करना चाहिये।

❀ जातरूपाय=जन्मप्रमाण (निर्दोष) जैसे रूप मे था, वैसा अर्थात् नग्न दिगम्बर अथवा उत्तम गुणों सहित अतिथि। अतिथि=जिसके आगमन की तिथि का नियम न हो।

भावार्थः—श्रावक जो न्यायपूर्वक धन उपार्जन करते हैं, उन्हें अपने धन में से थोड़ाबहुत धन चार प्रकार के संघ के दान निमित्त अवश्य निकालना चाहिये और उसे विधिपूर्वक दान देना चाहिये। ऐसा करने से उसके धन का सदुपयोग होगा, कर्मों की निर्जरा होगी और चतुर्विध संघ अपने तप की वृद्धि करेंगे।

[आये हुए योग्य अभ्यागत को प्रतिदिन भोजनादिक का दान करके पश्चात् स्वयं भोजन करे ऐसा श्रावकों का नित्यकर्म है, उसे अतिथि-संविभाग कहते हैं। उसमें जैसी विधि हो, जैसा दाता हो, जैसी वस्तु का दान करे तथा जैसा पात्र हो, वैसा ही फल प्राप्त होता है।]

नवधा भक्ति के नाम

संग्रहमुच्चस्थानं पादोदकमर्चनं प्रणामं च।
वाक्कायमनः शुद्धिरेषणशुद्धिश्च विधिमाहुः ॥१६८॥

अन्वयार्थः—[**च**] और [**संग्रहम्**] प्रतिग्रहण [**उच्चस्थानं**] ऊँचा आसन देना [**पादोदकं**] चरण धोना [**अर्चनं**] पूजा करना [**प्रणामं**] नमस्कार करना [**वाक्कायमनः शुद्धिः**] मनशुद्धि, वचनशुद्धि और काय-शुद्धि रखना [**च**] और [**एषणशुद्धिः**] भोजन शुद्धि – इसप्रकार आचार्यों ने [**विधिम्**] नवधाभक्तिरूप विधि [**आहुः**] कही है।

टीकाः—'**संग्रहम्, उच्चस्थानं, पादोदकं, अर्चनं, प्रणामं, वाक्शुद्धिः, कायशुद्धिः, मनशुद्धिः, एषणशुद्धिः, इति विधिम् आहुः।**'—१. संग्रह अर्थात् पड़गाहन करना, मुनिराज को बड़े आदरपूर्वक भोजन के लिये विनती करते हुए अपने घर में प्रवेश कराना, २. उच्चस्थान अर्थात् घर में ले जाकर उन्हें उच्च आसन पर बैठाना, ३. पादोदक अर्थात् प्रासुक – निर्दोष जल से चरण धोना, ४. अर्चन अर्थात् उत्तम अष्टद्रव्य से उनकी पूजा करना अथवा केवल अर्घ्य चढ़ा देना, ५. प्रणाम अर्थात् पूजन के बाद नम्रीभूत होकर नमस्कार करना और तीन प्रदक्षिणा देना, ६. वाक्शुद्धि अर्थात् विनयपूर्वक वचन बोलना, ७. कायशुद्धि अर्थात् अपने हाथ और शरीर शुद्ध रखना तथा उनकी सेवा करना, ८. मनशुद्धि अर्थात मन शुद्ध करते हुए दान देने में भक्ति और सेवारूप परिणाम रखना, खोटा परिणाम न करना। ९. एषणशुद्धि अर्थात् आहार की शुद्धि रखना, आहार की सभी वस्तुयें निर्दोष रखना। इसप्रकार नवधाभक्ति पूर्वक ही दान देने का विधान कहा

है, अतः इसी तरह आहार दान देना चाहिये। यह नवधाभक्ति मुनिमहाराज के लिये ही है, अन्य के लिये तो योग्यतानुसार होनी चाहिये।

भावार्थः- जो उत्तम पात्र हैं अर्थात् मुनिराज हैं, उन्हें इन नव प्रकार के विधानपूर्वक ही दान देना चाहिये। शेष जो मध्यम और जघन्य पात्र हैं, उनके दान में यथायोग्य हीनाधिक अपना तथा पात्र का गुण विचारकर विधान करना और जो अपात्र हैं उनके लिये प्रतिग्रहादि विधान नहीं करना; क्योंकि विषय-कषाय संयुक्त अश्रद्धानी पापी जीवों का आदरसत्कार करने से महापाप उत्पन्न होता है और उनके पाप की अनुमोदना आती है, अतः अपात्रों की भक्ति नहीं करना चाहिए। यदि कोई अपात्र दीनदुःखी और पीड़ित दिखाई पड़े तो दया करके उसका दुःख निवारण कर देना, परन्तु उसका (धर्मबुद्धि से) आदरसत्कार नहीं करना।

अब दातार के सात गुण बताते हैं:—

ऐहिकफलानपेक्षा क्षान्तिर्निष्कपटतानसूयत्वम्।
अविषादित्वमुदित्वे निरहङ्कारित्वमिति हि दातृगुणाः॥१६९॥

अन्वयार्थः—[**ऐहिकफलानपेक्षा**] इस लोक सम्बन्धी फल की इच्छा न रखना, [**क्षान्ति**] क्षमा अथवा सहनशीलता, [**निष्कपटता**] निष्कपटता, [**अनसूयत्वं**] ईर्षारहित होना, [**अविषादित्वमुदित्वे**] अखिन्नभाव, हर्षभाव और [**निरहङ्कारित्वं**] अभिमान रहित होना, [**इति**] इसप्रकार ये सात [**हि**] निश्चय से [**दातृगुणाः**] दातार के गुण हैं।

टीकाः—'**हि ऐहिकफलानपेक्षा, क्षान्तिः, निष्कपटता, अनसूयत्वं, मुदित्वं, निरहङ्कारित्वम् इति सप्त दातृगुणाः सन्ति**' – १. **ऐहिकफल अनपेक्षा** – दान देकर इस लोक सम्बन्धी यशसौभाग्य आदि अथवा अच्छे भोगोपभोग की सामग्री मिलने आदि की इच्छा न करे। २. **क्षान्ति** – दान देते समय क्षमाभाव धारण करे। ३. **निष्कपटता** – कपट न करना, बाहर में भक्ति करे और अन्तरङ्ग में परिणाम खराब रखे ऐसा नहीं करना। ४. **अनसूयत्व** – दूसरे दातार के प्रति ईर्षाभाव – दुर्भाव न रखना अर्थात् अपने घर मुनिराज का आहार न हो और दूसरे के घर हो जाय तो दूसरे के प्रति बुराभाव न करना। ५. **अविषादित्व** – विषाद न करना

अर्थात् हमारे यहाँ अच्छी वस्तु थी, वह हमने उनको यों ही दे दी, अथवा हमारे यहाँ अच्छी वस्तु थी, वह हम नहीं दे सके, ऐसा खिन्न परिणाम न करे। ६. **मुदित्व** – दान देकर हर्ष बहुत करे अर्थात् अत्यन्त आनन्दित होवे। ७. **निरहङ्कारित्व** – अभिमान न करना अर्थात् हम बड़े दातार हैं, ऐसा मन से अभिमान न करना।

इसप्रकार ये दातार के सात गुण* हैं, वे प्रत्येक दातार में अवश्य होना चाहिये। इस भांति नव प्रकार की भक्तिपूर्वक तथा सात गुण संयुक्त जो दातार दान देता है, उसको वह दान विशेष फल प्रदान करता है। यदि ये गुण दातार में न हों तो वह दिया हुआ दान बहुत फल देनेवाला नहीं होता।

किन वस्तुओं का दान करना चाहिये यह बताते हैं:—

रागद्वेषासंयममददुःखभयादिकं न यत्कुरुते।
द्रव्य तदेव देयं सुतपः स्वाध्याय वृद्धिकरम् ॥१७०॥

अन्वयार्थः–[यत्] जो [द्रव्यं] द्रव्य [रागद्वेषासंयममददुःखभयादिकं] राग, द्वेष, असंयम, मद, दुःख, भय आदि [न कुरुते] नहीं करता हो और [सुतपः स्वाध्याय वृद्धिकरम्] उत्तम तप तथा स्वाध्याय की वृद्धि करनेवाला हो, [तत् एव] वही [देयं] देने योग्य है।

टीकाः—'**यत् (वस्तु) राग, द्वेष, असंयम, मद, दुःख, भयादिकं न कुरुते तत् एव सुतपः स्वाध्यायवृद्धिकरं द्रव्यं देयं।**' – जो वस्तु राग, द्वेष, असंयम, मद, दुःख और भय की उत्पत्ति का कारण न हो तथा जो वस्तु तप व शास्त्रस्वाध्याय को बढ़ानेवाली हो, उसीका ही दान करना चाहिये। जिस द्रव्य का दान देने से अपने कर्मों की निर्जरा हो और पात्र जीव को तप, स्वाध्याय आदि की वृद्धि हो ऐसे द्रव्य का ही दान श्रावक

---

* रत्नकरण्डश्रावकाचार श्लोक १३३ में दाता के सात गुण इस भांति हैं – १. भक्तिधर्म में तत्पर रहकर पात्रों के गुणों के सेवन में लीन रहकर पात्र को अंगीकार करे, प्रमादरहित ज्ञानरहित शान्तपरिणामी हुआ पात्र की भक्ति में प्रवर्त्ते। २. तुष्टि – देने में अति आसक्त, पात्र लाभ को परम निधान का लाभ माने ... न ५. अलोलुप ६. सात्त्विक ७. क्षमा।

को देना चाहिये; किन्तु ऐसा गरिष्ठ भोजन आदि नहीं देना चाहिये, जिससे आलस्य आदि की वृद्धि हो।

ऐसा उत्कृष्ट दान चार प्रकार का है। १. **आहारदान**—क्षुधा निवारण के लिये तथा शरीर की स्थिरता के लिये आहार देना प्रथम दान है। २. **औषधदान**—रोगादि की पीड़ा दूर करने के लिये दवा देना द्वितीय दान है। ३. **ज्ञानदान**—अज्ञान का नाश और ज्ञान का विकास करने के लिये शास्त्र आदि का देना तृतीय ज्ञानदान है। ४. **अभयदान**—भय निवारण करना तथा जंगल में झोंपड़ी, वसतिका, धर्मशाला आदि बनवाना, अँधेरे मार्ग में प्रकाश की व्यवस्था इत्यादि करवाना चतुर्थ दान है। (अथवा भिक्षा, उपकरण, औषध, प्रतिश्रय के भेद से दान चार प्रकार का है। भिक्षा अर्थात् आहार, उपकरण अर्थात् धर्म के लिये उपकारी शास्त्रादि, औषध अर्थात् रोग मेटने के लिये दवा, प्रतिश्रय अर्थात् वसतिका – इनका दान देना योग्य है।) इसप्रकार आत्मकल्याण के निमित्त दान देना, वही वास्तविक दान है; परन्तु जिन वस्तुओं के दान देने से संसार के विषय आदि तथा रागद्वेष की वृद्धि हो – ऐसा दान नहीं देना चाहिये।

भावार्थः—जैसे पृथ्वी, मकान, घोड़ा, हाथी, गाय, सोना, चांदी, स्त्री, शस्त्र इत्यादि जो वस्तुयें रागादिभाव की उत्पन्न करनेवाली हों, उनका दान नहीं देना चाहिये; क्योंकि ये सब कुदान हैं, इनके दान देने से हलकी गतिके बन्ध के अलावा और कुछ नहीं होता, अतः ऐसा कुदान नहीं करना चाहिये।

अब पात्रों का भेद बताते हैं:—

पात्रं त्रिभेदमुक्तं संयोगो मोक्षकारणगुणानाम्।
अविरतसम्यग्दृष्टिः विरताविरतश्च सकलविरतश्च ॥१७१॥

अन्वयार्थः—[**मोक्षकारणगुणानाम्**] मोक्ष के कारणरूप गुणों के अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप गुणों के [**संयोगः**] संयोगवाला [**पात्रं**] पात्र [**अविरतसम्यग्दृष्टिः**] व्रतरहित सम्यग्दृष्टि [**च**] तथा [**विरताविरतः**] देशव्रती [**च**] और [**सकलविरतः**] महाव्रती [**त्रिभेदं**] तीन भेदरूप [**उक्तम्**] कहा गया है।

टीका:—'मोक्षकारणगुणानां संयोगः पात्रं त्रिभेदं उक्तम् सकलविरतः च विरताविरतः च अविरतसम्यग्दृष्टि च इति।' – मोक्ष का कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकतारूप संयोग जिसमें पाया जाय, वह पात्र कहलाता। वे उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन प्रकार के हैं। सकलचारित्र और सम्यक्त्वसहित महामुनि उत्तम पात्र हैं, देशचारित्र और सम्यक्त्वसहित श्रावक माध्यम पात्र हैं और व्रतरहित सम्यक्त्वसहित श्रावक जघन्य पात्र हैं।

भावार्थ:—जिस जीव को सम्यग्दर्शन प्राप्त हो चुका है, वही पात्र कहे जाने योग्य है। सम्यग्दर्शन के अभाव में किसी प्रकार की पात्रता नहीं हो सकती, इसलिये द्रव्यलिंगी मुनि पात्र नहीं है, अपितु उत्तम कुपात्र है; क्योंकि उसे सम्यग्दर्शन नहीं है। अब यहाँ विचारने की बात यह है कि पात्र का भेद व्यवहार सम्यग्दशन की अपेक्षा से है अथवा निश्चयसम्यग्दर्शन की अपेक्षा से? यदि निश्चयसम्यग्दर्शन की अपेक्षा से माना जाय, तब तो उत्तम पात्र की पहिचान करना साधारण जन की बुद्धि के बाहर की बात है और यदि व्यवहारसम्यग्दर्शन की अपेक्षा से माना जाय, तो प्रथम गुणस्थानवाला जीव भी व्यवहारसम्यग्दृष्टि हो सकता है और वह उत्तम पात्र की गणना में आ सकता है, इसलिये द्रव्यलिंगी मुनि भी उत्तमपात्र हो सकता है और यही ठीक भी लगता है; कारण कि पात्र की पहिचान करना श्रावक का कार्य है। श्रावक जिस बात की जितनी परीक्षा कर सकता है, उतनी ही करेगा; अतः द्रव्यलिंगी को भी (व्यवहार) पात्रता हो सकती है, इसलिये व्यवहारसम्यग्दर्शन से पात्रों की परीक्षा करके उनको यथायोग्य विनय, आदरपूर्वक दान देना योग्य है (अर्थात् जो पात्र व्यवहार-रत्नत्रय से संयुक्त हो, उसे यथायोग्य विनयपूर्वक दान देना उचित है।) इसके अतिरिक्त दुखी जीवों को करुणाभाव से दान देना चाहिये, भक्तिभाव से नहीं। [क्योंकि उन मिथ्यादृष्टि पापी जीवों की विनय से विनयमिथ्यात्व होता है तथा उनके पाप की अनुमोदन से स्वयं भी उनके समान पापी होता है।]

जो दुखी नहीं हैं, अपनी आजीविका करने में समर्थ हैं, व्यसनी व्यभिचारी हैं, उन्हें दान नहीं देना चाहिये। उनको दान देने से अनेक पाप उत्पन्न होते हैं, अतः उन्हें दान कदापि न देवे। उत्तम पात्र को दान देने से उत्तम भोगभूमि, मध्यमपात्र को दान देने से मध्यम भोगभूमि और जघन्य-

पात्र को दान देने से जघन्य भोगभूमि तथा कुपात्र को दान देने से कुभोग-भूमि मिलती है और अपात्र को दान देने से नरकादि गति की प्राप्ति होती है। जैसा कि रयणसार में है :—

"सप्पुरिसाणं दाणं कप्पतरूणं फलाण सोहं वा।
लोहीणं दाणं जई विमाण सोहा सवस्स जाणेहं ॥२६॥"

अर्थः—सत्पुरुषों को दान देना तो कल्पवृक्ष की तरह शोभायमान है अर्थात् शोभा भी होती है और मनवांछित फल की प्राप्ति भी होती है तथा लोभी, पापी पुरुषों को दान देना मुर्दे के विमान की तरह शोभा है अर्थात् शोभा तो होती है, परन्तु दुख भी होता है। जैसे मुर्दे की ठठरी का विमान बनाकर उसे सजाकर निकालने से लोक में कीर्ति और शोभा तो होती है, परन्तु घर के धनी (स्वामी) को दुखदायक होता है, इसी प्रकार लोभी, अपात्र को दान देने से लोक में यश तो होता है, परन्तु दातार को महान पाप उत्पन्न होता है और उसका फल बुरा मिलता है — ऐसा जानकर पात्र-अपात्र का विचार करके ही दान देना योग्य है।

दान देने से हिंसा का त्याग होता है —

हिंसायाः पर्यायो लोभोऽत्र निरस्यते यतो दाने।
तस्मादतिथिवितरणं हिंसाव्युपरमणमेवेष्टम् ॥१७२॥

अन्वयार्थः—[**यतः**] कारण कि [**अत्र दाने**] यहाँ दान में [**हिंसायाः**] हिंसा की [**पर्यायः**] पर्याय [**लोभः**] लोभ का [**निरस्यते**] नाश होता है, [**तस्मात्**] इसलिये [**अतिथिवितरणं**] अतिथिदान को [**हिंसाव्युपरमणमेव**] हिंसा का त्याग ही [**इष्टम्**] कहा है।

टीका:—'**यतः अत्र दाने हिंसाः पर्यायः लोभः निरस्यते अतिथि वितरणं हिंसाव्युपरमणं एव इष्टम्**' — इस दान में हिंसा का एक भेद जो लोभ है, उसका त्याग होता है। क्योंकि लोभ छूटने पर अपनी वस्तु दी जाती है, इसलिये पात्र अतिथि को दान देना हिंसा का ही त्याग है।

भावार्थः—वास्तव में जब अपना अन्तरंग कषाय जो लोभ है, उसका त्याग होनेपर ही अपने परिणाम बाह्य वस्तु को वितरण करने के होते हैं, इसलिये लोभ कषाय का त्याग ही वास्तविक दान है और वह लोभ कषाय भावहिंसा का एक भेद है, इसलिये जो सत्पुरुष दान करते हैं, वे ही वास्तव में अहिंसाव्रत का पालन करते हैं।

गृहमागताय गुणिने मधुकरवृत्या परानपीडयते ।
वितरति यो नातिथये स कथं न हि लोभवान् भवति ।।१७३।।

अन्वयार्थः—[**यः**] जो गृहस्थ [**गृहमागताय**] घर पर आये हुए [**गुणिने**] संयमादि गुणोंसे युक्त और [**मधुकरवृत्या**] भ्रमर समान वृत्ति से [**परान्**] दूसरों को [**अपीडयते**] पीड़ा न देनेवाले [**अतिथये**] अतिथि साधु को [**न वितरति**] भोजनादि नहीं देता, [**सः**] वह [**लोभवान्**] लोभी [**कथं**] कैसे [**न हि भवति**] न हो ?

टीकाः—'यः गृहमागताय गुणिने परान् अपीडयते अतिथये न वितरति सः लोभवान् कथं न भवति ।' – अपने आप स्वयमेव घर पर आये हुए तथा रत्नत्रयादि गुण सहित और भ्रमर जैसी वृत्ति से दाता को कष्ट न पहुंचानेवाले अतिथि मुनि महाराज इत्यादि हैं, उनको जो गृहस्थ-श्रावक दान नहीं देता, वह लोभ – हिंसा संयुक्त कैसे न हो ? अवश्य ही हो । (क्योंकि अन्तरङ्ग महा कृपण बुद्धि के कारण ही तीव्र लोभ पाया जाता है, इसीलिये अतिथि को दान देने के भाव नहीं होते ।)

भावार्थः— जिस प्रकार भौंरा सभी फलों की वासना (मधु) लेता है, परन्तु किसी भी फूल को पीड़ा नहीं पहुँचाता । उसी प्रकार मुनि महाराज आदि अतिथि भी किसी भी श्रावक गृहस्थ को किसी भी प्रकार की बाधा – पीड़ा न पहुँचाते हुए आहारादिक ले लेते हैं, उनसे यह नहीं कहते कि तुम मेरे लिये भोजन बनाओ अथवा भोजन दो; परन्तु श्रावक जब स्वयं आदरभक्तिपूर्वक बुलाता है, तब वे थोड़ासा रूखा-सूखा शुद्ध प्रासुक जो भी आहार मिल जाय, वह ग्रहण कर लेते हैं । इसलिये जो श्रावक ऐसे महासंतोषी व्रतियों को भी दान नहीं देता, वह अवश्य हिंसा का भागीदार होता है और उसके अतिथिसंविभागव्रत कदापि नहीं होता ।

कृतमात्मार्थं मुनये ददाति भक्तमिति भावितस्त्यागः ।
अरतिविषादविमुक्तः शिथिलितलोभो भवत्यहिंसैव ।।१७४।।

अन्वयार्थः—[**आत्मार्थं**] अपने लिये [**कृतम्**] बनाया हुआ [**भक्तम्**] भोजन [**मुनये**] मुनि को [**ददाति**] देवे [**इति**] इसप्रकार [**भावितः**] भावपूर्वक [**अरतिविषादविमुक्तः**] अप्रेम और विषाद रहित तथा [**शिथिलितलोभः**] लोभ को शिथिल करनेवाला [**त्यागः**] दान [**अहिंसा एव**] अहिंसा स्वरूप ही [**भवति**] है ।

टीका:—'आत्मार्थंकृतं भक्तम् मुनये ददातिर्थ इति भावित: त्याग: अरतिविषादविमुक्त: शिथिलितलोभ: अहिंसैव भवति' । – जो श्रावक अपने लिये बनाया हुआ भोजन, 'मैं मुनि महाराज को देता हूँ' – इसप्रकार त्यागभाव को अंगीकार करके दान देने में अरति – पश्चाताप, विषाद आदि दोषों का त्याग करके जिसका लोभ शिथिल होता है – ऐसे श्रावक के अवश्य अहिंसा होती है ।

भावार्थ:— इस अतिथिसंविभाग – वैयावृत्त शिक्षाव्रत में द्रव्य-अहिंसा तो प्रगट ही है, क्योंकि दान देने से परजीव की क्षुधा-तृषा की पीड़ा मिटकर दु:ख दूर होता है तथा दातार लोभकषाय का त्याग करता है; इसलिये भाव-अहिंसा भी होती है अर्थात् दान देनेवाला पूर्ण अहिंसा-व्रत का पालन करता है ।

इस प्रकार सात शीलव्रतों का वर्णन पूरा हुआ ।

(यहाँ तक श्रावकके बाहर व्रतों का वर्णन पूरा हुआ)



बाहर व्रत के अतिचार पन पन न लगावै ।
मरण समय सन्यास धारि तसु दोष नसावै ।।
यों श्रावक व्रत पाल स्वर्ग सोलम उपजावै ।
तहँ तें चय नर जन्म पाय मुनि ह्वै शिव जावै ।।

पंडित दौलतराम जी
छहढाला, चौथी ढाल छंद १५



सल्लेखनाधर्म व्याख्यान

इसप्रकार सम्यक्त्वसहित पांच अणुव्रतों को धारण करके सात शीलव्रतों को पालन करके अन्त में सल्लेखना अंगीकार करना चाहिये :—

इयमेकैव समर्था धर्मस्वं मे मया सम नेतुम् ।
सततमिति भावनीया पश्चिमसल्लेखना भक्त्या ।।१७५।।

अन्वयार्थ:—[**इयम्**] यह [**एका**] एक [**पश्चिमसल्लेखना एव**] मरण के अन्त में होनेवाली सल्लेखना ही [**मे**] मेरे [**धर्मस्वं**] धर्मरूपी धन को [**मया**] मेरे [**समं**] साथ [**नेतुम्**] ले जाने में [**समर्था**] समर्थ है [**इति**] इसप्रकार [**भक्त्या**] भक्तिसहित [**सततम्**] निरन्तर [**भावनीया**] भावना करनी चाहिये ।

टीका:—'**इयम् एकैव मे धर्मस्वं मया समं नेतुम् समर्था इति पश्चिमसल्लेखना भक्त्या सततं भावनीया ।**' – यह मात्र अकेली सल्लेखना ही मेरे धर्म को मेरे साथ ले जाने में समर्थ है, इसलिये हर एक मनुष्य को इस अन्तिम सल्लेखना अथवा समाधिमरण की भक्तिपूर्वक सदा भावना करनी चाहिये ।

भावार्थ:—संसार के कारण मिथ्यात्व तथा क्रोधादि कषाय हैं और उन्हींके निमित्त कारण आहार आदि परिग्रह में इच्छा है । (स्वसन्मुखता के बल के द्वारा) इन सभी का घटाना ही सल्लेखना कहलाता है । यह सल्लेखना भी दो प्रकार की है – एक क्रम-क्रम से त्याग करना और दूसरी सर्वथा त्याग करना (अर्थात् अनुक्रम से आहार का कम करना अथवा सर्वथा त्याग करना काय-सल्लेखना है तथा क्रोधादिकषाय का घटाना अथवा त्याग करना कषाय-सल्लेखना है ।) अतः विचार करके श्रावक को अपने मरण के अन्त समय अवश्य ही सल्लेखना करनी चाहिये । मैंने जीवनपर्यन्त जो पुण्यरूप कार्य किया है तथा धर्म का पालन किया है, उस धर्मरूपी धन को मेरे साथ ले चलने को यह एक सल्लेखना ही समर्थ है । अब यदि मरण समय सन्यास धारण करेंगे, तो सर्व धर्म

परलोक में मेरे साथ जायेगा और जो यहाँ परिणाम भ्रष्ट हो गये तो दुर्गति में गमन होगा; इसलिये ऐसी भावना पूर्वक श्रावक को अवश्य ही समाधिमरण करना योग्य है।

मरणान्तेऽवश्यमहं विधिना सल्लेखनां करिष्यामि ।

इति भावनापरिणतोऽनागतमपि पालयेदिदं शीलम् ॥१७६॥

अन्वयार्थः—[**अहं**] मैं [**मरणान्ते**] मरण के समय [**अवश्यं**] अवश्य [**विधिना**] शास्त्रोक्त विधि से [**सल्लेखनां**] समाधिमरण [**करिष्यामि**] करूँगा [**इति**] इसप्रकार [**भावना परिणतः**] भावनारूप परिणति करके [**अनागतमपि**] मरणकाल आनेसे पहले ही [**इदं**] यह [**शीलम्**] सल्लेखनाव्रत❀ [**पालयेत्**] पालना अर्थात् अंगीकार करना चाहिये।

टीकाः—'अहं मरणान्ते अवश्यं विधिना सल्लेखनां करिष्यामि – इति भावना परिणतः अनागतं अपि शीलं पालयेत्।' – मैं मरण समय अवश्य ही विधिपूर्वक समाधिमरण करूँगा – ऐसी भावनासहित श्रावक, जो प्राप्त नहीं हुआ है, ऐसे शील (स्वभाव) को प्राप्त कर लेता है। [सल्लेखना कहो या सन्यास कहो उसका धारण तो मरणान्त में होगा अर्थात् समय-समय इस जीव की आयु घटने की अपेक्षा प्रति समय मरण हो रहा है और उसके अन्त में सन्यास धारण किया जायेगा, परन्तु पहले से ही ऐसी प्रतिज्ञा करना कि मैं मरणकाल में सन्यास धारण करूँगा ही, अतः इस प्रतिज्ञा की अपेक्षा यह शील पहले ही पालन करने में आ जाता है।]

भावार्थः—श्रावक को इस बात का विचार सदैव करना चाहिये कि मैं अपने मरण समय अवश्य सल्लेखना धारण करूँगा, कारण कि मरण समय प्रायः मनुष्यों के परिणाम बहुत दुःखी हो जाते हैं तथा कुटुम्बीजनों व धनादि से ममत्वभाव नहीं छूटता। जिसका ममत्वभाव छूट जाता है, उसीके सल्लेखना होती है। ममत्वभाव छूटने से पाप का बन्ध न होने के कारण नरकादि गति का बन्ध भी नहीं होता, इसलिये मरण समय अवश्य ही सल्लेखना करने के परिणाम रखना चाहिये।

❀ सत्=सम्यक्प्रकारसे, लेखना=कषाय को क्षीण-कृश करने को सल्लेखना कहते हैं। उसके आभ्यन्तर और बाह्य दो भेद हैं। काय के कृश करने को बाह्य और अन्तरङ्ग क्रोधादि कषायों के कृश करने को आभ्यन्तर सल्लेखना कहते हैं।

सल्लेखना आत्मघात नहीं है :—

मरणेऽवश्यं भाविनि कषायसल्लेखनातनूकरणमात्रे ।
रागादिमन्तरेण व्याप्रियमाणस्य नात्मघातोऽस्ति ॥१७७॥

अन्वयार्थ:—[**अवश्यं**] अवश्य [**भाविनि**] होनेवाले [**मरणे 'सति'**] मरण होने पर [**कषायसल्लेखनातनूकरणमात्रे**] कषाय सल्लेखना के कृष करने मात्र के व्यापार में [**व्याप्रियमाणस्य**] प्रवर्त्तमान पुरुष को [**रागादिमन्तरेण**] रागादिभावों के अभाव में [**आत्मघातः**] आत्मघात [**नास्ति**] नहीं है ।

टीका:—'**अवश्यं भाविनि मरणं कषायसल्लेखनातनूकरणमात्रे रागादिमन्तरेण व्याप्रियमाणस्य आत्मघातः न अस्ति ।**' – जब मरण अवश्यंभावी है, तब कषाय के त्याग करते हुये, राग-द्वेष बिना ही प्राण-त्याग करनेवाला जो मनुष्य है, उसको आत्मघात नहीं हो सकता ।

भावार्थ:—यहाँ कोई कहेगा कि सन्यास में तो अपघात का दोष आता है ? उसका समाधानः—सल्लेखना करनेवाला पुरुष जिससमय अपने मरण को अवश्यंभावी जानता है, तब सन्यास अंगीकार करके कषाय को घटाता है और रागादि को मिटाता है, इसलिये आत्मघात का दोष नहीं है । उसकी ऐसी इच्छा नहीं है कि मैं जबर्दस्ती से मरण करूँ, अपितु उसका अभिप्राय ऐसा है कि जब बलात्रूप से मरण होने ही लगे, तब मेरे परिणाम शुद्ध रहें और मैं सांसारिक विषयभोगों से ममत्व त्याग दूँ । उसके मरण में यदि रागद्वेष हो तो आत्मघात होता है, किन्तु जो मनुष्य राग-द्वेष का त्याग कर रहा है, उसे आत्मघात नहीं हो सकता ।

आत्मघाती कौन है, वह अब बताते हैं:—

यो हि कषायाविष्टः कुम्भकजलधूमकेतुविषशस्त्रैः ।
व्यपरोपयति प्राणान् तस्य स्यात्सत्यमात्मवधः ॥१७८॥

अन्वयार्थ:—[**हि**] निश्चय से [**कषायाविष्टः**] क्रोधादि कषायों से घिरा हुआ [**यः**] जो पुरुष [**कुम्भकजलधूमकेतुविषशस्त्रैः**] श्वास-निरोध, जल, अग्नि, विष, शस्त्रादि से अपने [**प्राणान्**] प्राणों को [**व्यपरोपयति**] पृथक् करता है [**तस्य**] उसे [**सत्यम्**] वास्तव में [**आत्मवधः**] आत्मघात [**स्यात्**] होता है ।

टीकाः—'हि यः (श्रावकः) कषायाविष्टः (सन्) कुम्भकजल-धूमकेतु–विष–शस्त्रैः प्राणान् व्यपरोपयति तस्य आत्मवधः सत्यम् स्यात् ।' – जो जीव क्रोधादि कषाय संयुक्त होकर श्वास निरोध करके अर्थात् फांसी लगाकर, जल में डूबकर, अग्नि में जलकर, विष भक्षणकर या शस्त्रादि के द्वारा अपने प्राणों का वियोग करता है, उसको सदाकाल आत्मघात का दोष लगता है ।

भावार्थः – जो जीव क्रोध, मान, माया, लोभादि कषायों की तीव्रता से (अथवा इष्टवियोग के खेद से या आगामी निदान के वश होकर) अपने प्राणों का घात करता है, उसको ही आत्मघात का दोष लगता है ।
विशेषः—सल्लेखनाधर्म (समाधिमरण विधि) मुनि और गृहस्थ दोनों के लिये है, सल्लेखना अथवा सन्यासमरण का एक ही अर्थ है, अतः बारह व्रतों के बाद सल्लेखना का वर्णन किया है । इस सल्लेखनाव्रत की उत्कृष्ट मर्यादा बारह वर्ष तक की है ऐसा श्री वीरनन्दी आचार्यकृत यत्याचार नामक ग्रन्थ में कहा है । जब शरीर किसी असाध्य रोग से अथवा वृद्धावस्था से असमर्थ हो जाय, देव मनुष्यादिकृत कोई दुर्निवार उपसर्ग आ पड़े, कोई महा दुष्काल से धान्यादि भोज्य पदार्थ दुष्प्राप्य हो जाये अथवा धर्म का नाश करनेवाला कोई विशेष कारण उपस्थित हो जाय, तब अपने शरीर को पके हुए पान के समान अथवा तेलरहित दीपक के समान स्वयमेव विनाश के सन्मुख हुआ जानकर सन्यास धारण करे । यदि मरण में किसी प्रकार का सन्देह हो तो मर्यादापूर्वक ऐसी प्रतिज्ञा करे कि जो इस उपसर्ग में मेरी आयु पूर्ण हो गयी तो (मृत्यु हो गई तो) मेरे आहारादि का सर्वथा त्याग है और यदि कदाचित् जीवन शेष रहेगा तो आहारादिक को ग्रहण करूंगा – यह सन्यास ग्रहण करने का क्रम है ।

रोगादिक होने पर यथाशक्ति औषध करे, परन्तु जब रोग असाध्य हो जाय, किसी प्रकार भी उपचार से लाभ न हो तो ऐसी दशा में यह शरीर दुष्ट समान सर्वथा त्याग करने योग्य कहा है और इच्छित फलदाता धर्म विशेषता से पालन करने योग्य कहा है । शरीर तो मरने के बाद दूसरा भी मिलेगा, परन्तु धर्मपालन करने की योग्यता प्राप्त करना अतिशय दुर्लभ है । इसकारण विधिपूर्वक शरीर के त्याग में शोकाकुल-दुःखी न होकर संयमपूर्वक मन, वचन, काय का उपयोग आत्मा में केन्द्रित करना चाहिये और **'जन्म, जरा, मृत्यु शरीर सम्बन्धित है, मुझे नहीं है'** – ऐसा

चिन्तवन करके निर्ममत्वी होकर विधिपूर्वक आहार घटाकर, अपने त्रिकाली अकषाय ज्ञातामात्र स्वरूप के लक्ष्य से काय कृश करना चाहिये और शास्त्रामृत के पान से तथा स्वसन्मुखता द्वारा कषायों को कृश करना चाहिये पश्चात् चार प्रकार के संघ* की साक्षी से समाधिमरण में सावधान उद्यमवन्त होना चाहिये।

अन्त की आराधना से चिरकाल की हुई सम्यक्व्रत-नियमरूप धर्म-आराधना सफल हो जाती है, क्योंकि उससे क्षण मात्र में दीर्घकाल से संचित पाप का नाश हो जाता है और यदि अन्त में मरण बिगड़ जाय अर्थात् असयमपूर्वक या शरीर में एकताबुद्धिपूर्वक मृत्यु हो जाय, तो जीवन भर की हुई धर्माराधना निष्फल हो जाती है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि "यदि अन्त समय समाधिमरण कर लेने से ही क्षणमात्र में पूर्वसंचित पापों का नाश हो जाता है, तो फिर युवावस्था में धर्म करने की क्या आवश्यकता है ? अन्त समय संन्यास धारण कर लेने से ही सब मनोरथ सिद्ध हो जायेंगे" तो उसका समाधान :—जो जीव अपनी पूर्वावस्था में धर्म से विमुख रहे हैं अर्थात् जिन्होंने तत्त्वज्ञानपूर्वक व्रतनियम आदि धर्माराधना नहीं की है, वे जीव अन्तकाल में धर्म सन्मुख अर्थात् सन्यासयुक्त कभी नहीं हो सकते, क्योंकि चन्द्रप्रभचरित्र प्रथम सर्ग में कहा है कि –'**चिरन्तनाभ्यासनिबन्धनेरिता-गुणेषु दोषषु च जायते मतिः**' अर्थात् चिरकाल के अभ्यास से प्रेरित करने में आई हुई बुद्धि गुण अथवा दोषों में जाती है। जो वस्त्र पहले से ही उज्ज्वल हो तो उस पर मनपसन्द रङ्ग चढ़ सकता है, किन्तु यदि वस्त्र पहले से ही मैला हो तो उस पर कभी भी रङ्ग नहीं चढ़ सकता, इसलिये समाधिमरण वही धारण कर सकता है, जो प्रथम अवस्था से ही धर्म की आराधना में बराबर सावधान रहा हो। हां, किसी स्थान पर कभी ऐसा भी देखने में आता है कि जिसने आजीवन धर्म सेवन में चित्त नहीं लगाया हो, वह भी अपूर्व विवेक का बल प्राप्त करके समाधिमरण अर्थात् संन्यासपूर्वक मरण करके स्वर्गादिक सुखों को प्राप्त हो गया, परन्तु वह तो काकतालीय न्यायवत् अति कठिन है, (ताड़वृक्ष से फल टूटकर उड़ते हुए कौवे के मुख में प्राप्त हो जाना जितना कठिन है, उतना ही सस्कारहीन जीवन से समाधिमरण पाना कठिन है।) इसलिये सर्वज्ञवीतराग के वचनों

---

* चार प्रकार का संघ=मुनि, अर्जिका, श्रावक, श्राविका।

में जिसे श्रद्धा है, उसे उपरोक्त शंका को अपने चित्त में कदापि स्थान नहीं देना चाहिये।

समाधिमरण के इच्छुक पुरुष जहाँ तक बन सके, वहाँ तक जिनेश्वर भगवान की जन्मादि तीर्थभूमियों का आश्रय ग्रहण करें, जो ऐसा न बन सके तो मन्दिर अथवा संयमीजनों के आश्रय में रहें। संन्यासार्थी तीर्थक्षेत्र को जाते समय सभी से क्षमा याचना करें तथा स्वयं भी मनवचनकाय-पूर्वक सबको क्षमा करें। अन्त समय में क्षमा करनेवाला संसार का पार-गामी होता है और वैरविरोध रखनेवाला अर्थात् क्षमा न रखनेवाला अनन्त ससारी होता है। संन्यासार्थी को पुत्र, स्त्री एवं कुटुम्बीजनों से तथा सांसारिक सर्व सम्पदा से सर्वथा मोह छोड़कर (निर्मोही निज आत्मा का भजन करना चाहिये) उत्तम साधक धर्मात्माओं की सहायता लेनी चाहिये, क्योंकि साधर्मी तथा आचार्यों की सहायता से अशुभकर्म यथेष्ट बाधा का कारण नहीं बन पाता। व्रत के अतीचारों को साधर्मियों अथवा आचार्य के सन्मुख प्रगट करके निःशल्य होकर प्रतिक्रमण-प्रायश्चित आदि शास्त्र में वर्णित विधियों से शोधन करना चाहिये।

निर्मलभावरूपी अमृत से सिंचित समाधिमरण के लिये पूर्व अथवा उत्तर दिशा की तरफ मस्तक रखे। जो श्रावक महाव्रत की याचना करे, तो निर्यापक आचार्य को उचित है कि उसे महाव्रत देवे, महाव्रत ग्रहण में नग्न होना चाहिये। अर्जिका को भी अन्तकाल उपस्थित होनेपर एकान्त स्थान में वस्त्रों का त्याग करना उचित कहा गया है। संन्यास लेने के समय (समाधिमरण के पूर्व की विधि के समय) अनेक प्रकार के योग्य आहार दिखाकर भोजन करावे अथवा यदि उसे अज्ञानतावश भोजन में आसक्त समझे, तो परमार्थ के ज्ञाता आचार्य उसे उत्तम प्रभावशाली व्याख्यान द्वारा ऐसे समझावें—

हे जितेन्द्रिय तूं! भोजनशयनादिरूप कल्पित पुद्गलों को अब भी उपकारी समझता है! और ऐसा मानता है कि इनमें से कोई पुद्गल ऐसा भी है कि जो मैंने कभी भोगा नहीं है, यह तो महान आश्चर्य की बात है! भला विचार तो कर कि यह मूर्तिक पुद्गल तेरे अरूपी में क्या किसी प्रकार मिल सकता है? मात्र इन्द्रियों के ग्रहणपूर्वक उसका अनुभव करके तूने ऐसा मान लिया है कि मैं उसका भोग करता हूँ। तो हे! दूरदर्शी, अब ऐसी भ्रान्त बुद्धि को सर्वथा छोड़ दे और निर्मल ज्ञानानन्दमय

आत्मतत्त्व में लवलीन हो। यह वही समय है कि जिसमें ज्ञानी जीव शुद्धता में सावधान रहता है और भेदज्ञान के बल से चिन्तवन करता है कि 'मैं अन्य हूँ और यह पुद्गल देहादि मेरे से सर्वथा भिन्न जुदे ही पदार्थ हैं।' इसलिये हे महाशय! परद्रव्यों से तुरन्त ही मोह त्याग और अपने आत्मा में निश्चल स्थिर रहने का प्रयत्न कर। यदि किसी पुद्गल में आसक्त रहकर मरण पायेगा, तो याद रख कि तुझे हलका तुच्छ जन्तु होकर इन पुद्गलों का भक्षण अनन्तबार करना पड़ेगा। इस भोजन से तू शरीर का उपकार करना चाहता है, जो किसी प्रकार भी उचित नहीं है; क्योंकि शरीर इतना कृतघ्नी है कि वह किसी के किए हुए उपकार को नहीं मानता, इसलिये भोजन की इच्छा छोड़कर केवल आत्महित में चित्त लगाने में ही बुद्धिमत्ता है।

इसप्रकार हितोपदेशरूपी अमृतधारा वर्षाकर अन्न की तृष्णा दूर कराकर कवलाहार छुड़ावे तथा दूध आदि पेय पदार्थों पर रखे, पश्चात् क्रम-क्रम से उसका भी त्याग करवाकर उष्ण जल लेने मात्र का नियम करावे। यदि ग्रीष्मकाल, मारवाड़ जैसा उष्णप्रदेश तथा पित्त प्रकृति के कारण तृषा की पीड़ा सहन करने में असमर्थ हो, तो मात्र शीतल जल लेने का नियम रखे और शिक्षा दे कि हे आराधक! हे आर्य!! परमागम में प्रशंसनीय मारणान्तिक सल्लेखना अत्यन्त दुर्लभ बताई है, इसलिये तुझे विचारपूर्वक अतिचार आदि दोषों से उसकी रक्षा करनी चाहिये।

पश्चात् अशक्ति की वृद्धि देखकर मरणकाल सन्निकट है, ऐसा निर्णय होने पर आचार्य समस्त संघ की अनुमति से सन्यास में निश्चलता के लिये पानी का भी त्याग करावे। इसप्रकार अनुक्रम से चारों प्रकार के आहार का त्याग होने पर समस्त संघ की क्षमा करावे और निर्विघ्न समाधि की सिद्धि के लिये कायोत्सर्ग करे। उसके बाद वचनामृत का सिंचन करे अर्थात् संसार से वैराग्य उत्पन्न करनेवाले कारणों का उक्त आराधक के कान में, मन्द-मन्द वाणी से जप करे। श्रेणिक, वारिषेण, सुभगादि के दृष्टान्त सुनावे और व्यवहार आराधना में स्थिर होकर निश्चय आराधना की तत्परता के लिये इस तरह उपदेश करे कि—

हे आराधक! श्रुतस्कन्ध का **'एगो मे सासदो आदा'** इत्यादि वाक्य **'णमो अरहन्ताणं'** इत्यादि पद और **'अर्हं'** इत्यादि अक्षर इनमें से जो तुझे रुचिकर लगे, उसका आश्रय करके अपने चित्त को उसमें तन्मय कर!

हे आर्य ! 'मैं एक शाश्वत आत्मा हूँ' – इस श्रुतज्ञान से अपनी आत्मा का निश्चय कर ! स्वसंवेदन से आत्मा की भावना कर ! समस्त चिन्ताओं से पृथक् होकर प्राण विसर्जन कर ! और यदि तेरा चित्त किसी क्षुधा परीषह से अथवा किसी उपसर्ग से विक्षिप्त (व्यग्र) हो गया हो तो नरकादि वेदनाओं का स्मरण करके ज्ञानामृतरूप सरोवर में प्रवेश कर, क्योंकि अज्ञानी जीव शरीर में आत्मबुद्धि अर्थात् 'मैं दुःखी हूँ, मैं दुःखी हूँ' ऐसा संकल्प करके दुखी हुआ करता है; परन्तु भेदविज्ञानी जीव आत्मा और देह को भिन्न-भिन्न मानकर देह के कारण सुखी-दुःखी नहीं होता, किन्तु विचार करता है कि मेरा मरण ही नहीं है तो फिर भय किसका ? मुझे रोग ही नहीं हैं तो फिर वेदना कैसी ? मैं बालक, वृद्ध या तरुण नहीं हूँ, तो फिर मनोवेदना कैसी ? हे महाभाग्य ! इस तुच्छसे शारीरिक दुःख से कायर होकर प्रतिज्ञा से किंचित् मात्र भी च्युत मत होना, दृढ़चित्त होकर परम निर्जरा की अभिलाषा करना । जबतक तू आत्मचिन्तन करता हुआ संन्यास ग्रहण करके समाधिमरण की आराधना में बैठा है, तबतक प्रतिक्षण तेरे प्रचुर कर्मों का विनाश हो रहा है ! क्या तू धीरवीर पाण्डवों का चरित्र भूल गया है ! जिन्हें लोहे के आभूषण अग्नि से तपाकर शत्रुओं ने पहनाये थे तो भी तपस्या से किंचित् मात्र च्युत न होकर आत्मध्यान से मोक्ष प्राप्त किया ! क्या तूने महासुकुमार सुकुमालकुमार का चरित्र नहीं सुना है ? जिनका शरीर स्यालनी ने थोड़ा-थोड़ा खा-खा करके अतिशय कष्ट देने के लिये कई दिन (तीन दिन) तक भक्षण किया था; परन्तु किंचित् भी मार्गच्युत न होकर जिन्होंने सर्वार्थसिद्धि स्वर्ग प्राप्त किया था । ऐसे असंख्य उदाहरण शास्त्रों में हैं, जहाँ दुस्सह उपसर्ग सह करके अनेक साधुओं ने सर्वार्थसिद्धि की है । क्या तेरा कर्त्तव्य नहीं है कि उनका अनुकरण करके जीवन-धनादिक में निर्वांछक होकर, अन्तरङ्ग परिग्रह के त्यागपूर्वक साम्यभाव से सम्यक्प्रकार कषाय को कृश करके रत्नत्रय की भावनारूप परिणमन से पंच नमस्कारमंत्रस्मरणपूर्वक समाधिमरण करना चाहिये – यह समाधिमरण की संक्षिप्त विधि है ।

सल्लेखना भी अहिंसा है:—

नीयन्तेऽत्र कषाया हिंसाया हेतवो यतस्तनुताम् ।
सल्लेखनामपि ततः प्राहुरहिंसाप्रसिद्ध्यर्थम् ॥१७९॥

अन्वयार्थः—[**यतः**] कारण कि [**अत्र**] इस संन्यासमरण में [**हिंसायाः**] हिंसा के [**हेतवः**] हेतुभूत [**कषायाः**] कषाय [**तनुताम्**]

क्षीणता को [**नीयन्ते**] प्राप्त होते हैं, [**ततः**] इसकारण [**सल्लेखनामपि**] सन्यास को भी आचार्य [**अहिंसाप्रसिद्ध्यर्थं**] अहिंसा की सिद्धि के लिये [**प्राहुः**] कहते हैं।

टीका: '**यतः हिंसायाः हेतवः कषायाः अत्र (सल्लेखनायां) तनुताम् नीयन्ते ततः सल्लेखनाम् अहिंसा प्रसिद्ध्यर्थम् प्राहुः**' – हिंसा के मूलकारण कषाय हैं, वह इस सल्लेखना में क्षीण हो जाते हैं घट जाते हैं, अतः आचार्य सन्यास को भी अहिंसा की पुष्टि के लिये कहते हैं।

भावार्थः—इस सन्यास में कषाय क्षीण होते हैं और कषाय ही हिंसा के मूलकारण है, इसलिये सन्यास का अंगीकार करने से भी अहिंसाव्रत की ही सिद्धि होती है। इसप्रकार अन्त में सल्लेखना का कथन किया।

आगे इन शीलों के कथन को संकोचते हैं:—

इति यो व्रतरक्षार्थं सततं पालयति सकलशीलानि ।
वरयति पतिवरेव स्वयमेव तमुत्सुका शिवपदश्रीः ।।१८०।।

अन्वयार्थः—[**यः**] जो [**इति**] इसप्रकार [**व्रतरक्षार्थं**] पांच अणुव्रतों की रक्षा के लिये [**सकलशीलानि**] समस्त शीलों को [**सततं**] निरन्तर [**पालयति**] पालन करता है, [**तम्**] उस पुरुष को [**शिवपदश्रीः**] मोक्षरूपी लक्ष्मी [**उत्सुका**] अतिशय उत्कंठित [**पतिवरा इव**] स्वयंवर की कन्या की तरह [**स्वयमेव**] स्वयं ही [**वरयति**] स्वीकार करती है अर्थात् प्राप्त होती है।

टीका:—'**इति यः व्रतरक्षार्थं सकलशीलानि सततं पालयति तम् उत्सुका शिवपदश्रीः पतिवरा इव स्वयमेव वरयति**' – जो धर्मात्मा श्रावक इसप्रकार पांच अणुव्रतों की रक्षा के निमित्त सप्त शीलव्रतों का पालन करता है, उसको मोक्षरूपी लक्ष्मी उत्सुक होकर स्वयंवर में कन्या की तरह स्वयं ही वरण करती है।

भावार्थः – जैसे स्वयंवर में कन्या स्वयं ही अपने योग्य पुरुष को पहचानकर वरमाला डाल देती है, वैसे ही मुक्तिलक्ष्मी व्रतधारी एवं समाधिमरण करनेवाले श्रावक को स्वयं ही प्राप्त होती है अर्थात् ऐसा व्रती श्रावक अवश्य ही मुक्तिपद को प्राप्त करता है।

इसप्रकार पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत, एक सल्लेखना और एक सम्यक्त्व – इसतरह श्रावक की चौदह बातों का वर्णन किया।

अब इनके पांच-पांच अतिचारों का वर्णन करते हैं:—

अतिचाराः सम्यक्त्वे व्रतेषु शीलेषु पञ्च पञ्चेति ।
सप्ततिरमी यथोदितशुद्धिप्रतिबन्धिनो हेयाः ॥१८१॥

अन्वयार्थः—[**सम्यक्त्वे**] सम्यक्त्व में [**व्रतेषु**] व्रतों में और [**शीलेषु**] शीलों में [**पञ्च-पञ्चेति**] पांच-पांच के क्रम से [**अमी**] ये [**सप्ततिः**] सत्तर [**यथोदितशुद्धप्रतिबन्धिनः**] यथार्थ शुद्धि के रोकनेवाले [**अतिचाराः**] अतिचार [**हेयाः**] छोड़ने योग्य हैं ।

टीका:—'**सम्यक्त्वे व्रतेषु (सल्लेखनायाञ्च) पञ्च पञ्च अतिचाराः इति अमी सप्ततिः यथोदितशुद्धिप्रतिबन्धिनः हेयाः ।**' – सम्यग्दर्शन में पांच अणुव्रतों में, तीन गुणव्रतों में, चार शिक्षाव्रतों में और सल्लेखना में प्रत्येक पांच-पांच अतिचार हैं । इसतरह ये सत्तर अतिचार हैं, वे सभी व्रतों की शुद्धि में दोष लगानेवाले हैं ।

भावार्थ:—व्रत का सर्वदेव भङ्ग होना तो अनाचार कहा जाता है और एकदेश भङ्ग होना अर्थात् दूषण लगना अतिचार कहा जाता है (यह अतिचार व्रतों की शुद्धता को दूर करनेवाले हैं, क्योंकि व्रतों में दोष लग जाने पर उनकी शुद्धता अक्षुण्ण कैसे रह सकती है ?) इसतरह उपरोक्त श्रावक की चौदह बातों के सत्तर अतिचार होते है ।

सम्यग्दर्शन के पांच अतिचार

शङ्का तथैव काङ्क्षा विचिकित्सा संस्तवोऽन्यदृष्टीनाम् ।
मनसा च तत्प्रशंसा सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ॥१८२॥

अन्वयार्थः–[**शङ्का**] सन्देह [**काङ्क्षा**] वांछा [**विचिकित्सा**] ग्लानि [**तथैव**] उसी प्रकार [**अन्यदृष्टीनाम्**] मिथ्यादृष्टियों की [**संस्तवः**] स्तुति [**च**] और [**मनसा**] मन से [**तत्प्रशंसा**] अन्य मतावलम्बियों की प्रशंसा करना [**सम्यग्दृष्टेः**] सम्यग्दृष्टि के [**अतिचाराः**] अतिचार हैं ।

टीका:—'**शङ्का तथैव काङ्क्षा विचिकित्सा अन्यदृष्टीनाम् संस्तवः च मनसा प्रशंसा सम्यग्दृष्टेः अतिचाराः भवन्ति ।**' – (१) जिनवचन में शंका करना, (२) व्रत पालकर इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी इष्ट वस्तु की वांछा अर्थात् सांसारिक सुखों की इच्छा करना, (३) अनिष्ट

या दुर्गन्धमय वस्तु से अप्रीति-ग्लानि करना अथवा मुनिराज आदि के शरीर को देखकर घृणा करना, (४) अन्यमतावलम्बी मिथ्यादृष्टियों की वचन से बड़ाई करना कि यह भी कुछ अच्छा ही, साधन करते हैं (४) उनके कार्यों की मनसे प्रशंसा-सराहना करना अर्थात् उनको भी अच्छा सा जानना ये सम्यग्दर्शन के पांच अतिचार हैं, उनसे सम्यक्त्व मलिन होता है।

भावार्थ:—जबतक इन पांच अतिचारों का त्याग नहीं होता, तबतक वह निश्चयसम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता।

अहिंसा अणुव्रत के पांच अतिचार

छेदनताडनबन्धा भारस्यारोपणं समधिकस्य।
पानान्नयोश्च रोधः पञ्चाहिंसाव्रतस्येति ॥१८३॥

अन्वयार्थः—[**अहिंसाव्रतस्य**] अहिंसाव्रत के [**छेदनताडनबन्धाः**] छेदना, ताडन करना, बांधना, [**समधिकस्य**] बहुत अधिक [**भारस्य**] बोझ का [**आरोपणं**] लादना [**च**] और [**पानान्नयोः**] अन्नजल का [**रोधः**] रोकना अर्थात् न देना [**इति**] इसप्रकार [**पञ्च**] पांच अतिचार हैं।

टीका:—'**छेदन ताडन बन्धाः समधिकस्य भारस्य आरोपणं पानान्नयोश्च रोधः इति पञ्च अहिंसाव्रतस्य अतिचाराः**' – छेदन अर्थात् कान, नाक, हाथ इत्यादि काटना, ताडन अर्थात् लकड़ी, चाबुक, अरई इत्यादि से मारना, बन्ध अर्थात् एक स्थान पर बांधकर रोककर रखना, अधिक भार अर्थात् ऊँट, बैल, घोड़ा इत्यादि के ऊपर उनकी शक्ति से अधिक बोझ लादना तथा योग्य समय पर घास, चारा, पानी इत्यादि न देना – ये अहिंसा अणुव्रत के पांच अतिचार हैं।

सत्य अणुव्रत के पांच अतिचार

मिथ्योपदेशदानं रहसोऽभ्याख्यानकूटलेखकृती।
न्यासापहारवचनं साकारमन्त्रभेदश्च ॥१८४॥

अन्वयार्थः—[**मिथ्योपदेशदानं**] झूठा उपदेश देना, [**रहसोऽभ्याख्यानकूटलेखकृती**] एकान्त की गुप्त बातों का प्रगट करना, झूठा लेख लिखना, [**न्यासापहारवचनं**] धरोहर के हरण करने का वचन कहना [**च**] और [**साकारमन्त्रभेदः**] काय की चेष्टा से जानकर दूसरे का अभिप्राय प्रगट करना – ये पांच सत्याणुव्रत के अतिचार हैं।

टीका:—'मिथ्योपदेशदानं रहसोऽभ्याख्यानं कूटलेखकृती न्यासापहारवचनं साकारमन्त्रभेदश्च इति सत्याणुव्रतस्य पञ्च प्रतिचारा: सन्ति।' – १. झूठा उपदेश देना जिससे जीवों का अहित हो, २. किसी स्त्रीपुरुष की गुप्त बातों को प्रगट करना, ३. झूठा लेख लिखना या झूठी रसीद आदि स्वयं लिखना, ४. किसीकी धरोहर मार लेना, ५. किसीकी आकृति देखकर उसका अभिप्राय प्रगट कर देना – ये पांच सत्याणुव्रत के अतिचार हैं।

भावार्थ:– १. ऐसा झूठा उपदेश देना कि जिससे लोग कल्याणकारी धर्म को छोड़कर अधर्म में लग जावें। २. स्त्री-पुरुषों ने जो कार्य एकान्त में किये हों, उनको प्रगट कर देना। ३. जो किसी ने कहा भी नहीं, किया भी नहीं, ऐसा झूठा ही ठगने के लिये लिखना कि उसने ऐसा कहा है, ऐसा किया है इसप्रकार कपटपूर्वक लिखना, झूठ पहुच लिख देना अथवा जबरदस्ती से लिखा लेना कूटलेख है ४. अपने पास कोई मनुष्य धरोहर रख गया हो और जब वह उसे वापस लेने आवे, तब भूल से जितनी रख गया था उससे कम मांगने लगे तो उससे कहना कि हां, इतनी ही थी अथवा यह कहना कि भाई, जितनी हो उतनी ले जाओ, उसे न्यासापहार कहते हैं। ५. किसोकी आकृति को देखकर उसका अभिप्राय जानकर उसे प्रगट कर देना कि इसका ऐसा अभिप्राय है। ये पांच सत्याणुव्रत के अतिचार हैं।

अचौर्य अणुव्रत के पांच अतिचार

प्रतिरूपव्यवहार: स्तेननियोगस्तदाहृतादानम्।
राजविरोधातिक्रमहीनाधिकमानकरणे च ॥१८५॥

अन्वयार्थ:—[**प्रतिरूपव्यवहार**] प्रतिरूप व्यवहार अर्थात् असली चीज में नकली चीज मिलाकर बेचना [**स्तेननियोग:**] चोरी करनेवालों की सहायता करना, [**तदाहृतादानम्**] चोरी की लाई हुई वस्तुओं को रखना, [**च**] और [**राजविरोधातिक्रमहीनाधिकमानकरणे**] राज्य द्वारा आदेशित नियमों का उल्लंघन करना, माप या तौल के गज, मीटर, कांटा, तराजू आदि के माप में हीनाधिक करना, (**एते पञ्चास्तेयव्रतस्य**) ये पांच अचौर्यणुव्रत के अतिचार हैं।

टीका:—'प्रतिरूपव्यवहार: स्तेननियोग: तदाहृतादानम् राजविरोधातिक्रम: च हीनाधिकमानकरणे इति अचौर्याणुव्रतस्य पञ्च अतिचारा सन्ति।' – १. झूठी वस्तु को (अशुद्धवस्तु को) शुद्ध वस्तु की तरह बनाकर असली वस्तु में मिलाकर चलाना (नकली सिक्के को असली सिक्के में मिलाकर चलाना) इसका नाम प्रतिरूप व्यवहार है। २. चोरी की प्रेरणा करना, अनुमोदना करना अथवा चोरी करने का उपाय बताना स्तेनप्रयोग अतिचार है। ३. चोरी की वस्तु को खरीदना तीसरा अतिचार है। ४. राजाज्ञा का उल्लंघन करना अथवा राजकर न देना चौथा अतिचार है। ५. अधिक मूल्यवाली वस्तु में कम मूल्यवाली वस्तु मिला देना, अधिक मूल्य की वस्तु थोड़े मूल्य में ले लेना, मापनेतौलने के उपकरण मीटर, तराजू-कांटा इत्यादि हीनाधिक रखना अथवा कमबढ़ तौलकर देनालेना यह पांचवां अतिचार हैं। इसप्रकार ये पांच अचौर्याणुव्रतके अतिचार वर्णन किये।

ब्रह्मचर्य अणुव्रत के पांच अतिचार

स्मरतीव्राभिनिवेशोऽनङ्गक्रीडान्यपरिणयनकरणम्।
अपरिगृहीतेतरयोर्गमने चेत्वरिकयो: पञ्च ॥१८६॥

अन्वयार्थ:—[**स्मरतीव्राभिनिवेश:**] कामसेवन की अतिशय इच्छा रखना, [**अनङ्गक्रीडा**] योग्य अंगों को छोड़कर दूसरे अंगों के साथ कामक्रीड़ा करना, [**अन्यपरिणयनकरणम्**] दूसरे का विवाह करना [**च**] और [**अपरिगृहीतेतरयो:**] कुंवारी अथवा विवाहित [**इत्वरिकयो**]* व्यभिचारिणी स्त्रियों के पास [**गमने**] जाना, लेनदेन आदि का व्यवहार करना [**एते ब्रह्मव्रतस्य**] ये ब्रह्मचर्यव्रत के [**पञ्च**] पांच अतिचार हैं।

टीका: -'स्मरतीव्राभिनिवेश: अनङ्गक्रीडा अन्यपरिणयनकरणं इत्वरिकयो: अपरिगृहीता गमनं च इत्वरिका परिगृहीता गमनं च इति पञ्च अतिचारा: ब्रह्मचर्याणुव्रतस्य सन्ति' – १. काम-भोग-विषय सेवन

---

* रत्नकरण्डश्रावकाचार गा० ६० में इत्वरिका का गमन का अर्थ ऐसा किया है—इत्वरिका जो व्यभिचारिणी स्त्री उसके घर जाना अथवा उसे अपने घर बुलाना (धनादि का) लेनदेन रखना, परस्पर वार्ता करना, शृंगार देखना, यह इत्वरिकागमन नाम के अतिचार हैं।

करनेकी अत्यन्त लालसा रखना, २. जो विषय सेवन करने के अंग हैं, उन्हे छोड़कर मुख, नाभि, स्तन आदि अनंगों में रमण करना, ३. दूसरे के पुत्रपुत्रियों का विवाह करवाना या करना, ४ व्यभिचारणी वेश्या अथवा कन्या इत्यादि के साथ लेनदेन आदि व्यवहार रखना, वार्तालाप करना, रूपशृङ्गारादि देखना, ५. व्यभिचारिणी विवाहित स्त्री के साथ भी इसी प्रमाण व्यवहार करना – ये पांच ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार हैं।

परिग्रहपरिमाणव्रत के पांच अतिचार

वास्तुक्षेत्राष्टापदहिरण्यधनधान्यदासदासीनाम् ।
कुप्यस्य भेदयोरपि परिमाणातिक्रियाः पञ्च ।।१८७।।

अन्वयार्थः – [**वास्तुक्षेत्राष्टापदहिरण्यधनधान्यदासदासीनाम्**] घर, भूमि, सोना, चांदी, धन,धान्य, दास, दासी और [**कुप्यस्य**] वस्त्रादि के [**भेदयो**] दोनों भेदों का [**अपि**] भी [**परिमाणातिक्रियाः**] परिमाण उल्लघन करना [**एते अपरिग्रहव्रतस्य**] ये अपरिग्रहव्रत के [**पञ्च**] पांच अतिचार हैं।

टीकाः– **'वास्तु क्षेत्र परिमाणातिक्रमः, अष्टापदहिरण्यपरिमाणातिक्रमः, धनधान्यपरिमाणातिक्रमः, दासदासीपरिमाणातिक्रमः, अपि कुप्यस्य भेदयोः परिमाणातिक्रमः इति पञ्च परिग्रहपरिमाणव्रतस्य अतिचाराः सन्ति'** – १. घर और क्षेत्र का परिमाण बढा देना, २. सोनाचादी का परिमाण बढ़ा देना, ३ गाय, भैंस, घोड़ा, गेहूँ चना, आदि का परिमाण बढ़ा देना, ४. दासदासी का परिमाण बढ़ा देना, ५. कुप्य अर्थात् गरम और सूती दोनों प्रकार के वस्त्रों का परिमाण बढ़ा देना; इसप्रकार ये पांच परिग्रहपरिमाणव्रत के अतिचार हैं।

दिग्व्रत के पांच अतिचार

ऊर्ध्वमधस्तात्तिर्यग्व्यतिक्रमाः क्षेत्रवृद्धिराधानम् ।
स्मृत्यन्तरस्य गदिताः पंचेति प्रथमशीलस्य ।।१८८।।

अन्वयार्थः—[**ऊर्ध्वमधस्तात्तिर्यग्व्यतिक्रमाः**] ऊपर, नीचे और समान भूमि की की हुई मर्यादा का उल्लंघन करना अर्थात् जितना प्रमाण किया हो, उससे बाहर चले जाना, [**क्षेत्रवृद्धिः**] परिमाण किये हुये क्षेत्र की लोभादिवश वृद्धि करना और [**स्मृत्यन्तरस्य**] स्मृति के अलावा क्षेत्र

की मर्यादा [**आधानाम्**] धारण करना अर्थात् मर्यादा को भूल जाना [**इति**] इसप्रकार [**पञ्च**] पांच अतिचार [**प्रथमशीलस्य**] प्रथम शील अर्थात् दिग्व्रत के [**गदिताः**] कहे गए हैं।

टीका:—'ऊर्ध्व व्यतिक्रमः अधस्तात् व्यतिक्रमः तिर्यक् व्यतिक्रमः क्षेत्रवृद्धिः स्मृत्यन्तरस्य आधानम् इति पञ्च अतिचाराः प्रथमशीलस्य दिग्व्रतस्य सन्ति' – १. मर्यादा की हुई ऊपर की दिशाओं का उल्लघन करना, (जैसे पर्वत पर चढ़ना या हवाई जहाज से आकाश में ऊपर उड़ना,) २. मर्यादा की हुई नीचे की दिशाओं का उल्लंघन करना, (जैसे गहरे कुए में घुसना, समुद्र में डुबकी लगाना अथवा कोयला आदि की खान में उतरना) ३ मर्यादा की हुई तिर्यक् दिशाओं का उल्लघन करना, (जैसे गुफा इत्यादि में प्रवेश करना) ४. मर्यादा किये हुये क्षेत्र को बढ़ाना अर्थात् जो दिशाओं का प्रमाण किया था, उसे लोभ के वश से अधिक बढ़ा लेना, (यह अतिचार प्रमाद या मोह से होता है) ५. परिमाण की हुई मर्यादा को भूलकर सीमा बढ़ा लेना – ये दिग्व्रत के पांच अतिचार हैं।

देशव्रत के पांच अतिचार

प्रेष्यस्य संप्रयोजनमानयनं शब्दरूपविनिपातौ।
क्षेपोऽपि पुद्गलानां द्वितीयशीलस्य पंचेति ।।१८९।।

अन्वयार्थः - [**प्रेषस्य संप्रयोजनम्**] प्रमाण किये हुये क्षेत्र के बाहर दूसरे मनुष्य को भेजना, [**आनयन**] वहा से कोई वस्तु मगाना [**शब्दरूप-विनिपातौ**] शब्द सुनाना, रूप दिखाकर इशारा करना और [**पुद्गलानां**] कंकड़ आदि पुदगल [**क्षेपोऽपि**] भी फेंकना [**इति**] इसप्रकार [**पञ्च**] पांच अतिचार [**द्वितीयशीलस्य**] दूसरे शील के अर्थात् देशव्रत के कहे गए है।

टीका:—'प्रेष्यस्य संप्रयोजनम् आनयनं शब्दविनिपातौ पुद्गलानां क्षेपः इति पञ्च अतिचाराः द्वितीयशीलस्य सन्ति।' – १. स्वयं तो मर्यादित क्षेत्र के अन्दर ही रहना, परन्तु नौकरचाकर को मर्यादा से बाहर भेज देना, २. मर्यादा से बाहर की कोई वस्तु मंगा लेना, ३. मर्यादा के बाहर शब्द करके बोल करके अपना काम करवाना, ४. मर्यादा के बाहर अपना रूप दिखाकर स्वार्थ साधन करना, ५. मर्यादा के बाहर कोई वस्तु इत्यादि फेंककर अपना कार्य साध लेना – ये पांच देशव्रत के अतिचार हैं।

अनर्थदण्डत्यागव्रत के पांच अतिचार

कन्दर्पः कौत्कुच्यं भोगानर्थक्यमपि च मौखर्यम् ।
असमीक्षिताधिकरणं तृतीयशीलस्य पंचेति ॥१६०॥

अन्वयार्थः—[**कन्दर्पः**] काम के वचन बोलना, [**कौत्कुच्यं**] भांड-रूप अयोग्य कायचेष्टा करना, [**भोगानर्थक्यम्**] भोगउपभोग के पदार्थों का अनर्थक्य, [**मौखर्यम्**] वाचालता [**च**] और [**असमीक्षिताधिकरणं**] विचार किये बिना कार्य करना; [**इति**] इसप्रकार [**तृतीयशीलस्य**] तीसरे शील अर्थात् अनर्थदण्डविरति व्रत के [**अपि**] भी [**पञ्च**] पांच अतिचार हैं ।

टीका:—'कन्दर्पः कौत्कुच्यं भोगानर्थक्यम् मौखर्यम् च असमीक्षिताधिकरणं इति तृतीय शीलस्य पञ्च अतिचाराः सन्ति ।' – १. रागभाव से हास्य सहित भांड वचन बोलना, २. हास्य वचन सहित काय की कुचेष्टा करना, ३. प्रयोजन से बहुत अधिक भोगोपभोग सामग्री को एकत्र करना, ४. धृष्टता युक्त बोलना तथा लड़ाई-झगड़ा करनेवाले वचन बोलना, ५. बिना प्रयोजन वचनकाय का व्यापार बढ़ाते जाना (अथवा बिना विचार किये निष्प्रयोजन कार्य करना) ये ही पांच अनर्थदण्डत्याग-व्रत के अतिचार हैं ।

सामायिक शिक्षाव्रत के पांच अतिचार

वचनमनः कायानां दुःप्रणिधानं त्वनादरश्चैव ।
स्मृत्यनुपस्थानयुताः पंचेति चतुर्थशीलस्य ॥१६१॥

अन्वयार्थः—[**स्मृत्यनुपस्थानयुताः**] स्मृतिअनुपस्थान सहित [**वचनमनः कायानां**] वचन, मन और काय की [**दुःप्रणिधानं**] खोटी प्रवृति [**तु**] और [**अनादरः**] अनादर [**इति**] इसप्रकार [**चतुर्थशीलस्य**] चौथे शील अर्थात् सामायिकव्रत के [**पञ्च**] पांच [**एव**] ही अतिचार हैं ।

टीका:—'वचनप्रणिधानं, मनःप्रणिधानं, कायप्रणिधानं तु अनादरः च स्मृत्यनुपस्थानयुताः इति पञ्च चतुर्थशीलस्य अतिचाराः सन्ति' – १. वचन का दुरुपयोग करना अर्थात् सामायिक करते समय मन्त्र का उच्चारण अथवा सामायिक पाठ का उच्चारण ठीक न करना, २. मन का दुरुपयोग अर्थात् मन में बुरी भावना उत्पन्न होना, मन में अनेक

संकल्पविकल्प उठना, ३. काय का दुरुपयोग अर्थात् सामायिक करते समय हाथ-पैर हिलाना, ४. अनादर अर्थात् आदरपूर्वक न करना, बेगार समझकर उसे जैसेतैसे पूरी करने की इच्छा करना, ५. स्मृत्यनुपस्थान अर्थात् एकाग्रता न होने के कारण पाठ भूल जाना – ये सामायिक शिक्षाव्रत के पांच अतिचार हैं। सामायिक में मन, वचन, और काय तीनों की एकाग्रता की अत्यन्त आवश्यकता है। इन तीनों को वश किये बिना सामायिक हो ही नहीं सकती, अतः इन्हें अवश्य ही वश करना चाहिये।

प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत के पांच अतिचार

अनवेक्षिताप्रमार्जितमादानं संस्तरस्तथोत्सर्गः ।
स्मृत्यनुपस्थानमनादरश्च पञ्चोपवासस्य ॥१९२॥

अन्वयार्थः –[अनवेक्षिताऽ मार्जितमादानं] देखे बिना अथवा शुद्ध किये बिना किसी वस्तु का ग्रहण करना, [संस्तरः] चटाई आदि बिस्तर लगाना [तथा] तथा [उत्सर्गः] मलमूत्र का त्याग करना [स्मृत्यनुपस्थानम्] उपवास की विधि भूल जाना [च] और [अनादरः] अनादर – ये [उपवासस्य] उपवास के [पञ्च] पांच अतिचार हैं।

टीका:—'१. अनवेक्षिताप्रमार्जितमादानं २. अनवेक्षिताप्रमार्जित-संस्तरः ३. अनवेक्षिताप्रमार्जित उत्सर्गः ४. स्मृत्यनुपस्थानम् ५. अनादरश्च इति पञ्च अतिचाराः उपवासस्य सन्ति।' – १. बिना देखे अथवा कोमल उपकरण के बिना पोंछे बैठना, सोना, या बिस्तर लगाना; ३. बिना देखे, बिना साफ किये भूमि पर मलमूत्र का त्याग करना; ४. उपवास में एकाग्रता न होना अथवा विधि भूल जाना और ५ तप व उपवास की विधि में अनादर (उदासीनता) करना (अथवा शीघ्र पूर्ण होने की आकुलता रहना) – ये प्रोषधोपवास व्रत के पांच अतिचार हैं।

भोग-उपभोगपरिमाण शिक्षाव्रत के पांच अतिचार

आहारो हि सचित्तः सचित्तमिश्रः सचित्तसम्बन्धः ।
दुष्पक्वोऽभिषवोऽपि च पञ्चामी षष्ठशीलस्य ॥१९३॥

अन्वयार्थः—[हि] निश्चय से [सचित्तः आहारः] सचित्त आहार, [सचित्त मिश्रः] सचित्त मिश्र आहार, [सचित्त सम्बन्धः] सचित्त के

सम्बन्धवाला आहार, [दुष्पक्वः] दुष्पक्व आहार [च अपि] और [अभिषव आहार] अभिषव आहार* [अमी] ये [पञ्च] पांच अतिचार [षष्ठशीलस्य] छट्ठे शील अर्थात् भोगोपभोगपरिमाणव्रत के हैं।

टीका:—'हि सचित्तः आहारः सचित्तमिश्रः आहारः सचित्तसम्बन्धः आहारः च दुःपक्वः आहारः अभिषवाहारः इति अमी पञ्च अतिचाराः षष्ठशीलस्य सन्ति।' – १. निश्चय ही सचित्त – जीवसहित कच्ची हरी वस्तु का आहार करना, २. सचित्ताचित्त के मिश्रणवाली वस्तु का आहार करना, ३. हरी – सचित्त से ढांकी हुई वस्तु का आहार लेना, ४. ऐसी वस्तु का आहार करना जो अग्नि पर भले प्रकार पकाई न गई हो अर्थात् अधिक पक गई हो या कुछ कच्ची (अधपकी) रह गई हो तथा ५. गरिष्ठ अर्थात कामोद्दीपक पुष्टकारक वस्तु का आहार करना – ये पांच भोगोपभोगपरिमाणव्रत के अतिचार हैं।

भावार्थ:—यद्यपि इस भोगोपभोगपरिमाण शिक्षाव्रत का पालक श्रावक अभी सचित्त का त्यागी नहीं है, तो भी सचित्तत्याग प्रतिमा के पालन के अभ्यास के लिये तथा खाद्य पदार्थों में अधिक लालसा मिटाने के लिये ही उसे इन अतिचारों को टालना चाहिये।

वैयावृत्त – अतिथिसंविभाग के पांच अतिचार

परदातृव्यपदेशः सचित्तनिक्षेपतत्पिधाने च।
कालस्यातिक्रमणं मात्सर्य्यं चेत्यतिथिदाने ॥१९४॥

अन्वयार्थ:—[परदातृव्यपदेशः] परदातृव्यपदेश, [सचित्तनिक्षेपतत्पिधाने च] सचित्तनिक्षेप और सचित्तपिधान, [कालस्यातिक्रमणं] काल का अतिक्रम [च] और [मात्सर्य्यं] मात्सर्य [इति] इसप्रकार [अतिथिदाने] अतिथिसंविभागव्रत के पांच अतिचार हैं।

टीका:—'अतिथिदाने परदातृव्यपदेशः अतिथिदाने सचित्तनिक्षेपः अतिथिदाने सचित्तपिधानं अतिथिदाने कालस्य अतिक्रमणं च अतिथिदाने मात्सर्य्यं इति पञ्च अतिचाराः वैयावृत्तस्य सन्ति' – १. पर का कार्य

---

* दुग्धघृतादिक मिश्रित कामोत्पादक आहार।

अधिक होने के कारण अपने हाथ से आहार न देकर किसी दूसरे के हाथ से दिलवा देना, २. आहार की वस्तु को कमलपत्रादिक हरे पत्तों में रखना, ३. आहार की वस्तु को उपरोक्त हरे हत्तों से ढांकना, ४. मुनि महाराज की आहारचर्या के समय घर पर न मिलना अर्थात् भोजन के काल का उल्लंघन करना, ५. दान देते समय आदरभाव न होना अथवा अपने घर मुनिराज के आहार की विधि न मिल सकने के कारण या अपने घर मुनिराज के न आने के कारण यदि दूसरे श्रावक के मुनिराज का आहार-दान हो जाय तो उस श्रवक के प्रति द्वेष रखना – ये अतिचार अतिथि-संविभाग शिक्षाव्रत के हैं।

सल्लेखना के पांच अतिचार

जीवितमरणाशंसे सुहृदनुरागः सुखानुबन्धश्च ।
सनिदानः पञ्चैते भवन्ति सल्लेखनाकाले ॥१९५॥

अन्वयार्थः—[**जीवितमरणाशंसे**] जीवन की आशंसा, मरण की आशंसा, [**सुहृदनुरागः**] सुहृद अर्थात् मित्र के प्रति अनुराग, [**सुखानुबन्धः**] सुख का अनुबन्ध [**च**] और [**सनिदानः**] निदान सहित [**एते**] ये [**पञ्च**] पांच अतिचार [**सल्लेखनाकाले**] समाधिमरण के समय [**भवन्ति**] होते हैं।

टीका:—'**जीवितशंसा मरणाशंसा सुहृदनुरागः सुखानुबन्धः च सनिदानः इति एते पञ्च सल्लेखनाकाले अतिचारः भवन्ति।**' – १. सल्लेखना धारण करने के बाद जीने की वांछा करना, किसी प्रकार मरण न हो ऐसी इच्छा करना, २. सल्लेखना धारण करने के बाद अधिक रोगवेदना हो रही हो, तो ऐसी इच्छा करना कि मेरा शीघ्र मरण हो जाय तो अच्छा, ३. पूर्व के मित्रों का स्मरण करना कि अमुक मित्र बहुत अच्छे थे और मैं उनके साथ क्रीड़ादिक कार्य करता था, ४. पूर्व में जो सुखसाता की सामग्री भोगी थी उसे याद करना तथा वे भोग मुझे कब मिलेंगे ऐसा चिन्तवन करना, ५. आगामी काल में अच्छे-अच्छे भोगों की प्राप्ति की इच्छा करना – ये पांच सल्लेखना के अतिचार हैं।

इसप्रकार १ सम्यग्दर्शन, ५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत, ४ शिक्षाव्रत और १ सल्लेखना – इन चौदह के सत्तर अतिचारों का वर्णन कर चुके, अतः

नैष्ठिक श्रावक को इन सबका जहाँ तक जितना बन सके उतना यथाशक्ति अतिचार रहित पालन करना चाहिये, तभी मनुष्यभव मिलना सार्थक है। उपरोक्त चौदह व्रत तीनों प्रकार के श्रावक पालते हैं। १. पाक्षिक श्रावक सम्यग्दर्शन का धारक होता है, वह सात व्यसनों का त्यागी और आठ मूलगुणों का पालक होता है। २. नैष्ठिक श्रावक ऊपर की बातों सहित बारह व्रतों का पालन करता है, यह नैष्ठिक अवस्था जीवन पर्यन्त रहती है। ३. साधकश्रावक, जब मरण का समय निकट आवे, तब वह नैष्ठिक श्रावक साधक अवस्था को प्राप्त हो सकता है। इसप्रकार जो मनुष्य इन तीनों अवस्थाओं को प्राप्त करता है, वह अवश्य स्वर्ग को प्राप्त कर सकता है और परम्परा से मोक्ष प्राप्त कर लेता है – यही मोक्षप्राप्ति का क्रम है।

अतिचार के त्याग करने का फल

इत्येतानतिचारानपरानपि संप्रतर्क्य परिवर्ज्य ।
सम्यक्त्वव्रतशीलैरमलैः पुरुषार्थसिद्धिमेत्यचिरात् ॥१९६॥

अन्वयार्थः –[**इति**] इसप्रकार गृहस्थ [**एतान्**] इन पूर्वोक्त [**अतिचारान्**] अतिचार और [**अपरान्**] दूसरे दोषोत्पादक अतिक्रम, व्यतिक्रम आदि का [**अपि**] भी [**संप्रतर्क्य**] विचार करके [**परिवर्ज्य**] छोड़कर [**अमलैः**] निर्मल [**सम्यक्त्वव्रतशीलैः**] सम्यक्त्व, व्रत और शील द्वारा [**अचिरात्**] अल्प काल में ही [**पुरुषार्थसिद्धिम्**] पुरुष के प्रयोजन की सिद्धि [**एति**] पाते हैं।

टीकाः—'**इति एतान् अतिचारन् अपि अपरान् सम्प्रतर्क्य च परिवर्ज्य अमलैः सम्यक्त्वव्रतशीलैः अचिरात् पुरुषा सिद्धिम् एति।**' – इसप्रकार इन अतिचारों तथा अन्य भी जो दोष हैं, उसे जो पुरुष भले प्रकार विचार करके छोड़ता है और निर्दोष सम्यग्दर्शन, ५ अणुव्रत, ४ शिक्षाव्रत, ३ गुणव्रत इन सभी व्रतों के पालन द्वारा जीव शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

भावार्थः—पुरुष नाम आत्मा का है और अर्थ नाम मोक्ष का है। इसप्रकार (स्वाश्रय निश्चयशुद्धि सहित) व्रतों के पालन से सम्यक्चारित्र की प्राप्ति होती है और सम्यक्चारित्र की प्राप्ति होने से शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त हो जाता है। बिना तप के सम्यक्चारित्र की प्राप्ति नहीं होती।

सकलचारित्र-व्याख्यान

चारित्रान्तर्भावात् तपोपि मोक्षाङ्गमागमे गदितम् ।
अनिगूहितनिजवीर्यैस्तदपि निषेव्यं समाहितस्वान्तैः ।।१९७।।

अन्वयार्थः—[आगमे] जैन आगम में [चारित्रान्तर्भावात्] चारित्र का अन्तर्वर्त्ती होने से [तपः] तप को [अपि] भी [मोक्षाङ्गम्] मोक्ष का अंग [गदितम्] कहा गया है, अतः [अनिगूहितनिजवीर्यैः] अपना पराक्रम न छुपानेवाले तथा [समाहितस्वान्तैः] सावधान चित्तवाले पुरुषों को [तदपि] उस तप का भी [निषेव्यम्] सेवन करना योग्य है ।

टीका:—'चारित्रान्तर्भावात् तपः अपि आगमे मोक्षाङ्गम् गदितम् अतः एव अनिगूहितनिजवीर्यैः समाहितस्वान्तैः तदपि निषेव्यं ।' – सम्यक् चारित्र में समाविष्ट हो जाने के कारण तप को तो जैनसिद्धान्त में मोक्ष का कारण कहा गया है, अतः अपनी शक्ति छिपाये बिना मन को वशीभूत करके उस तप का भी आचरण करना चाहिये ।

भावार्थः—तप एक प्रकार का व्यवहार चारित्र है । (भूतार्थ का आश्रय करनेवाले को) व्यवहारचारित्र से निश्चयचारित्र की जो कि सम्यक्चारित्र है, उसकी प्राप्ति होती है अर्थात् यह नियम है कि तपश्चरण बिना निश्चयसम्यक्चारित्र की प्राप्ति होती ही नहीं, इसलिये मोक्ष के इच्छुक पुरुषों को अवश्य (सर्वज्ञ-वीतराग कथित सम्यक्) तप धारण करना चाहिये ।

(नोट:—चारित्र तो वीतरागता ही है और वह निज शुद्धात्मा के आश्रय से ही प्रगट होता है; परन्तु वहाँ उस समय व्यवहारचरण कैसा होता है, उसे बताने के लिये उसे व्यवहारनय से कारण कहा है । राग है, वह तो बाधक ही है; परन्तु उस भूमिका के योग्य राग उस गुणस्थान का नाशक नहीं है, इतना सम्बन्ध (मेल) बताने के लिये उपचार – व्यवहार

निरूपण की यह रीति है। राग करते-करते निश्चयचारित्र नहीं हो सकता, इसप्रकार प्रथम से ही निस्सन्देह प्रतीति करनी चाहिये)

बाह्य और अन्तरङ्ग के भेद से तप दो प्रकार का है।

पहले बाह्य तपके भेद कहते हैं :—

अनशनमवमौदर्यं विविक्तशय्यासनं रसत्यागः।
कायक्लेशो वृत्तेः संख्या च निषेव्यमिति तपो बाह्यम् ॥१६८॥

अन्वयार्थः—[अनशनं] अनशन, **[अवमौदर्यं]** ऊनोदर, **[विविक्तशय्यासनं]** विविक्त शय्यासन, **[रसत्यागः]** रसपरित्याग, **[कायक्लेशः]** कायक्लेश **[च]** और **[वृत्तेः संख्या]** वृत्ति की संख्या **[इति]** इसप्रकार **[बाह्यं तपः]** बाह्यतप का **[निषेव्यम्]** सेवन करना योग्य है।

टीका:—**'अनशनं अवमौदर्यं विविक्तशय्यासनं रसत्यागः कायक्लेशः च वृत्तेः संख्या बाह्यं तपः इति निषेव्यम्।'** – १. **अनशन तप** — अर्थात् उपवास द्वारा चार प्रकार के आहार का त्याग करना। खाद्य (खाने की वस्तुयें), स्वाद्य (ताम्बूल, सुपारी, इलायची आदि स्वाद लेने की वस्तुयें), लेह्य (चाटने की वस्तुयें), पेय (पीने की वस्तुयें) – इन सभी का त्याग करना अनशन है। २. **अवमौदर्य तप** – अर्थात् एकासन करना, भूख से कम खाना. इन दोनों प्रकार के तप द्वारा कर्मों की निर्जरा होती है, ध्यान की प्राप्ति होती है, निद्रा मिटती है, सन्तोष होता है, स्वाध्याय करने में मन लगता है तथा दोष घटता है। ३. **विविक्त शय्यासन** – जहाँ विजयी जीवों का संचार – आवागमन न हो, ऐसे एकान्त स्थान में रहना (इससे बाधा-रहित ब्रह्मचर्य का पालन होता है और ध्यानाध्ययन भी होता है) ४. **रसत्याग** – दूध, दही, घी, शक्कर, तेल इन पांच रस का त्याग तथा नमक और हरी वस्तुओं का भी त्याग करना रसत्याग कहलाता है। यद्यपि रस तो पांच ही हैं, तो भी इन्द्रिय संयम की अपेक्षा से सातों का त्याग करना चाहिये। इनके त्याग का क्रम नमक, हरीवस्तु, मिष्टवस्तु, घी, दूध, दही और तेल – इसप्रकार है और यह रविवार के दिन से प्रारम्भ करना चाहिये। (इसमें परिणामों की शुद्धि के अनुसार इन्द्रियों का दमन होता है, निद्रा जीती जाती है, आलस्य मिटता है, स्वाध्याय - सुख की सिद्धि होती है) ५. **कायक्लेश** – शरीर को परिषह उत्पन्न करके पीड़ा सहन करना कायक्लेश है। इसके अभ्यास करने से अनेक कठोर उपसर्ग सहन

करते की शक्ति बढ़ती है, शरीर के साथ ममत्वभाव घटता है और राग का अभाव होता है। ६. वृत्तिसंख्या – वृत्ति की मर्यादा कर लेना, जैसे कि आज मुझे ऐसा भोजन मिले, तभी आहार करूँगा अथवा इतने घर भोजन के लिये जाऊँगा, इत्यादि प्रकार से नियम कर लेना। इसप्रकार ये षट् भेदरूप बाह्यतप का निरूपण किया।

अब अन्तरङ्ग तपों का निरूपण करते हैं :—

अन्तरङ्ग तप के छह भेद

विनयो वैयावृत्यं प्रायश्चित्तं तथैव चोत्सर्गः।
स्वाध्यायोऽथ ध्यानं भवति निषेव्यं तपोऽन्तरङ्गमिति ।।१९९।।

अन्वयार्थः—[**विनयः**] विनय, [**वैयावृत्यं**] वैयावृत्य, [**प्रायश्चित्तं**] प्रायश्चित्त [**तथैव च**] और इसी प्रकार [**उत्सर्गः**] उत्सर्ग, [**स्वाध्यायः**] स्वाध्याय [**अथ**] और [**ध्यानं**] ध्यान [**इति**] इसतरह [**अन्तरङ्गम्**] अन्तरङ्ग [**तपः**] तप [**निषेव्यं**] सेवन करने योग्य [**भवति**] है।

टीका:—'**विनयः वैयावृत्यं प्रायश्चित्तं च उत्सर्गः तथैव स्वाध्यायः ध्यानं इति अन्तरङ्ग तपः निषेव्यम्।**' – १. **विनय**—विनय (अर्थात् पूज्य में आदरभाव। पूज्यपना सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र मे पाया जाता है, अतः इन्हें अत्यन्त आदरपूर्वक अंगीकार करना चाहिये यही वास्तविक विनय है) विनय नामक अन्तरङ्ग तप चार प्रकार का है। १. दर्शन विनय, २. ज्ञान विनय, ३. चारित्र विनय और ४. उपचार विनय। १. दर्शन-विनयः—सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का उपाय करना, सम्यग्दर्शन के माहात्म्य का प्रचार करना, सम्यग्दृष्टि जीवों की वृद्धि हो – ऐसा प्रयत्न करना तथा अपना सम्यग्दर्शन सदा निर्दोष रखना यह दर्शन-विनय है। २. ज्ञान विनय ज्ञान को प्राप्ति करना, ज्ञान का प्रचार करना, स्वाध्याय-शाला, विद्यालय खुलवाना विनय सहित शास्त्र बांटना देना, शास्त्र बांचना – यह सभी ज्ञान विनय है। ३. चारित्रविनय—चारित्र प्राप्त करना, चारित्र का उपदेश देना इत्यादि चारित्र विनय है। ४. उपचार विनय—रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र के धारक धर्मात्माओं का तथा अन्य धर्मात्मा बन्धुओं का शारीरिक विनय करना। उनके आने पर उठकर खड़ा हो जाना, नमस्कार करना, हाथ जोड़ना, चरण स्पर्श करना

आदि यह सब उपचारविनय है। तीर्थक्षेत्र की वन्दना भी उपचार विनय है, पूजाभक्ति करना भी उपचार विनय है। रत्नत्रय का प्राप्ति करना वही सच्चा विनय है। इसप्रकार विनय तप का वर्णन किया। (इससे मानकषाय मिटती है तथा ज्ञानादि गुणों की प्राप्ति होती है।)

२ वैयावृत्य:—अपने गुरु आदि पूज्यपुरुष आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधु, अर्जिका, श्रावक, श्राविका, त्यागी इत्यादि धर्मात्मा सज्जनों को सेवासुश्रूषा करना, कभी किसी व्रतधारी को कोई रोग हो जाय तो शुद्ध प्रासुक औषधि द्वारा उनका रोग दूर करना, जगलों में वसतिका, कुटी आदि बनवाना यह सब वैयावृत्य ही है।

३. प्रायश्चित्त:—प्रमाद से जो कुछ दोष लगा हो, उसको अपने गुरु के सामने प्रगट करना, उसकी आज्ञा प्रमाण उस दोष को स्वीकार करके, भविष्य में पुन: उसे न करने की प्रतिज्ञा करना तथा उनके द्वारा आदेशित दण्ड को स्वीकार करके तदनुरूप आचरण करना प्रायश्चित्त अन्तरङ्ग तप है। इससे व्रतचारित्र की शुद्धि होती है। (परिणामों को शल्य मिटती है तथा मानादि कषाय घटते है।) प्रायश्चित्त तप के नौ भेद हैं। १. आलोचन, २. प्रतिक्रमण, ३. आलोचन-प्रतिक्रमण, ४. विवेक, ५. व्युत्सर्ग, ६. तप, ७. छेद, ८. परिहार, ९. उपस्थापना – ये नौ भेद हैं।

४. उत्सर्ग:—शरीर में ममत्व का त्याग करना, अन्तरङ्ग परिग्रह क्रोधादि कषायों का त्याग करना, ससार की वस्तु को अपनी नही मानना, इत्यादि अहङ्कार-ममकार का त्याग करना। किसी को अपना मानना कि "यह है वही मैं हु" अथवा किसी को ऐसा मानना अथवा "यह मेरा है, मैं इसका हूँ" इस प्रकार की अहङ्कार और ममकार बुद्धि का (स्वसन्मुखता-रूप भेदज्ञान के द्वारा) त्याग करना उत्सर्ग नामक अन्तरङ्ग तप है।

५. स्वाध्याय: —(अर्थात् ज्ञानभावना में आलस्य न करना।) प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग, तथा द्रव्यानुयोग इन चारों प्रकार के शास्त्रों का स्वाध्याय करना (जहाँ संशय हो अथवा श्रद्धान गाढ़ा करना हो, वहाँ दूसरे विशेष ज्ञानियों से पूछना। जिसका श्रद्धान दृढ़ हो, उसको बार-बार मन में अभ्यास रखना अथवा चिन्तवन करना, पाठ को शुद्धतापूर्वक बार-बार पढ़ना, तथा धर्मार्थी धर्म के लोभी भव्य जीवों को धर्मोपदेश देना) सीखना, सिखाना, विचारना, मनन करना इत्यादि स्वाध्याय नामक तप

है। इसके द्वारा सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है, अन्य जीवों को सम्यग्ज्ञान का बोध होता है, परिणाम स्थिर रहता है, संसार से वैराग्य होता है, धर्म की वृद्धि होती है इत्यादि अनेक गुण प्रगट होते हैं, अतः स्वाध्याय करना चाहिये।

६. **ध्यानः**—एकाग्रचित्त होकर समस्त आरम्भ-परिग्रह से मुक्त होकर, पंचपरमेष्ठी और आत्मा का ध्यान करना, इसी को ध्यान कहते हैं। वहाँ प्रशस्त रागपूर्वक अरिहन्तादि के चिन्तवन में प्रवर्त्तन करना शुभध्यान है और केवल शुद्धात्मा में एकाग्र होना शुद्धध्यान है। आर्त-ध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान के भेद से ध्यान चार प्रकार का है। उनमें आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान तो संसार के कारण हैं तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यान मोक्ष के कारण हैं।

ध्यान के सामान्यतया तीन भेद हो सकते हैं—अशुभध्यान, शुभध्यान, और शुद्धध्यान। इनमें आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान ये दोनों अशुभध्यान हैं, धर्मध्यान शुद्धता युक्त शुभध्यान है तथा शुक्लध्यान शुद्धध्यान है, इसलिये मोक्षार्थी जीवों को धर्मध्यान और शुक्लध्यान अवश्य अपनाना चाहिये। ध्यान के अवलम्बनरूप से पिन्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ये चार भेद हैं। इनका विशेष वर्णन ज्ञानार्णव ग्रन्थ से ज्ञात करना चाहिये, यहाँ लिखने से बहुत विस्तार हो जायेगा।

भावार्थः—ध्यान तप से चारित्रभाव सम्पूर्णता को प्राप्त होता है, मन वशीभूत होता है, अनाकुलता होने से परमानन्द होता है। इसप्रकार छह भेद युक्त अन्तरंग तप सेवन करने योग्य है। यह तप मन के आधीन है, इसीलिये इसे अन्तरंग तप कहते हैं; अतः इसका निरन्तर सेवन करना योग्य है। यहाँ यह बात भी जान लेना अत्यावश्यक है कि बाह्यतप और अन्तरंग तप में क्या अन्तर है? बाह्यतप में केवल बाह्यपदार्थ तथा शरीर की क्रिया ही प्रधान कारण है और अन्तरंग तप में आत्मीय भाव तथा मन का अवलम्बन ही प्रधान कारण पड़ता है। अग्नि सोने को शुद्ध बनाती है, वैसे ही यह दोनों प्रकार के तप आत्मा को शुद्ध बनाते हैं; कारण कि तप के बिना चारित्र नहीं होता और चारित्र के बिना कर्मों की निर्जरा नहीं होती, अतः दोनों प्रकार के तपों का आचरण अवश्य करना चाहिये। यहाँ तक गृहस्थ के व्रतों का वर्णन हुआ। तत्पश्चात् श्री अमृतचन्द्रस्वामी मुनियों के चारित्र का वर्णन करते हैं। मुनिपद

धारण किए बिना मोक्ष की प्राप्ति कभी नहीं होती इसलिए मोक्षार्थी भव्यात्माओं को जहाँ तक बन सके, वहाँ तक समस्त आरम्भपरिग्रह का त्याग करके मुनिपद धारण कर, अष्टकर्मों को क्षय करके मुक्ति लक्ष्मी की प्राप्ति करनी चाहिये।

मुनिव्रत धारण करने का उपदेश

जिनपुङ्गवप्रवचने मुनीश्वराणां यदुक्तमाचरणम्।
सुनिरूप्य निजां पदवीं शक्तिं च निषेव्यमेतदपि ॥२००॥

अन्वयार्थः—[**जिनपुङ्गवप्रवचने**] जिनेश्वर के सिद्धान्त में [**मुनीश्वराणाम्**] मुनीश्वर अर्थात् सकलव्रतधारियों का [**यत्**] जो [**आचरणम्**] आचरण [**उक्तम्**] कहा है, [**एतत्**] यह [**अपि**] भी गृहस्थों को [**निजां**] अपने [**पदवीं**] पद [**च**] और [**शक्तिं**] शक्ति को [**सुनिरूप्य**] भलेप्रकार विचार करके [**निषेव्यम्**] सेवन करना योग्य है।

टीका:—'**जिनपुङ्गवप्रवचने मुनीश्वराणां यत् आचरणं उक्तं एतत् अपि निजां पदवीं सुनिरूप्य शक्तिं च सुनिरूप्य निषेव्यम्।**'—अर्हन्त भगवान् तथा गणधरादि कथित जिनशास्त्रों में जो मुनिमहात्माओं का सर्वदेश त्यागरूप आचरण कहा है, वह आचरण गृहस्थ को अपने पद की योग्यता और अपनी शक्ति को देखकर अवश्य ग्रहण करना चाहिये।

(**भावार्थ**:—जैसे मुनिराज मोक्षमार्ग को सर्वदेश प्राप्त हुए हैं, वैसे ही श्रावक भी मोक्षमार्ग में एकदेश प्रवर्त्तन करता है, इसलिये शास्त्र में जैसा-जैसा आचरण—क्रियाकाण्ड मुनियों का कहा है, वैसा ही श्रावक को भी अंगीकार करना चाहिये, परन्तु अपनी पदवी और शक्ति विचार कर जैसी प्रतिमा का धारक हो तदनुसार ही यथायोग्य आचरण करना योग्य है।) जहाँ तक बन सके, वहाँ तक प्रत्येक आत्मकल्याणार्थी को मुनिपद को स्वीकार करके अपनी आत्मा का कल्याण करना चाहिये। यदि वह किसी भी तरह सर्वदेशव्रत का पूर्णरूपेण पालन न कर सके, तो पहले अणुव्रत का पालन करना चाहिये पश्चात् महाव्रत धारण करना चाहिये।

[अब जो मुनीश्वरों का आचरण श्रावक को भी यथायोग्य अंगीकार करने के लिये कहा गया है, उसका वर्णन करते हैं।

प्रथम ही छह आवश्यक का वर्णन करते हैं :—

इदमावश्यकषट्कं समतास्तववन्दनाप्रतिक्रमणम् ।
प्रत्याख्यानं वपुषो व्युत्सर्गश्चेति कर्त्तव्यम् ।।२०१।।

अन्वयार्थः—[**समतास्तववन्दनाप्रतिक्रमणम्**] समता, स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण [**प्रत्याख्यानं**] प्रत्याख्यान [**च**] और [**वपुषो व्युत्सर्गः**] कायोत्सर्ग [**इति**] इसप्रकार [**इदम्**] यह [**आवश्यक षट्कं**] छह आवश्यक [**कर्त्तव्यम्**] करना चाहिये ।

टीका: '**समता-स्तव-वन्दना-प्रतिक्रमणं-प्रत्याख्यानं वपुषो व्युत्सर्गः इति इदं आवश्यकषट्कं** ।' – १. **समता**—समस्त जीवों पर समताभाव रखना (अर्थात् लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण में हर्ष-विषाद न करके समभाव रखना) अथवा सामायिक करना ।

सर्व जीव हैं ज्ञानमय ऐसा जो समभाव ।
वह सामायिक जिन कहें प्रगट करत भवपार ।।

—योगसार दोहा नं ९९

२. **स्तव**—श्री भगवान अर्हन्तदेव, तीर्थंकर भगवान के गुणों का कीर्तन करना अर्थात् स्तुति करना । यह स्तव व्यवहारस्तव और निश्चय-स्तव के भेद से दो प्रकार का होता है ।

३. **वन्दना**—पंच परमेष्ठी को प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूप से साष्टांग नमस्कार करना ।

४. **प्रतिक्रमण**—अपने किये हुए दोषों का पश्चात्ताप करना अर्थात् अपने से कोई दोष या भूल हो जाय तो उसे अपने गुरु के समक्ष प्रगट करके उस भूल को स्वीकार कर लेना यही प्रतिक्रमण है ।

५. **प्रत्याख्यान**—(आगामी आस्रव का विरोध) जो रत्नत्रय में विघ्न उत्पन्न करनेवाले हैं, उन्हे मन, वचन और काय से रोकना और उनका त्याग करना प्रत्याख्यान कहलाता है । यह प्रत्याख्यान १. अखण्डित, २. साकार, ३. निराकार, ४. परिमान, ५. इतरत्, ६. वर्तनीपात, ७. सहेतुक इत्यादि भेद से दस प्रकार का है ।

६. व्युत्सर्ग—शरीर का ममत्व छोड़कर विशेष प्रकार के आसन पूर्वक ध्यान करना, यह व्युत्सर्ग नाम का आवश्यक है।

भावार्थः—इसप्रकार यह छह आवश्यकों का वर्णन किया। मुनि तथा श्रावक दोनों को इनका पालन प्रतिदिन अवश्य ही करना चाहिये, इसीलिये इन्हें आवश्यक कहा गया है; अतः मुनियों को उसका पालन सर्वदेश करना चाहिये और श्रावकों को अपनी योग्यतानुसार एकदेश करना चाहिये।

तीन गुप्तियों का वर्णन

सम्यग्दण्डो वपुषः सम्यग्दण्डस्तथा च वचनस्य।
मनसः सम्यग्दण्डो गुप्तीनां त्रितयमवगम्यम् ॥२०२॥

अन्वयार्थः—[वपुषः] शरीर को [सम्यग्दण्ड.] भले प्रकार—शास्त्रोक्त विधि से वश करना, [तथा] तथा [वचनस्य] वचन का [सम्यग्दण्डः] भले प्रकार अवरोध करना [च] और [मनसः] मन का [सम्यग्दण्डः] सम्यक्रूप से विरोध करना इसप्रकार [गुप्तीनां त्रितयम्] तीन गुप्तियों को [अवगम्यम्] जानना चाहिये।

टीका:—'वपुषः सम्यग्दण्डः तथा वचनस्य सम्यग्दण्डः च मनसः सम्यग्दण्डः इति गुप्तीनां त्रितयं अवगम्यम्'—शरीर को वश करना, वचन को वश करना और मन को वश करना ये तीन गुप्ति जानना चाहिये।

भावार्थः—गुप्ति का अर्थ गोपना अथवा छिपाना है। जैसे कि मन की क्रिया रोकना अर्थात् मन की चञ्चलता रोककर एकाग्रता कर लेना मनोगुप्ति है। वचन का न बोलना अर्थात् मौन धारण करना वचनगुप्ति है। शरीर की क्रिया रोकना—निश्चल हो जाना कायगुप्ति है। इन तीनों गुप्तियों से मनोगुप्ति का पालन करना अति कठिन है। जहाँ तीनों गुप्ति हो जाती हैं, वहाँ आत्मध्यान होता है।

पाँच समिति

सम्यग्गमनागमनं सम्यग्भाषा तथैषणा सम्यक्।
सम्यग्ग्रहनिक्षेपौ व्युत्सर्गः सम्यगिति समितिः ॥२०३॥

अन्वयार्थः—[सम्यग्गमन.गमनं] सावधानी से देख-भालकर गमन और आगमन [सम्यग्भाषा] उत्तम हितमितरूप वचन, [सम्यक एषणा]

योग्य आ र का ग्रहण, [सम्यग्ग्रहनिक्षेपौ] पदार्थ का यत्नपूर्वक ग्रहण और यत्नपूर्वक क्षेपण करना [तथा] और [सम्यग्व्युत्सर्गः] प्रासुक भूमि देखकर मलमूत्रादि का त्याग करना–[इति] इसप्रकार ये पाँच [समितिः] समिति हैं।

'सम्यग्गमनागमनं सम्यग्भाषा तथा सम्यक् एषणा च सम्यग्ग्रह-निक्षेपः सम्यक् व्युत्सर्गः इति (पञ्च) समितिः।' – **१. ईर्यासमिति**—मुनिराज दिन के समय में ही सूर्योदय के दो घड़ी बाद जब सूर्य की किरणें स्पष्ट हो जावें और मार्ग प्रासुक हो जाय, तब यत्नाचारपूर्वक चार हाथ प्रमाण भूमि स्थूल दृष्टि से देखकर गमनागमन करें तथा पैरों को देख-देख कर रखें। (जब मार्गपर घोड़ागाड़ी, पथिक आदि चलने लगते हैं, तब वह सहज ही प्रासुक हो जाता है।)

२. **भाषासमिति**—हितमित और असन्देहरूप वचन बोलना कि जिससे सुननेवाले किसी भी प्राणी को दुःख न हो।

३. **एषणासमिति**—छियालीस दोष, बत्तीस अन्तराय टालकर उत्तम कुलीन श्रावक के घर आचारसहित विधिपूर्वक दिन में एकबार शुद्ध प्रासुक आहार लेना।

४. **आदाननिक्षेपणसमिति**—यत्नाचारपूर्वक देखकर संभालकर पुस्तक, पींछी, कमण्डलादि उठाना तथा रखना।

५. **प्रतिष्ठापनासमिति**—यत्नपूर्वक दृष्टि से देखकर और पींछी से पोंछकर मल-मूत्र-कफ इत्यादि नवद्वार के मल प्रासुक (निर्जीव) भूमिपर त्याग करना। जल में, गीली भूमि में, हरी घास में मल त्याग नहीं करना तथा लोगों के आने-जाने के मार्ग से दूर जाकर निर्दोष भूमि में मल क्षेपण करना. इसप्रकार समितियों का वर्णन किया। ये पाँचों समितियाँ गुप्तियों के पालन में सहायक होती हैं। उपरोक्त प्रकार से इनका पालन तो मुनि-महाराज ही करते हैं, फिर भी जितना बन सके उतना श्रावक को भी इनका पालन करना चाहिये। श्रावक को भी देख-भालकर चलना चाहिए, संक्षिप्त और हितकारी वचन बोलना चाहिए, शुद्ध प्रासुक आहार लेना चाहिये, सभी वस्तुयें देख-भालकर उठाना-रखना चाहिये और जीवरहित स्थान में ही मलमूत्रादि विसर्जन करना चाहिये। इसी प्रकार यथाशक्ति इन सबका श्रावकों को पालन करना चाहिये।

दश धर्म

धर्मः सेव्यः क्षान्तिर्मृदुत्वमृजुताच शौचमथ सत्यम् ।
आकिञ्चन्यं ब्रह्म त्यागश्च तपश्च संयमश्चेति ॥२०४॥

अन्वयार्थ — [**क्षान्ति**] क्षमा, [**मृदुत्वं**] मार्दव, [**ऋजुता**] सरलता अर्थात् आर्जव [**शौचम्**] शौच [**अथ**] पश्चात् [**सत्यम्**] सत्य, [**च**] तथा [**आकिञ्चन्य**] आकिञ्चन्य, [**ब्रह्म**] ब्रह्मचर्य, [**च**] और [**त्यागः**] त्याग, [**च**] और [**तपः**] तप [**च**] और [**संयमः**] संयम – [**इति**] इस-प्रकार [**धर्मः**] दश प्रकार का धर्म [**सेव्यः**] सेवन करना योग्य है।

टीका:—'**क्षान्तिः मृदुत्वं ऋजुता च शौचम् अथ सत्यम् आकिञ्चन्यं ब्रह्म च त्यागः च तपः च संयमः इति धर्मः सेव्यः ।**' - १. क्रोध का त्याग करके क्षमा धारण करना **उत्तम क्षमा** नाम का पहला धर्म है। २. मान कषाय का त्याग करके कोमलता धारण करना **उत्तम मार्दव** नाम का दूसरा धर्म है। ३. मायाचार का (कपट का) त्याग करके सरलता धारण करना **उत्तम आर्जव** नाम का तीसरा धर्म है। ४. लोभ का त्याग करके सन्तोष धारण करना **शौच** नाम का चौथा धर्म है। शौच का अर्थ शुद्धि है। यह शुद्धि दो प्रकार की है – बाह्यशुद्धि, अन्तरङ्ग शुद्धि। स्नानादि से शरीर को पवित्र रखना बाह्यशुद्धि है और लोभ कषाय का त्याग करना अन्तरंगशुद्धि है। इन दोनों प्रकार की शुद्धि ही शौचधर्म है। यहाँ एक विचार योग्य बात यह है कि ये दोनों प्रकार की शुद्धियाँ गृहस्थ श्रावक की अपेक्षा से ही है, मुनि की अपेक्षासे नहीं हैं; कारण कि मुनि-महाराज के तो अन्तरङ्ग शुद्धि की ही मुख्यता है। ५. दूसरे को दुख उत्पन्न करनेवाला, निन्दनीय कपटी वचन नहीं बोलना सत्य कहलाता है और यही पाचवां **उत्तमसत्य** धर्म है। ६. पचेन्द्रिय के विषयों को तथा मन के विषय को रोकना और छह काय के जीवो की हिंसा न करना उसी को संयम कहते हैं। व्रतों को धारण करने से, समितियों का पालन करने से, कषायों का निग्रह करने से और मनवचनकाय को वश में रखने से इस सयम का पालन होता है, यही छठवा उत्तम **संयमधर्म** है। ७. जिसतरह सोने का मैल दूर करने के लिये अग्नि को ताव दिया जाता है, उसी तरह आत्मा के साथ लगे हुए कर्मों को दूर करने के लिये (सर्वज्ञ-वीतराग कथित) तप किया जाता है। यह तप बारह प्रकार का है। '**इच्छा निरोधःतपः**'— इच्छा का विरोध करना ही तप है, यह सातवां **उत्तम**

तपधर्म है। (इन बारह तपों में स्वाश्रय के बलद्वारा जितनी परिणामों की शुद्धि है, वह तो निर्जरा के कारणरूप निश्चय तप है और उसी समय हेयबुद्धि सहित व्रत-तपादि के शुभ विकल्प – राग है, उतना व्यवहार – उपचार तप है ऐसा सर्वत्र समझना चाहिये।) ८. लोक में तो आहार, औषध, अभय और ज्ञानदान देने को त्यागधर्म कहते हैं; परन्तु यह त्याग वास्तविक सच्चा त्याग नहीं है। (त्रैकालिक अकषाय ज्ञायकस्वभाव के आश्रय द्वारा वीतराग-विज्ञानरूप शान्ति की उत्पत्ति होना, उतने अंश में कषाय की उत्पत्ति न होना वही) क्रोधादि कषायों का त्याग करना है, वही सच्चा त्याग है; इसलिये यद्यपि मुनिराज प्रत्यक्षरूप से कोई दान नहीं करते, तो भी वास्तव में कषायों का त्याग करने के कारण वे ही सच्चे दानी हैं और जिस समय जिस जीव के लोभकषाय का त्याग हो गया, उसके बाह्य पदार्थों का तो त्याग हो ही गया, क्योंकि लोभकषाय छोड़े बिना बाह्य वस्तुओं का त्याग नहीं होता, इसलिये यह सिद्ध हुआ कि (तत्त्वज्ञान के बल से) लोभादि कषायों का त्याग करना ही सच्चा उत्तम त्याग है और वही दान है। ९. ममत्वबुद्धि का त्याग करना आकिञ्चन्य धर्म है। चौहद प्रकार के अंतरंग परिग्रह तथा दशप्रकार के बाह्य परिग्रह – इन दोनों प्रकार के परिग्रहों का त्याग कर देना ही उत्तम आकिंचन्य धर्म है। १०. संसार के सर्व पदार्थों से मन की वृत्ति हटाकर केवल एक आत्मा में ही लीन करना अर्थात् ब्रह्म में तल्लीन होना उत्तम ब्रह्मचर्य है। यह दशा तभी हो सकती है कि जब आत्मा पंचेन्द्रिय के विषयों को रोकने में समर्थ हो, विशेषत: स्पर्शनेन्द्रिय के विषय अर्थात् कामवासना को जीतने में समर्थ हो जाय और उस कामवासना का त्याग तभी हो सकता है, जब स्त्री मात्र का त्यागी हो जाय अर्थात् संसार की स्त्री मात्र का मनवचनकाय से त्याग करे, परन्तु ऐसा त्याग तो केवल एक मुनि-महाराज ही कर सकते हैं; श्रावक तो एकदेश त्याग कर सकता है अर्थात् स्वस्त्री में सन्तोष रखकर अपनी स्त्री के अलावा संसार की शेष समस्त स्त्रियों को माता, भगिनी अथवा पुत्री समान जानना यही एकदेश ब्रह्म-चर्य का पालन है।

भावार्थ:—इसप्रकार यह दशलक्षणधर्म का वर्णन किया। इन धर्मों का पालन करना प्रत्येक प्राणी का मुख्य कर्तव्य है, कारण कि ये ही दशधर्म मोक्षमार्ग का साधन करने के लिये मुख्य कारण हैं।

बारह भावनाओं का निरूपण

अध्रुवमशरणमेकत्वमन्यताऽशौचमास्रवो जन्मः ।
लोकवृषबोधिसंवरनिर्जराः सततमनुप्रेक्ष्याः ॥२०५॥

अन्वयार्थः—[**अध्रुवम्**] अध्रुव, [**अशरणम्**] अशरण [**एकत्वम्**] एकत्व, [**अन्यता**] अन्यत्व, [**अशौचम्**] अशुचि, [**आस्रवः**] आस्रव, [**जन्मः**] संसार, [**लोकवृषबोधिसंवरनिर्जराः**] लोक, धर्म, बोधिदुर्लभ, संवर और निर्जरा इन बारह भावनाओं का [**सततम्**] निरन्तर [**अनुप्रेक्ष्याः**] बारबार चिन्तवन और मनन करना चाहिये ।

टीकाः—'अध्रुवं अशरणं जन्म एकत्वं अन्यता अशौचं आस्रवः संवरः निर्जरा लोकबोधि वृष (इति द्वादश अनुप्रेक्षाः) सततं भावनीयाः ।' – **१. अनित्य भावना**—संसार की समस्त वस्तुयें शरीर, भोगादि सभी अनित्य - नाशवान है, आत्मा नित्य है, ध्रुव है, इसलिये अध्रुव वस्तु से प्रीति छोड़कर ध्रुव स्ववस्तु में चित्त लगाना इसीको अनित्य भावना कहते हैं ।

२. **अशरणभावना**—इस जगत में कोई किसीका शरण नहीं है, सभी प्राणी काल के आधीन हैं, काल से बचानेवाला कोई नहीं है । व्यवहारनय से चार शरण हैं – अर्हन्त का शरण, सिद्ध का शरण, साधु का शरण और जैनधर्मका शरण, परन्तु वास्तव में निश्चयनय से केवल अपना आत्मा ही शरण है, अन्य कोई नहीं । ऐसा (स्वसन्मुखता सहित) विचार निरन्तर करना – यह दूसरी अशरण भावना है ।

३. **संसार भावना**—ससार बहुत दुःखरूप है, चारों गतियों में कहीं भी सुख नहीं है । नरकगति में तो प्रगटरूप छेदन, ताड़न, तापन, शूलारोपण आदि अनेक दुःख हैं और तिर्यंचगति में भूख, प्यास, अतिभार लादना इत्यादि दुःख है, मनुष्यगति में भी अनेक चिन्तायें, बहुत खेद इत्यादि अनेक दुःख हैं, देवगति में भी विषयवासना है, बड़े देवों की बड़ी ऋद्धि देखकर छोटे देव व्याकुल होते हैं, देवों की आयु दीर्घ तथा देवांगनाओं की आयु अल्प होने से उनके वियोग में देवों को अवश्य दुःख होता है, मृत्यु के पूर्व छह महीने से गले की माला मुरझाने लगती है, तबसे उस देव को महामोहवश अत्यन्त खेद और दुःख होता है, इत्यादि प्रकार से देवगति में

भी बहुत दु:ख हैं। सुख तो एक मात्र पंचमगति अर्थात् मोक्ष में है (वहाँ निज आत्मा से ही उत्पन्न और अक्षय ऐसा अनन्तानन्त कालतक पूर्ण आनन्दमय अतीन्द्रिय सुख है) अतः प्राणीमात्र को चतुर्गतिरूप संसार से उदासीन होकर पंचमगति के प्राप्त करने का उपाय करना चाहिये। ऐसा सदैव चिन्तवन करते रहना, वही तीसरी संसार भावना है।

४. **एकत्व भावना**—यह आत्मा सदा अकेला ही है, जन्म में तथा मरण में सदा अकेला है, इसका कोई सङ्गी-साथी नहीं है। यह सुख भोगने में अकेला, संसार भ्रमण करने में अकेला, मोक्ष प्राप्त करने में अकेला, इसप्रकार यह आत्मा त्रिकाल अकेला ही है, इसका कोई साथी नहीं है—इसप्रकार निरन्तर विचार करना एकत्व भावना है।

५. **अन्यत्व भावना**—संसार के जितने भी पदार्थ हैं, वे सब जुदे-जुदे हैं, कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ में मिला हुआ नहीं है (मिला हुआ नहीं था और कभी मिलेगा भी नहीं) मन-वचन-काय यह सभी आत्मा से भिन्न हैं। जब यह शरीर, मन और वचन भी आत्मा से भिन्न हैं, तो यह प्रगटरूप से भिन्न घर, मकान वगैरह एक कैसे हो सकते हैं? (अतः शरीरादि से निर्मोही बनकर, परभावों से अपना भिन्नत्व जानकर आपमें ही लीन होना योग्य है) इसप्रकार वस्तुस्वरूप जानकर बार-बार चिन्तवन करना अन्यत्व भावना है।

६. **अशुचि भावना**—यह शरीर सदैव नवद्वार से बहते हुए मल-मूत्र का खजाना महा अशुचिरूप है और आत्मा ज्ञानमय महा पवित्र है, तो आत्मा का शरीरादिसे सम्बन्ध किसप्रकार हो सकता है? इसतरह बार-बार चिन्तवन करना अशुचि भावना है।

७. **आस्रव भावना**—५ मिथ्यात्व, १२ अविरति, २५ कषाय, १५ योग ये आस्रव के ५७ भेद हैं, उनके द्वारा यह जीव हमेशा कर्मों का आस्रव किया करता है। शुद्ध भावरूप संवर के द्वारा जब तक उन आस्रवों का त्याग न हो, तब तक यह जीव संसार से छूट नहीं सकता अर्थात् जीव को यह आस्रव ही दु:खदायक है, ऐसा (स्वसन्मुखता सहित) बारम्बार चिन्तवन करना, उसे आस्रव भावना कहते हैं।

८. **संवर भावना**—(स्वसन्मुखतारूप शुद्धि के द्वारा ही) कर्मों के आगमन को रोकना ही संवर है। यही संसार से छुड़ानेवाला और मोक्ष ले जाने-

कहते हैं। पांच समिति, तीन गुप्ति, दश धर्म, बारह भावना, बाईस परीषह, पांच प्रकार का चारित्र — ये सभी संवर के कारण हैं। सभी प्राणियों को इन सब कारणों को धारण करके संवर की प्राप्ति करनी चाहिये ऐसा बार-बार चिन्तवन करना ही संवर भावना है।

९. निर्जरा भावना—(सर्वज्ञ-वीतराग कथित) तप के द्वारा पूर्व-बद्ध कर्मों का एकदेश क्षय करना निर्जरा है। यह निर्जरा दो प्रकार की है — सविपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा। सविपाक निर्जरा तो सर्व संसारी जीवों के सदैव हुआ ही करती है, परन्तु अविपाक निर्जरा तो शुद्धभावरूपी तप आदि करने से ही होती है और अविपाक निर्जरा के बिना यह जीव संसार से मुक्त हो नहीं सकता, अतः मोक्षार्थी जीवों को [illegible] चिन्तवन करना ही निर्जरा भावना कहलाती है।

१०. लोक भावना—(इस लोक के तीन भाग हैं — ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक। ये तीनों लोक तीनसौ तेतालीस राजू घनाकार, चौदह राजू ऊंचा किसी के द्वारा बनाए नहीं गये हैं और कभी इनका नाश नहीं होगा, अतः अनादिनिधन, स्वयंसिद्ध, अविनाशी है। अनन्तानन्त आकाश में उसका अनन्तवां भाग लोकाकाश है, वह षट् द्रव्यात्मक है। अधोलोक में तो सातवें नरक के नीचे एक राजू पर्यन्त स्थावर ही हैं, वहां [illegible] तथा [illegible] छह राजू में सात नरक हैं, उनमें रहनेवाले नारकी [illegible] हैं। [illegible] भवनवासी तथा व्यन्तर [illegible] हैं, [illegible] सूक्ष्मस्थावर तो सर्वत्र हैं तथा बादरस्थावर किसी के आधार से हैं [illegible] स्थान में नारकी और ऊपर के स्थान में भवनवासी तथा व्यन्तर हैं, अन्य किसी जाति के त्रस जीव नहीं हैं। मध्यलोक में असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं, उनमें ढाई द्वीप और समुद्र, मानुषोत्तर पर्वत पर्यन्त मनुष्यलोक है, उसके आगे मनुष्य का संचार नहीं है। व्यन्तर, भवनवासी, ज्योतिषी — ये तीन प्रकार के देव और तिर्यंच सब मध्यलोक में हैं, उनमें जलचर पञ्चेन्द्रिय तथा विकलत्रय यह तो ढाई द्वीप, तथा अन्त का स्वयंभूरमण द्वीप आधा पहली तरफ का और अन्त का स्वयंभूरमणसमुद्र सारा इनमें है। शेष के असंख्यात द्वीप समुद्रों में विकलत्रय नहीं हैं।) जलचर जीव लवणोदधि कालोदधि और स्वयंभूरमण — इन तीन ही समुद्रों में हैं; अन्य स्थानों में नहीं

है। इस अधोलोक में अनेक प्रकार की रचनाएँ हैं उनका विस्तार कहाँ तक कहा जाय। मध्यलोक सुमेरुपर्वत के शिखर पर्यन्त एक लाख योजन ऊँचा है। ज्योतिषचक्र सातसौ नब्बे योजन से लेकर नौसौ योजन तक है। मध्यलोक के ऊपर स्वर्गलोक है; वहाँ सोलह स्वर्ग, नवग्रैवेयक, नव अनुदिश, पंचानुत्तर हैं; नवग्रैवेयक, नव अनुदिश और पंचानुत्तर में अहमिन्द्र हैं, वहाँ देवियाँ नहीं हैं, सभी ब्रह्मचारी हैं। स्वर्गलोक में स्वर्गवासी देव तथा पाँच स्थावर ही हैं, अन्य त्रसजीव नहीं हैं। पंचानुत्तर के मध्य सर्वार्थसिद्धि है, जिसके समान संसार में और कोई दूसरा स्थान नहीं है, इसी सर्वार्थसिद्धि के ऊपर सिद्धलोक है, जहाँ अनन्तानन्त सिद्ध विराजमान हैं, अजर-अमर अविनाशी हैं।) इस सारे लोक में यह संसारी जीव अनादि काल से इन तीनों लोक में अपनी भूल से भ्रमण कर रहा है, उसे महान अपरिमित दुःख है, अंशमात्र भी सुख नहीं है। सुख का धाम तो सिद्धलोक है। सब लोक का आभूषण शुद्ध आत्मा ही सार है, शेष सब असार है। इस चार गतिरूप लोक का निवास कब टूटे? ऐसा बारम्बार विचार करना, उसे ही लोक भावना कहते हैं।

११. बोधिदुर्लभ भावना— (संसार में निगोदराशि से व्यवहारराशि में आना दुर्लभ है, फिर एकेन्द्रिय जीव, पृथ्वीकाय, अपकाय, अग्निकाय, वायुकाय, तथा प्रत्येक वनस्पतिकाय से निकलकर त्रसकाय में आना दुर्लभ है, उसमें भी दो इन्द्रिय से तीन इन्द्रिय होना दुर्लभ है, तीन इन्द्रिय से चार इन्द्रिय होना दुर्लभ है, चार इन्द्रिय से असैनी पंचेन्द्रिय होना दुर्लभ है, असैनी से सैनी पंचेन्द्रिय होना दुर्लभ है, पंचेन्द्रिय तिर्यंच से मनुष्य होना अति दुर्लभ है। मनुष्य में भी आर्यखण्ड, उत्तम कुल, दीर्घायु, धर्मबुद्धि पाना अत्यन्त दुर्लभ है; पश्चात् सम्यक्त्व की प्राप्ति और श्रावक के व्रत अति दुर्लभ हैं, श्रावक के व्रत से मुनि के व्रत लेना अत्यन्त दुर्लभ है तथा मुनिव्रत में भी शुभोपयोग की अपेक्षा शुद्धोपयोग की दशा प्राप्त करना महान महान दुर्लभ है।) संसार में सभी वस्तुयें सुलभ हैं अर्थात् शीघ्र ही प्राप्त हो सकती हैं, परन्तु केवलज्ञान का प्राप्त करना परम दुर्लभ है और केवलज्ञान के बिना यह जीव सुखी नहीं हो सकता, इसलिये प्रत्येक प्राणी को उस केवलज्ञान की प्राप्ति करने में तत्पर और प्रयत्नशील होना चाहिये। जबतक केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं होगी, तबतक यह आत्मा संसार में भ्रमण करता ही रहेगा, इसलिये हे आत्मा! यदि तुझे वास्तविक सुख की अभिलाषा हो तो तू [illegible]

कर्मों का नाश करके केवलज्ञान प्राप्त कर। इसप्रकार स्वसन्मुखता सहित बारम्बार चिन्तवन करना बोधि-दुर्लभ भावना है।

१२. धर्म भावना—वास्तव में जीव को सुख देनेवाली वस्तु एक धर्म ही है, क्योंकि धर्म नाम स्वभाव का है। प्रत्येक **वस्तु का जो स्वभाव है, वही उसका धर्म है।** (जीव वस्तु का स्वभाव चैतन्य है, वही परम धर्म है) जब यह द्रव्य अपने स्वभाव में परिणमन करता है, तभी यह सुखी और शुद्ध कहलाता है। आत्मा का जो यह ज्ञानगुण है, वही उसका धर्म है। जब तक यह आत्मा अपने ज्ञानधर्म अथवा सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रयधर्म का पूर्ण विकास नहीं करता, तबतक इस संसार बन्धन से नहीं छूट सकता। उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि भी आत्मा के दश धर्म हैं तथा जीवदया भी आत्मा का धर्म है। यद्यपि यह धर्म प्रत्येक संसारी आत्मा में विराजमान हैं, तो भी जब तक आत्मा में इनका विकास न हो, तब तक यह आत्मा संसाररूपी जेल से छूट नहीं सकता अर्थात् मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। इसप्रकार बारबार चिन्तवन करना धर्मभावना है।

इसप्रकार बारह भावनाओं का वर्णन किया। ये बारह भावनायें वैराग्य की जननी हैं, क्योंकि संसार से वैराग्य उत्पन्न करने में यह प्रधान सहायक हैं। इन बारह भावनाओं का चिन्तवन करने से वैराग्य की पुष्टि होती है, अतः इनका सदैव चिन्तवन करो।

बाईस परीषह

क्षुत्तृष्णा हिममुष्णं नग्नत्वं याचनारतिरलाभः।
दंशो मशकादीनामाक्रोशो व्याधिदुःखमङ्गमलम् ॥२०६॥
स्पर्शश्च तृणादीनामज्ञानमदर्शनं तथा प्रज्ञा।
सत्कारपुरस्कारः शय्या चर्या वधो निषद्या स्त्री ॥२०७॥
द्वाविंशतिरप्येते परिषोढव्याः परीषहाः सततम्।
संक्लेशमुक्तमनसा संक्लेशनिमित्तभीतेन ॥२०८॥

अन्वयार्थः—[**संक्लेशमुक्तमनसा**] संक्लेशरहित चित्तवाला और [**संक्लेशनिमित्तभीतेन**] संक्लेश के निमित्त से अर्थात् संसार से भयभीत

साधु को [सततम्] निरन्तर [क्षुत्] क्षुधा, [तृष्णा] तृषा, [हिमम्] शीत, [उष्णम्] उष्ण, [नग्नत्वं] नग्नपना, [याचना] प्रार्थना, [अरतिः] अरति, [अलाभः] अलाभ, [मशकादीनां दंशः] मच्छरादि का काटना, [आक्रोशः] कुवचन, [व्याधिदुःखम्] रोग का दुःख [अङ्गमलम्] शरीर का मल, [तृणादीनां स्पर्शः] तृणादिक का स्पर्श, [अज्ञानम्] अज्ञान, [अदर्शनम्] अदर्शन, [तथा] इसी प्रकार [प्रज्ञा] प्रज्ञा [सत्कारपुरस्कारः] सत्कार-पुरस्कार [शय्या] शयन, [चर्या] गमन, [वधः] वध, [निषद्या] आसन [च] और [स्त्री] स्त्री – [एते] ये [द्वाविंशतिः] बाईस [परीषहाः] परीषह [अपि] भी [परिषोढव्याः] सहन करने योग्य हैं।

टीका:—'क्षुत् तृष्णा हिमं उष्णं नग्नत्वं याचना अरतिः अलाभः मशकादीनां दंशः आक्रोशः व्याधिदुःख अङ्गमलम् तृणादीनां स्पर्शः अज्ञानं अदर्शन तथा प्रज्ञा सत्कारपुरस्कारः शय्या चर्या वधः निषद्या स्त्री एते द्वाविंशतिः अपि परीहवाः संक्लेशमुक्तमनसा संक्लेशनिमित्तभीतेन सततं परिषोढव्या।' – भूख, प्यास, सर्दी, गरमी, नग्नपना, याचना, अरति, अलाभ, मच्छरादि का काटना, निन्दा, रोग का दुःख, शरीर का मल, कंटक – काटा आदि लगना, अज्ञान, अदर्शन, प्रज्ञा, सत्कारपुरस्कार, शयन, चलना, वध, निषद्या (निवास-आसन) और स्त्री – इन बाईस परीषहों को मुनिराज संक्लेश दूर करके और सक्लेशभाव से भयभीत होकर सदा सहन करते हैं।

अब बाईस परीषह का संक्षिप्त वर्णन करते हैं :—

१. क्षुधा परीषह - भूख के वशीभूत होकर सब जीव बहुत दुःख पाते हैं, परन्तु मुनिराज को जब क्षुधा वेदना होती है, तब ऐसा विचार करते हैं कि हे जीव ! तूने अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण करते हुए अनेक प्रकार की अनन्त पुद्गलराशि का भक्षण किया है, तब भी तेरी क्षुधा शान्त नहीं हुई तथा नरकगति में भी अत्यन्त क्षुधा सहन की, अभी तू इस समय मोक्ष की प्राप्ति के लिये तैयार हो गया है, तेरा यह शरीर तो यहीं पड़ा रह जायेगा, अतः शान्त ज्ञानानन्द स्वरूप में लीनता करके भूख का नाश कर, जिससे शीघ्र ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाय। इसप्रकार के भावों द्वारा साधुगण क्षुधा परीषह को सहन करते हैं।

२. तृषा परीषह—सभी जीव प्यास से बहुत दुःखी होते हैं। मुनिराज ग्रीष्म ऋतु में पर्वत के शिखर पर रहते हैं वहाँ अनेक उपवास धारण करने के कारण उन्हें तृषा की बाधा उत्पन्न होती है, फिर भी वह वीर-धीर साधु इसप्रकार की भावना करके मन में समाधान लाते हैं कि हे जीव! तूने इस संसार में भटकते हुए सारे जगत का जल पी लिया तो भी तेरी प्यास आजतक शान्त नहीं हुई। नरकगति में ऐसी तृषा उत्पन्न हुई जो समुद्रों का जल पीने पर भी न मिटे, परन्तु वहाँ एक बूंद मात्र भी जल प्राप्त नहीं हुआ तथा तिर्यञ्चगति में अति तृषा सहन की और मनुष्यगति में तृषा-वेदना सहन करनी पड़ी। हे जीव! तूने जगतवन्द्य मुनिपद धारण किया है, इसलिये इस तृषा परीषह को सहन करते हुए आत्मध्यान में चित्त लगा, जिससे यह तृषा सदा के लिये मिट जाय। इसप्रकार तृषा परीषह मुनिराज सहन करते हैं और संयम से विचलित नहीं होते – यही तृषा परीषह है।

३. शीत परीषह – शीत के कारण संसार के प्राणी अति दुःखी होते हैं, हरे भरे वृक्ष भी हिमपात के कारण दग्ध हो जाते हैं, ऐसे पौष-माघ की भयङ्कर शीत में महावीर नग्नशरीरी मुनिराज नदी अथवा तालाब के किनारे कायोत्सर्ग या पद्मासन धारण करके ध्यान करते हैं। उस समय शीत की बाधा होने पर भी वह खेद नहीं करते, अपितु ऐसा विचार करते हैं कि हे जीव! तूने अनादिकाल से अनन्तबार पशुगति और मनुष्यगति में भी अत्यधिक महान शीत (ठण्ड) सहन की है। यद्यपि तूने उसे दूर करने के लिये अनेकानेक उपाय किये हैं, तो भी आजतक तेरी ठण्ड मिटी नहीं है। अब तूने मुनिव्रत धारण किया है, इसी पद से मोक्ष की प्राप्ति होगी, अतः हे जीव! तूम इस शीत की परीषह को सम्यक्प्रकार से सहन कर। ऐसा चिन्तवन – विचार करके आत्मध्यान में लीन होना – यही शीत परीषह कही जाती है।

४. उष्ण परीषह – ग्रीष्म ऋतु में सूर्य बहुत तापमययुक्त होता है, सारे जगत के प्राणी गरमी की पीड़ा से महा व्याकुल हो जाते हैं, नदी-सरोवरों का जल सूख जाता है, उस समय मुनिराज पर्वत के शिखर पर पत्थर की शिला पर बैठकर (सूर्य के सन्मुख मुख करके आतापन योग धारण करते हैं तथा) ऐसा विचार करते हैं कि हे आत्मन्! तूने अग्नि-पर्याय धारण करके अनन्त बार भी जलन की है, नरकगति में बहुत गरमी सहन की है, तो अब यहाँ गरमी है ही कितनी? इस समय तूने मुनिपद

धारण किया है, अतः आत्मानन्द रूपी अमृत से तृप्त होकर [illegible] धूप की बाधा आनन्द से सहन करके [illegible] वह सुखपूर्वक जीतते हैं। [illegible]

५. नग्न परीषह—जिन ब्रह्मचारी [illegible] मुनि [illegible] वन में एकाकी रहते हैं। सूत के वस्त्र, रेशम [illegible] वस्त्र तथा घास आदि के वस्त्र [illegible] रोम तथा वृक्षों के वल्कलादि कुछ भी नहीं रखते, जिनके दशों दिशायें ही वस्त्र हैं, उन्हें और क्या चाहिये? ऐसे दिगम्बर मुनिराज [illegible] का पालन करते हुए [illegible] नग्न रहने से रंचमात्र भी दुख नहीं मानते [illegible] आत्मा में लीन रहते हैं। इसी को नग्न परीषह कहते हैं।

६. याचना परीषह—याचना से सभी संसारी जीव दुखी हो रहे हैं, दूसरों की क्या कहें [illegible] भी [illegible] से रंक हो रहे हैं, किन्तु अयाचक व्रतधारी मुनिराज किसी से भी कुछ माँगते नहीं। और तो जिन्हें तीर्थंकर भगवान से भी मोक्ष की याचना नहीं करनी, वह भला अन्य किसी से और कोई वस्तु क्या माँगेंगे? याचना समान जगत में अन्य न्यूनता नहीं और अयाचकवृत्ति समान त्रैलोक्य में अन्य उत्कृष्टता नहीं [illegible] भोजन, धर्मोपकरणादि कुछ भी किसी से नहीं माँगते, मौन [illegible] रहते हैं। मुनिराज [illegible] ही [illegible] वर्षों तक आहार न मिले तो भी कभी किसी श्रावक से आहार की याचना नहीं करते, इसीलिये मुनि की वृत्ति को सिंहवृत्ति कहते हैं—इस प्रकार याचना परीषह को जीतते हैं।

७. अरति परीषह—जगत के लोक इष्ट पदार्थों के प्राप्त होने पर रति मानते हैं और अनिष्ट पदार्थों के प्राप्त होने पर अरति मानते हैं किन्तु मुनिराज चाहे जंगल में रहें, कोई उनको भला बुरा कहे, तो भी कदापि रति अरति नहीं मानते। [illegible] महल और भयंकर वन, शत्रु और मित्र, कनक और पाषाण, स्तुति और निन्दा, सुख और दुख, जीवन और मरण सब में समान [illegible] अपने चित्त में सदैव समता धारण करने वाले साधु अरति परीषह जीतते हैं।

८. अलाभ परीषह—साधु ने अनेक उपवास किये हों [illegible] पारणा के दिन निर्दोष आहार का लाभ न होय तो चित्त में [illegible]

नहीं मानते। इसप्रकार जो यतीश्वर लाभ-अलाभ दोनों को समान मानते हैं, वही अलाभ परीषह पर विजय प्राप्त करते हैं।

९. **दंशमशक परीषह**—डांस, मच्छर, चींटी, मकोड़ा आदि जीवों के डंक की पीड़ा जगत के प्राणी सहन नहीं कर पाते, परन्तु योगीश्वर उन सबकी बाधा – पीड़ा सहन करते हैं, वह काटनेवाले सभी प्राणियों द्वारा अपने नग्न शरीर में बहुत बाधा – पीड़ा उत्पन्न किये जाने पर भी मुनि महाराज कभी भी मन में खेद नहीं करते – इसतरह दंशमशक परीषह जीतते हैं।

१०. **आक्रोश परीषह**—जो कोई दिगम्बर मुनि को देखकर निन्दा करते हैं, दुर्वचन कहते हैं, गाली देते हैं; परन्तु ऐसे निष्ठुर वचन सुनकर किंचित्मात्र खेद नहीं करते, परन्तु उत्तम क्षमा ही धारण करते हैं – इसप्रकार मुनिराज आक्रोश परीषह पर विजय प्राप्त करते हैं।

११. **रोग परीषह** – पूर्वोपार्जित असातावेदनीय कर्म के उदय से शरीर में पीड़ा हो जाय तो मुनि महाराज उस रोग से दुःखी नहीं होते। (रोग हो जाने पर लौकिकजन अत्यन्त व्याकुल हो जाते हैं, परन्तु मुनिराज अपने शरीर में इन रोगों के उपस्थित होने पर किसी प्रकार का खेद चित्त में नहीं आने देते और न उन रोगों के प्रतिकार का कोई उपाय करते हैं) वह तो पूर्वकृत कर्मों का फल जानकर अत्यन्त निश्चलतापूर्वक आत्मध्यान में लीन रहते हैं – इसे रोग परीषह कहते हैं।

१२. **मल परीषह**—(अपने त्रैकालिक निर्मल ज्ञानानन्दमय स्वरूप के आलम्बन में ही सावधान होनेसे) मुनिराज के तो जीवन पर्यन्त स्नान और विलेपन का त्याग होता है। ग्रीष्मऋतु में धूप में रहने के कारण पसीने से शरीर में धूल आकर जम जाती है, नग्न शरीर मलिन दिखाई पड़ता है तो भी संयमी साधु का इस शरीर के प्रति ध्यान नहीं जाता, क्योंकि वे अपने आत्मगुणों में ही लीन रहा करते हैं, उसे ही मल परीषह कहते हैं। (और वे ऐसी भावना भाते है कि हे जीव ! यह शरीर तो स्वभाव से ही महा मलिन है, इसे तो समुद्र के जल से धोया जाय तो भी पवित्र नहीं हो सकता और तू तो परम पवित्र आत्मा है, अतः इस शरीर की मलिनता से तू कैसे मलिन हो सकता है ? नहीं हो सकता। कारण कि अमूर्तिक पदार्थ को मल का संसर्ग-स्पर्श ही नहीं हो सकता। इसलिये हे आत्मन् ! तू इस देह का स्नेह त्यागकर अपने शुद्धभावों में लीनस्थिर हो जा। यह विचार करके मुनि मल परीषह सहते हैं।

१३. तृण स्पर्श—जगवासी जीवों के शरीर में यदि एक फांस भी लग जाय तो बेचैन हो जाते हैं, परन्तु जीवों की रक्षा करने में तत्पर संयम-धन के धनी योगीन्द्र के शरीर में चलते अथवा बैठते समय तृण, कंकड़, कण्टक, फाँस इत्यादि चुभ जाय तो उसको निकाल कर फेंकने का कुछ भी उपाय नहीं करते, अपितु निर्व्याकुल होकर निज स्वरूप में ही लीन रहते हैं – यह तृणस्पर्श परीषह है ।

१४. अज्ञान परीषह—संसारी समस्त प्राणी अज्ञानवश दुःखी हो रहे हैं, निज स्वरूप का ज्ञान नहीं है । यदि कदाचित् पढ़ने का अभ्यास करें और शब्दार्थ का लाभ न हो तो मन में खेद करते हैं और पठन से अरुचि करने लगते हैं, परन्तु महामुनिराज को पूर्वोपार्जित ज्ञानावरणी कर्म के उदय से पठन-पाठन का उद्यम करने पर तथा अनेक वर्षों तक महान तप करने पर भी यदि श्रुत का पूर्ण ज्ञान नहीं होता अथवा अवधि, मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न नहीं होता तो भी वह खेद नहीं करते; अपने नित्यानन्दस्वरूप में ही सन्तोष धारण करते हैं, उसे अज्ञान परीषह कहते हैं । (ऐसा विकल्प नहीं करते कि देखो, मुझे तप करते हुए इतना दीर्घकाल व्यतीत हो गया फिर भी मुझे ज्ञान की वृद्धि नहीं हुई । यदि मूढ़ पुरुष उन्हें देखकर कहे कि यह साधु कितना अज्ञानी है, तो भी वह उसके वचनों से खेदखिन्न नहीं होते अथवा यदि ज्ञान की वृद्धि हो जाय तो उस ज्ञान का कभी गर्व नहीं करते । ऐसे यतीश्वर अज्ञान परीषह के जीतनेवाले कहे जाते हैं ।)

१५. अदर्शन परीषह—जगत के जीव समस्त कार्य अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये करते हैं और यदि पुरुषार्थ के करने पर भी प्रयोजन की सिद्धि न हो अथवा उसमें कुछ न्यूनता रह जाय तो क्लेश मानते हैं (परन्तु वह मुनिराज ऐसा विचार नहीं करते कि मैं बाल अवस्था में ही महाव्रतादि धारण कर रहा हूँ और चिरकाल तक उग्रोग्र तप करने के बाद भी यदि किसी ऋद्धि आदि अतिशय की प्राप्ति नहीं होती) ऐसा विचार भी कदापि नहीं करते कि मुझे स्वाध्याय और तप करते हुए बहुत समय व्यतीत हो गया, कषायों पर भी मैंने विजय प्राप्त कर ली है, संयम का भी निरतिचार पालन कर रहा हूँ फिर भी मुझे अब तक कोई ऋद्धि उत्पन्न नहीं हुई और न कोई ज्ञानातिशय ही प्राप्त हुआ । न मालूम इस तप संयम का कोई फल दिखाई देगा भी या नहीं ? इस प्रकार का कोई

संशय या विकल्प करके मुनिराज सम्यग्दर्शन में दोष नहीं लगाते और तपसंयम में अचल रहते हैं – इसे अदर्शन परीषह कहते हैं।

१६. प्रज्ञा परीषह—लौकिक जन थोड़ा भी ज्ञान हो जाने पर उसका अति गर्व करने लग जाते हैं और मन में ऐसा विचारने लगते हैं कि मेरे समान कोई बुद्धिमान नहीं है, किन्तु महामुनिराज को शब्द, अर्थ, छन्द, न्याय, अलंकारादि द्वादशांग का पूर्ण ज्ञान है अथवा अवधिज्ञान या मनःपर्ययज्ञान है तो भी रंचमात्र गर्व नहीं करते और बुद्धि की मन्दता होने पर खेद नहीं करते यदि कोई व्यक्ति उन्हें बुद्धिहीन बताये तो उससे द्वेषभाव नहीं रखते – ऐसे योगी ही प्रज्ञा परीषह सहनशील होते हैं।

१७. सत्कार-पुरस्कार परीषह—देव, मनुष्य, तिर्यञ्च, संसार के सभी जीव आदर-सत्कार से हर्षित होते हैं और सत्कार करनेवाले के प्रति मैत्रीभाव रखते हैं तथा अनादर करनेवाले के प्रति शत्रुता रखते हैं। इस-प्रकार निरन्तर राग-द्वेषरूप परिणमन करते हैं, किन्तु वीतरागता के धारक यतीश्वर, इन्द्र और चक्रवर्ती आदि के द्वारा पूजा-स्तुति किये जाने पर अथवा किसी अविवेकी जन के द्वारा निन्दा किये जाने पर किसी से रागद्वेष नहीं करते, अपितु समताभाव धारण करते हुए मन में ऐसा विचार करते हैं कि हे जीव! तू तो दृष्टि-अगोचर वचन अगोचर अमूर्त्तिक पदार्थ है, उसका कोई सत्कार अथवा स्तुति भला कैसे कर सकता है? और यह शरीर पदार्थ तो मैथुन से उत्पन्न मल-मूत्र का भाजन है, वह भला स्तुति योग्य कैसे हो सकता है? कदापि नहीं हो सकता, इसलिये स्तुति और निन्दा से हर्ष-विषाद मानना व्यर्थ है। इसप्रकार जो मुनिराज किसी के पास से आदर-सम्मान की इच्छा नहीं करते और अनादर से खेद-खिन्न नहीं होते, वही सत्कार-पुरस्कार परीषह विजयी होते हैं।

१८. शय्या परीषह—जगत के जीव विषयाभिलाषी होकर कोमल शय्या पर सोने का अनुराग रखते हैं, परन्तु योगीश्वर मुनिराज (स्वर्ण-रत्नादिक के महल तथा सुन्दर शय्यादिक त्यागकर) वनवासी होकर कंकरीली विषम भूमि में रात्रि के पिछले पहर में एकासन से थोड़ी सी निद्रा लेते हैं और वहाँ अपने क्षीण शरीर में कंकड़ आदि चुभते हैं, उनसे दुखी नहीं होते; परन्तु ऐसी भावना भाते हैं कि हे जीव! तूने नरक की तीव्र वेदना अनन्तबार सहन की है, उसके समान अन्य कोई विषम भूमि नहीं है, यह भूमि तो कुछ भी विषम नहीं है कि जिसका तू व्यर्थ में खेद

करता है । अब तो तूने त्रैलोक्य पूज्य जिनमुद्रा धारण की है; तू मोक्षार्थी ही है और इस भवसमुद्र से पार होकर निर्वाण द्वीप को जाना चाहता है, अत: मोहरूपी निद्रा का जीतकर योग में आरूढ़ हो, सदा जागृत रहकर अपने स्वरूप में मग्न हो, शय्या परीषह की बाधा से चित्त में अस्थिरता मत आने दे । इसतरह विचारते हुए मुनिराज शय्या परीषह सहन करते हैं – यह शय्या परीषह का जीतना है ।

१६. **चर्या परीषह**—संसारी जीव हाथी, घोड़ा, रथ, पालकी आदि सवारी पर सुहावने समय में भी चढ़कर गमन करने में खेद मानते हैं तथा तिर्यञ्च भी गमन करने में दु:खी होते हैं, परन्तु मुनिमहाराज चलते समय ईर्यापथ शोधते हुए चलते हैं । ग्रीष्मऋतु में दशों दिशायें तप्तायमान हो जाती हैं और मार्ग में कंकड़, पत्थर कण्टकादि चुभते हैं तो भी किंचित् खेद नहीं मानते । इसप्रकार महामुनिराज चर्या परीषह पर विजय प्राप्त करते हैं ।

२०. **वध परीषह**—भववासी जीव मारने-पीटने से सदैव भयभीत होते हैं, यदि कोई उन पर उपद्रव करे तो उससे द्वेष करके अति तीव्र कषाय धारण करते हैं, परन्तु मुनिराज को कोई पापी जीव बाँधे अथवा दण्ड, पाषाणादि से मारे और नाना प्रकार का उपसर्ग करके महान कष्ट पहुंचावे तो भी वे उससे रञ्चमात्र भी द्वेष नहीं करते, समताभाव ही रखते हैं और ऐसा विचार करते हैं कि मेरा आत्मा तो अमूर्तिक है, अविनाशी चिदानन्दमय है, उसे दु:ख कौन दे सकता है ? कौन मार सकता है ? कौन पीट सकता है ? मैं तो ज्ञानानन्द स्वरूप ही हूँ । इसप्रकार मुनिराज वध परीषह जीतते हैं ।

२१. **निषद्या परीषह**—संसार के समस्त जीव उत्तम मनोज्ञ स्थान में बैठकर सुख मानते हैं, परन्तु (मुनिराज पहले राज्यादिक पदवी में कंचन रत्नादिक के महलों में विलास करते थे, उन्होंने अब स्वरूप को पहचानकर निश्चय से अपना स्थान अपने में ही जान लिया है ।) मुनिराज सकल परिग्रह का त्याग करके महा निर्जन वन में जहाँ सिंहादिक अनेक क्रूर वनचर जीव रहते हैं, वहाँ पर्वत की गुफाओं में, शिखरों पर अथवा स्मशान भूमि में निवास करते हैं । उन विषम स्थानों में भी अनेक व्यन्तरादिक विविध प्रकार के उपसर्ग करते हैं तो भी वे महाधीर रंचमात्र भी दु:ख नहीं मानते और उस स्थान को नहीं छोड़ते – इसप्रकार निषद्या परीषह को जीतते हैं ।

२२. **स्त्री परीषह**—देव, मनुष्य, तिर्यंचादि संसारी जीव स्त्री के राग से सुख मानते हैं और उनके साथ हास्य, रति, केलि, कौतूहलादि करके आनन्द मानते हैं, किन्तु मुनिराज ने तो कामिनी का संग ऐसे त्याग दिया है, जैसे सज्जन पुरुष दुर्जन का साथ छोड़ देते हैं। स्त्री के शरीर को महामलिन दुर्गति का कारण जानकर उससे कभी अनुराग नहीं करते, सुन्दर रमणियों के मिष्ट वचन सुनकर भी, हाव-भाव-विलास-विभ्रम-कौतुक की क्रियाओं को देखने पर भी किंचित् मात्र भी विचलित नहीं होते और अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए स्वात्मध्यान में लीन रहते हैं अर्थात् सकल विभावपरिणति को छोड़कर अपनी ज्ञानानन्दरूप स्वभाव परिणति में ही रमण करते हैं। इसप्रकार स्त्री परीषह पर विजय प्राप्त करते हैं।

इस तरह इन बाईस परीषहों को मुनिराज निरन्तर संक्लेश और विषाद मन से रहित होकर सहन करते हैं। उनका मन चतुर्गति के दुख में कारणभूत ज्ञानावरणादि कर्मों से भयभीत है।

भावार्थ: जो मुनि ससार परिभ्रमण के क्लेश से कपायमान हो गए हैं, वे ही दृढचित्त होकर बाईस परीषह सहन करते हैं और रंचमात्र भी कायरता नहीं आने देते। जो मुनिराज परीषह सहन नहीं कर सकते उनके चित्त की निश्चलता नहीं हो सकती और चित्त की निश्चलता के बिना ध्यान में आरूढ़ता नहीं हो सकती तथा ध्यानारूढ़ता बिना कर्म-काष्ठ भस्म नहीं हो सकते और कर्मों का नाश हुए बिना मुक्ति नहीं मिल सकती, इसलिए मोक्षाभिलाषी मुनि को परीषह अवश्य सहन करना चाहिए। इसतरह यह बाईस परीषह का वर्णन पूर्ण हुआ।

मोक्षाभिलाषी को निरन्तर रत्नत्रय का सेवन करना चाहिये :—

इति रत्नत्रयमेतत्प्रतिसमयं विकलमपि गृहस्थेन।
परिपालनीयमनिशं निरत्ययां मुक्तिमभिलषिता ॥२०९॥

अन्वयार्थः—[**इति**] इसप्रकार [**एतत्**] पूर्वोक्त [**रत्नत्रयम्**] सम्यक्-दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय [**विकलम्**] एकदेश [**अपि**] भी [**निरत्ययां**] अविनाशी [**मुक्तिम्**] मुक्ति के [**अभिलषिता**] चाहनेवाले [**गृहस्थेन**] गृहस्थ को [**अनिशं**] निरन्तर [**प्रतिसमयं**] हर समय [**परि-पालनीयम्**] सेवन करना चाहिये।

टीका:—'इति एतत् रत्नत्रयं प्रतिसमयं विकलं अपि निरत्ययां मुक्तिं अभिलषिता गृहस्थेन अनिशं परिपालनीयम् ।' – इसप्रकार यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय प्रतिसमय गृहस्थ श्रावक को भी यदि सर्वदेश पालन न हो सके तो एकदेश ही निरन्तर अविनाशी मोक्ष का इच्छुक होते हुए पालन करना चाहिये ।

भावार्थ:—मुनि के तो रत्नत्रय पूर्णरूप से है, किन्तु गृहस्थ श्रावक सम्पूर्ण रत्नत्रय का पालन नहीं कर सकता, इसलिये उसे एकदेश पालन करना चाहिये। किसी भी दशा में उसे रत्नत्रय से विमुख नहीं होना चाहिये, क्योंकि वह रत्नत्रय ही मुक्ति का कारण है। मुनि का रत्नत्रय महाव्रत के योग से साक्षात् मोक्ष का कारण है और श्रावक का रत्नत्रय अणुव्रत के योग से परम्परा मोक्ष का कारण है अर्थात् जिस श्रावक को सम्यग्दर्शन हो जाता है, उसका अल्पज्ञान भी सम्यग्ज्ञान और अणुव्रत भी सम्यकचारित्र कहा जाता है, इसलिये रत्नत्रय का धारण करना अत्यावश्यक है ।

साततत्त्वों की श्रद्धा करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है और निजस्वरूप की श्रद्धा अर्थात् स्वानुभाव होना निश्चयसम्यग्दर्शन है। जिनागम से आगमपूर्वक सात तत्त्वों का जान लेना व्यवहार सम्यग्ज्ञान है और निज-स्वरूप का भान अर्थात् आत्मज्ञान निश्चयसम्यग्ज्ञान है। अशुभकार्यों की निवृत्तिपूर्वक शुभकार्यों में प्रवृत्ति करना व्यवहार सम्यक्चारित्र है और शुभ प्रवृत्तियों से भी निवृत्त होकर शुद्धोपयोगरूप निजस्वरूप में स्थिर होना निश्चयसम्यक्चारित्र है – इसतरह रत्नत्रय का संक्षेप में व्याख्यान किया। श्रावक को इसका एकदेश पालन अवश्य ही करना चाहिये। बिना रत्नत्रय के किसी जीव का कल्याण कदापि हो नहीं सकता ।

गृहस्थों को शीघ्र मुनिव्रत धारण करना चाहिये, ऐसा बताते हैं :—

बद्धोद्यमेन नित्यं लब्ध्वा समयं च बोधिलाभस्य ।
पदमवलम्ब्य मुनीनां कर्त्तव्यं सपदि परिपूर्णम् ॥२१०॥

अन्वयार्थ:—[**च**] और यह विकलरत्नत्रय [**नित्यं**] निरन्तर [**बद्धोद्यमेन**] उद्यम करने में तत्पर ऐसे मोक्षाभिलाषी गृहस्थों को [**बोधिलाभस्य**] रत्नत्रय के लाभ का [**समयं**] समय [**लब्ध्वा**] प्राप्त करके तथा [**मुनीनां**] मुनियों के [**पदम्**] पद का (चरण का)

[**अवलम्ब्य**] अवलम्बन करके [**सपदि**] शीघ्र ही [**परिपूर्णम्**] परिपूर्ण [**कर्त्तव्यम्**] करना योग्य है ।

टीका:—**'नित्यं बद्धोद्यमेन बोधिलाभस्य समयं लब्ध्वा च मुनीनां पदम् अवलम्ब्य सपदि परिपूर्णं कर्त्तव्यम्'** – गृहस्थ को सदा उद्यमशील होकर सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति का समय प्राप्त करके मुनिपद धारण करके शीघ्र ही रत्नत्रय की पूर्णता कर लेना चाहिये ।

भावार्थ—विवेकी पुरुष गृहस्थ दशा में ही संसार और शरीर भोगों से विरक्त होकर सदैव मोक्षमार्ग में उद्यमी रहते हैं, वे अवसर पाकर शीघ्र मुनिपद धारण करके सकल परिग्रह का त्याग करके निर्विकल्प ध्यान में आरूढ होकर पूर्ण रत्नत्रय को प्राप्त करके संसारभ्रमण का नाश करके मोक्ष की प्राप्ति शीघ्र कर लेते हैं अथवा एकदेश रत्नत्रय को धारण करके इन्द्रादिक उच्चपद और परम्परा से मोक्ष भी प्राप्त करते हैं ।

असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः ।
स विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः ।।२११।।

अन्वयार्थ: [**असमग्रं**] अपूर्ण [**रत्नत्रयम्**] रत्नत्रय की [**भावयतः**] भावना करनेवाले पुरुष के [**यः**] जो [**कर्मबन्धः**] शुभकर्म का बन्ध [**अस्ति**] होता है, [**सः**] वह बन्ध [**विपक्षकृतः**] विपक्षकृत अर्थात् रागकृत है, (और) निश्चय रत्नत्रय तो [**अवश्यं**] अवश्य ही [**मोक्षोपायः**] मोक्ष का उपाय है, [**न बन्धनोपायः**] बन्ध का उपाय नहीं है ।

टीका:—**'असमग्रं रत्नत्रयं भावयतः यः कर्मबन्धः अस्ति सः विपक्षकृतः रत्नत्रयं तु अवश्यं मोक्षोपायः अस्ति न बन्धनोपायः ।'** – एकदेशरूप रत्नत्रय के पालन करनेवाले पुरुष को जो कर्मबन्ध होता है, वह रत्नत्रय से नहीं होता, किन्तु रत्नत्रय के विपक्षी राग-द्वेष है, उससे होता है । वह रत्नत्रय तो वास्तव में मोक्ष का ही उपाय है, बन्ध का उपाय नहीं ।

भावार्थ: एकदेश रत्नत्रय धारण करनेवाले जीव के जो कर्मबन्ध होता है, वह कर्मबन्ध उस रत्नत्रय से नहीं होता; बल्कि उसके उस समय विद्यमान जो शुभकषाय है, उसीसे होता है । इससे यह सिद्ध हुआ कि कर्मबन्ध करनेवाली तो शुभकषाय है, रत्नत्रय कदापि नहीं ।

अब रत्नत्रय और राग का फल बताते हैं :—

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ।।२१२।।
येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ।।२१३।।
येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ।।२१४।।

अन्वयार्थ:—[**अस्य**] इस आत्मा के [**येनांशेन**] जितने अंश में [**सुदृष्टिः**] सम्यग्दर्शन है, [**तेन**] उतने [**अंशेन**] अंश में [**बन्धनं**] बन्ध [**नास्ति**] नहीं है; [**तु**] परन्तु [**येन**] जितने [**अंशेन**] अंश में [**अस्य**] इसके [**रागः**] राग है, [**तेन**] उतने [**अंशेन**] अंश में [**बन्धनं**] बन्ध [**भवति**] होता है। [**येन**] जितने [**अंशेन**] अंश में [**अस्य**] इसके [**ज्ञानं**] ज्ञान है, [**तेन**] उतने [**अंशेन**] अंश में [**बन्धनं**] बन्ध [**नास्ति**] नहीं है; [**तु**] परन्तु [**येन**] जितने [**अंशेन**] अंश में [**रागः**] राग है, [**तेन**] उतने [**अंशेन**] अंश में [**अस्य**] इसके [**बन्धनं**] बन्ध [**भवति**] होता है। [**येन**] जितने [**अंशेन**] अंश में [**अस्य**] इसके [**चरित्र**] चारित्र है, [**तेन**] उतने [**अंशेन**] अंश में [**बन्धन**] बन्ध [**नास्ति**] नहीं है; [**तु**] परन्तु [**येन**] जितने [**अंशेन**] अंश में [**रागः**] राग है [**तेन**] उतने [**अंशेन**] अंश में [**अस्य**] इसके [**बन्धन**] बन्ध [**भवति**] होता है।

टीका: '**येन अंशेन सुदृष्टिः तेन अंशेन बन्धनं नास्ति किन्तु येन अंशेन रागः तेन अंशेन बन्धनं भवति**' – जितने अंश में सम्यग्दर्शन है, उतने अंश में कर्मबन्ध नहीं है तथा जितने अंश में रागभाव है, उतने ही अंश में कर्म का बन्ध है।

भावार्थ:—जीवके तीन भेद हैं– १. बहिरात्मा, २. अंतरात्मा, ३. परमात्मा। इन तीनों में से बहिरात्मा तो मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि उसके सम्यग्दर्शन नहीं है, केवल रागभाव ही है, अतः सर्वथा बन्ध ही है और परमात्मा भगवान जिनके पूर्ण सम्यग्दर्शन हो गया है, उनके रागभाव के अत्यन्त अभाव होनेके कारण सर्वथा बन्ध नहीं है, मोक्ष ही है।

अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि चतुर्थ गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान-तक है, इसलिये इस अन्तरात्मा के जितने अंश में *सम्यग्दर्शन हो गया है, उतने अंश में कर्म का बन्ध है । चतुर्थ गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी रागभाव नहीं है तो उतना कर्मबन्ध भी नहीं है, शेष अप्रत्याख्यानावरणादि तीन का बन्ध है । पांचवें गुणस्थान में अप्रत्याख्यानरूप रागभाव का अभाव हुआ, अतः ससका भी बन्ध रुक गया; परन्तु प्रत्याख्यानावरणादि दो का बन्ध अभी शेष है । (छठेसातवें गुणस्थान में प्रत्याख्यानावरणी सम्बन्धी रागभाव नष्ट हुआ, तब उतना बन्ध भी मिट गया ।) जितने अंशमें जो जीव के सम्यग्ज्ञान हो गया है, उतने ही अंश में रागभाव का अभाव होने के कारण कर्म का बन्ध नहीं है और जितने अंश में रागभाव है, उतने ही अंश में कर्मों का बन्ध है ।

भावार्थः—(मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा जीव के सम्यग्ज्ञान का अभाव है और मिथ्याज्ञान का सद्भाव है, इसलिये उनको पूर्ण राग-द्वेष होने से अवश्य ही कर्म का बन्ध होता है । तेरहवें गुणस्थानवर्ती परमात्मा हैं, उन्हें पूर्ण सम्यग्ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान प्रगट हो जानेके कारण राग-द्वेष का सर्वथा अभाव हो गया है, अतः उनके कर्म का बन्ध बिलकुल नहीं है और अन्तरात्मा जो अविरति सम्यदृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थान से लेकर क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान तक है, उसके जितने अंश में सम्यग्ज्ञान प्रगट होकर राग-द्वेष मिटता जाता है, उतने ही अंश में कर्म का बन्ध नहीं है तथा जितने अंश में राग-द्वेष मौजूद हैं, उतने ही अंश में कर्मबन्ध भी होता रहता है ।

जितने अंश में सम्यक्चारित्र प्रगट हो गया है, उतने ही अंश में कर्म का बन्ध नहीं है और जितने अंश में राग-द्वेषभाव है, उतने ही अंश में कर्म का बन्ध है । ऊपर की तरह यहाँ भी समझ लेना । बहिरात्मा के मिथ्याचारित्र है, सम्यक्चारित्र रंचमात्र भी नहीं है; अतः उसके रागद्वेष की पूर्णयता होने से पूर्ण कर्म का बन्ध है और परमात्मा के पूर्ण सम्यक्-चारित्र होने के कारण रंचमात्र भी कर्म का बन्ध नहीं है । अन्तरात्मा के कितने अंश में राग-द्वेषभाव का अभाव है, उतने अंश में कर्म का बन्ध नहीं है और जितने अंश में राग-द्वेष है, उतने अंश में कर्म का बन्ध है ।

---

* चतुर्थ गुणस्थान में सभी जीवों को सम्यग्दर्शन तो पूर्ण शुद्ध है, अतः उस अपेक्षा से राग नहीं, बन्ध नहीं, किन्तु जितना चारित्र का दोष है, उतना बन्ध है ।

भावार्थ: मोहनीयकर्म के दो भेद हैं – दर्शनमोह, चारित्रमोह। दर्शनमोह के उदय से मिथ्यादर्शन होता है और चारित्रमोह के उदय से मिथ्याचारित्र अथवा अचारित्र होता है। (चारित्र के दो भेद हैं—एक स्वरूपाचरण, दूसरा संयमाचरण। इसमें से जघन्य स्वरूपाचरण तो चतुर्थ गुणस्थान में प्रगट होता ही है तथा संयमाचरण के दो भेद हैं, एकदेश और सर्वदेश। पांचवें गुणस्थानावर्ती श्रावक के तो एकदेश चारित्र है और छठे से लेकर बारहवें गुणस्थान तक मुनिराज के सकलदेश चारित्र है तथा तेरहवें गुणस्थान में पहुचने पर वही मुनिराज जिनराज बन गये और परमात्मा कहलाये, वहाँ उनके सम्यक्चारित्र की पूर्णता होकर बन्ध का अभाव हो गया।) जितना-जितना उन कषायों का अभाव होता जाता है, उतना-उतना ही उसके सम्यग्दर्शन अथवा सम्यक्चारित्र गुण का विकास होता जाता है। जैसे कि दर्शनमोहनीय का अभाव होने पर सम्यग्दर्शन होता है और अनन्तानुबन्धी चौकड़ी का अभाव होने पर उतने अंश में स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट होता है, अप्रत्याख्यानावरणी चौकड़ी का अभाव होने से देशचारित्र प्रगट होता है, प्रत्याख्यानावरणी चौकड़ी का अभाव होने से सकलचारित्र प्रगट होता है तथा संज्वलन चौकड़ी और नव नोकषाय का अभाव होने से यथाख्यातचारित्र प्रगट होता है – इस तरह इस मोहनीयकर्म की २५ प्रकृतियाँ ही जीव को राग-द्वेष होने में निमित्त-कारण हैं।

उनमें से अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान, अप्रत्याख्यानावरणी क्रोध-मान, प्रत्याख्यानावरणी क्रोध-मान, संज्वलन क्रोध-मान ये आठ और अरति, शोक, भय, जुगुप्सा – सब मिलकर बारह प्रकृति तो द्वेषरूप परिणमन में निमित्त हैं तथा शेष तेरह प्रकृतियाँ रागरूप परिणमन में निमित्त हैं। इसप्रकार अनादिकाल से यह जीव इन्हीं २५ कषायों के वशीभूत होकर नित्य अनेक दुष्कर्म करता हुआ संसारसागर में भ्रमण कर रहा है, अतः आठों कर्मों में इस मोहनीयकर्म को सर्व प्रथम जीतना चाहिये। जबतक मोहनीयकर्म का पराजय न हो, तबतक शेष कर्मों का पराजय हो ही नहीं सकता; इसलिये सर्व प्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त करके दर्शनमोह का, सम्यग्ज्ञान से ज्ञानावरण का और सम्यक्चारित्र से चारित्रमोहनीय का नाश करके सम्यक्रत्नत्रय प्राप्त करना चाहिये। जब कोई भी जीव इसी क्रम से कर्मों का नाश करके आत्मा के गुणों का विकास करेगा, तभी वह अपने ध्येय को प्राप्त कर सकेगा।

आत्मा के साथ कर्मों का बन्ध करानेवाला कौन है? यह बात बतलाते हैं :—

योगात्प्रदेशबन्धः स्थितिबन्धो भवति तु कषायात् ।
दर्शनबोधचरित्रं न योगरूपं कषायरूपं च ।।२१५।।

अन्वयार्थः—[**प्रदेशबन्धः**] प्रदेशबन्ध [**योगात्**] मन, वचन काय के व्यापार से [**तु**] और [**स्थितिबन्धः**] स्थितिबन्ध [**कषायात्**] क्रोधादि कषायों से [**भवति**] होता है, परन्तु [**दर्शनबोधचरित्रं**] सम्यग्दर्शन, सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय [**न**] न तो [**योगरूपं**] योगरूप है [**च**] और न [**कषायरूपं**] कषायरूप ही है ।

टीका — '**योगात् प्रदेशबन्धः भवति तु कषायात् स्थितिबन्धः भवति यतः दर्शनबोधचरित्रं योगरूपं च कषायरूपं न भवति ।**' – मन, वचन, काय के योग से प्रदेशबन्ध और प्रकृतिबन्ध होता है तथा क्रोधादि कषायों से स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध होता है । यहाँ श्लोक में यद्यपि प्रकृति-बन्ध और अनुभागबन्ध का उल्लेख नहीं किया गया है तो भी उपलक्षण से ग्रहण हो जाता है । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ये तीन न तो योगरूप हैं और न कषायरूप ही हैं । इसलिये रत्नत्रय कर्मबन्ध का कारण नहीं हो सकता ।

भावार्थः—बन्ध चार प्रकार का है – प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थिति-बन्ध, अनुभागबन्ध । इनमे से प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध तो योगो से होते हैं तथा स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कषायों से होते हैं । अब इन चारों बन्धों का स्वरूप कहते हैं । १. **प्रकृतिबन्ध** – प्रकृति नाम स्वभाव का है । कर्मों को मूलप्रकृति आठ और उत्तरप्रकृति एक सौ अड़तालीस हैं ।

१. **ज्ञानावरणी कर्म** का स्वभाव परदे के समान है, जैसे जिस वस्तु के ऊपर परदा ढंका हुआ हो, वह परदा उस वस्तु का ज्ञान नहीं होने में कारण है, उसीप्रकार जबतक आत्मा के साथ ज्ञानावरणी कर्मरूपी परदा हो, तबतक वह आत्मा को पदार्थों का सम्यग्ज्ञान नहीं होने में कारण है ।

२. **दर्शनावरणी कर्म** का स्वभाव दरबान जैसा है । जिसप्रकार दरबान राजा का दर्शन नहीं होने देता, वैसे ही दर्शनावरणी कर्म आत्मा को स्व-पर पदार्थों का दर्शन नहीं होने देता ।

३. वेदनीयकर्म का स्वभाव शहद लपेटी तलवार के समान है। जैसे तलवार चखने पर मीठी लगती है, परन्तु जीभ को काट डालती है। वैसे ही वेदनीय कर्म भी पहले थोड़े समय सुखरूप लगता है, पश्चात् दुखदायक बन जाता है।

४. मोहनीयकर्म का स्वभाव मदिरा जैसा है। जैसे मदिरा पीने से मनुष्य असावधान हो जाता है अर्थात् मनुष्यता का भान नहीं रहता, वैसे ही मोहनीय कर्म में जुड़ने से आत्मा अपने स्वरूप को भूलकर पर पदार्थों में अपनत्व, स्वामित्व तथा कर्त्ता-भोक्ता-पना मानता है।

५. आयुकर्म का स्वभाव बेड़ीसहित जेल समान है। जिसप्रकार कोई मनुष्य जबतक जेल में है, तबतक वहाँ से निकलकर कहीं भी आ नहीं सकता, उसी प्रकार जीव ने जिस आयुकर्म का बन्ध किया है, वह आयु जबतक पूर्ण न हो, तबतक उसे उसी गति में रहना पड़ता है।

६. नामकर्म का स्वभाव चित्रकार समान है। जिसप्रकार चित्रकार भिन्न-भिन्न जाति के अर्थात् कभी मनुष्य का, घोड़े का, कभी हाथी का चित्र बनाता है, उसीप्रकार नामकर्म भी इस जीव को कभी मनुष्य, कभी बहरा, कभी गूंगा, कभी लंगड़ा इत्यादि प्रकार से अनेकरूप बनाता है।

७ गोत्रकर्म का स्वभाव कुम्हार जैसा है। जैसे कुम्हार कभी छोटे और कभी बड़े वर्तन बनाता है, वैसे ही गोत्रकर्म भी इस जीव को कभी उच्च कुल में और कभी नीच कुल में उत्पन्न करता है।

८. अन्तरायकर्म का स्वभाव भण्डारी जैसा है। जैसे राजा किसी को कोई इनाम आदि देता हो और भण्डारी उसे न देने दे, वैसे ही अन्तरायकर्म भी आत्मा को प्राप्त होनेवाले पदार्थों में अनेक प्रकार के विघ्न डालकर उन पदार्थों को प्राप्त नहीं होने देता अर्थात् यह दान लाभादि में अन्तराय डालता है।

इस तरह यह आठ कर्मों का स्वभाव है। ये सभी अपने-अपने स्वभावसहित जीव के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं, इसीको प्रकृतिबन्ध कहते हैं।

अब प्रदेशबन्ध का वर्णन करते हैं। आत्मा के असंख्यात प्रदेशों में से एक-एक प्रदेश के साथ कर्म के अनन्तानन्त परमाणु बँधते हैं अर्थात् जीव के प्रदेश और कर्म के परमाणु दोनों एक क्षेत्रावगाह होकर रहते है, उसे प्रदेशबन्ध कहते हैं।

अब **स्थितिबन्ध** का वर्णन करते हैं। जो कर्म (जीव के साथ रहने की) अपनी-अपनी स्थिति लिये हुए बँधे, उसे स्थितिबन्ध कहते हैं। जैसे कि ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, वेदनीय और अन्तराय – इन चार कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति ३० कोड़ाकोड़ी सागर की है और मोहनीय कर्म में से दर्शनमोहनीय की ७० कोड़ाकोड़ी तथा चारित्रमोहनीय की ४० कोड़ाकोड़ी सागर की है। नाम और गोत्रकर्म की स्थिति २० कोड़ाकोड़ी सागर की है। आयुकर्म की स्थिति ३३ सागर की है। इसप्रकार यह इन सबकी उत्कृष्ट स्थिति हुई है। जघन्य स्थिति नाम और गोत्रकर्म को ८ मुहूर्त्त, वेदनीय की १२ मुहूर्त्त, ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय, अन्तराय और आयुकर्म की अन्तर्मुहूर्त्त है। मध्यम स्थिति के अनन्त भेद हैं। इस-प्रकार स्थितिबन्ध का वर्णन किया।

अब **अनुभागबन्ध** का वर्णन करते हैं। कर्मों का विपाक अर्थात् उनमें जो फल देने की शक्ति होती है, उसे ही अनुभागबन्ध कहते हैं। यह अनुभागबन्ध घातियाकर्मों का तो केवल अशुभरूप ही होता है और अघातियाकर्मों का शुभरूप तथा अशुभरूप दोनों प्रकार का होता है। जैसे कि ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय और अन्तराय – इन चार का तो लता, लकड़ी, हड्डी और पत्थररूप क्रम से बढ़ता-बढ़ता बन्ध होता है और नाम, गोत्र, वेदनीय, आयु – इन चार कर्मों का यदि शुभरूप हो तो गुड़, खाँड, शक्कर और अमृत समान क्रमशः बढ़ते हुए माधुर्य की तरह शुभरूप फल देता है और यदि अशुभरूप हो तो नीम, काँजी, विष और हलाहल समान क्रमशः बढ़ती हुई कटुकता की तरह अशुभरूप फल देता है। इसप्रकार इन सभी कर्मों का विपाक हुआ करता है। इस तरह चारों प्रकार के बन्ध का वर्णन किया।

रत्नत्रय से बन्ध कैसे नहीं होता – यह बताते हैं :—

दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः।
स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः ॥२१६॥

अन्वयार्थः—[**आत्मविनिश्चितिः**] अपने आत्मा का विनिश्चय [**दर्शनम्**] सम्यग्दर्शन, [**आत्मपरिज्ञानं**] आत्मा का विशेष ज्ञान [**बोधः**] सम्यग्ज्ञान और [**आत्मनि**] आत्मा में [**स्थितिः**] स्थिरता [**चारित्रं**] सम्यक्चारित्र [**इष्यते**] कहा जाता है, तो फिर [**एतेभ्यः**] इन तीनों से [**कुतः**] किस तरह [**बन्धः**] बन्ध [**भवति**] होवे ?

टीका:—'आत्मविनिश्चितिः दर्शनं, आत्मपरिज्ञानं बोधः, आत्मनि स्थितिः चारित्रं इष्यते एतेभ्यः बन्धः कुतः भवति।' – आत्मा के स्वरूप का निश्चय करना सम्यग्दर्शन है, आत्मा के स्वरूप का परिज्ञान सम्यग्ज्ञान है और आत्मस्वरूप में लीन (अर्थात् निश्चल) होना सम्यक्चारित्र है। ये तीनों आत्मस्वरूप ही हैं। जब ये तीनों गुण आत्मस्वरूप ही हैं, तो इनसे कर्मों का बन्ध कैसे हो सकता है? अर्थात् कदापि नहीं हो सकता।

भावार्थ:—रत्नत्रय दो प्रकार का है – व्यवहाररत्नत्रय, और निश्चयरत्नत्रय। देव-शास्त्र-गुरु का तथा सात तत्त्वों का श्रद्धान करना व्यवहारसम्यग्दर्शन है, तत्त्वों के स्वरूप को जान लेना व्यवहारसम्यग्ज्ञान है, अशुभ क्रियाओं से प्रवृत्ति हटाकर शुभक्रिया में प्रवृत्ति करना व्यवहार-सम्यक्चारित्र, है – यह व्यवहाररत्नत्रय हुआ।

आत्मस्वरूप का श्रद्धान करना निश्चयसम्यग्दर्शन, आत्मज्ञान करना निश्चयसम्यग्ज्ञान और आत्मस्वरूप में परिणमन – विश्राम करना निश्चय-सम्यक्चारित्र है। (यह निश्चयरत्नत्रय साक्षात् मोक्ष का कारण है, मोक्ष-रूप ही है,) वह जीव को कर्मों से छुड़ाने का कारण है, परन्तु कर्मबन्ध का कारण सर्वथा नहीं है।

रत्नत्रय तीर्थंकरादि प्रकृतियों के भी बन्ध का कर्त्ता नहीं है, यह बताते हैं :—

सम्यक्त्वचरित्राभ्यां तीर्थंकराहारकर्म्मणो बन्धः।
योऽप्युपदिष्टः समये न नयविदां सोऽपि दोषाय ॥२१७॥

अन्वयार्थ:—[**अपि**] और [**तीर्थंकराहारकर्म्मणः**] तीर्थंकर प्रकृति और आहारक द्विक प्रकृति का [**यः**] जो [**बन्धः**] बन्ध [**सम्यक्त्व-चरित्राभ्यां**] सम्यक्त्व और चारित्र से [**समये**] आगम में [**उपदिष्टः**] कहा गया है, [**सः**] वह [**अपि**] भी [**नयविदां**] नय के ज्ञाताओं को [**दोषाय**] दोष का कारण [**न**] नहीं है।

टीका: —'सम्यक्त्वचरित्राभ्यां तीर्थंकराहार कर्म्मणः बन्धः (भवति) यः अपि समये उपदिष्टः सः अपि नयविदां दोषाय न भवति।' – सम्यक् दर्शन और सम्यक्चारित्र से तीर्थंकरप्रकृति और आहारक-प्रकृति का बन्ध

होता है, ऐसा जो सिद्धान्त में उपदेश है, वह भी अनेक नय के वेत्ता विवेकी जिनधर्मी पुरुषों के समक्ष दोष अर्थात् विरोध उत्पन्न नहीं करता ।

भावार्थः—सम्यग्दर्शन प्रगट होने के पश्चात् ही तीर्थंकर नामकर्म की प्रकृति का बन्ध तथा सम्यक्चारित्र होने के पश्चात् ही आहारक प्रकृति का बन्ध होता है, तो जो ऐसा कथन है कि रत्नत्रय तो कर्म का बन्ध करनेवाला नहीं है, वह कैसे ?

उसे स्पष्ट कहते हैं :—

सति सम्यक्त्वचरित्रे तीर्थंकराहारबन्धकौ भवतः ।
योगकषायौ नासति तत्पुनरस्मिन्नुदासीनम् ।।२१८।।

अन्वयार्थः – [**यस्मिन्**] जिसमें [**सम्यक्त्व-चरित्रे सति**] सम्यक्त्व और चारित्र होने पर [**तीर्थंकराहारबन्धकौ**] तीर्थंकर और आहारकद्विक के बन्ध करनेवाले [**योगकषायौ**] योग और कषाय [**भवतः**] होते हैं [**पुनः**] और [**असति न**] नहीं होने पर नहीं होते अर्थात् सम्यक्त्व और चारित्र बिना, बन्ध के कर्त्ता योग और कषाय नहीं होते, [**तत्**] वह सम्यक्त्व और चारित्र [**अस्मिन्**] इस बन्ध में [**उदासीनम्**] उदासीन हैं ।

टीकाः—**'सम्यक्त्व-चरित्रे सति योगकषायौ बन्धकौ भवत असति न तस्मात् तत्पुनः अस्मिन् उदासीनम् ।'** – सम्यक्त्व और चारित्र के प्रगट होने पर ही मन, वचन, काय के योग तथा अनन्तानुबन्धी को छोड़कर शेष तीन कषायों की उपस्थिति में तीर्थंकर और आहारकद्विक का बन्ध होता है; अतः रत्नत्रय है, वह तो बन्धक नहीं है, बन्ध में उदासीन है । (तीर्थंकर का बन्ध तो योग, तीन चौकड़ी अर्थात् अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन तथा नौ नोकषाय में होता है, फिर भी वह सम्यक्त्व और चारित्र इस बन्ध में उदासीन है अर्थात् रागरूप नहीं है ।)

भावार्थः—जब आत्मा में सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रगुण प्रगट नहीं था, तब भी आत्मा के साथ कर्मों का बन्ध होता था और जब एकदेश सम्यक्चारित्र प्रगट हो गया, तब भी आत्मा के साथ कर्मों का बन्ध होता है; इससे सिद्ध हुआ कि कर्मों के बन्ध में कारण योग-कषायों का सद्भाव है और कर्मों के अबन्ध में कारण योग-कषायों का असद्भाव है ।

शङ्का:—यदि ऐसा है तो सम्यक्त्व को देवायु के बन्ध का कारण क्यों कहा ?

ननु कथमेवं सिद्ध्यति देवायुः प्रभृतिसत्प्रकृतिबन्धः ।
सकलजनसुप्रसिद्धो रत्नत्रयधारिणां मुनिवराणाम् ।।२१६।।

अन्वयार्थः—[**ननु**] कोई पुरुष शंका करता है कि [**रत्नत्रयधारिणां**] रत्नत्रय के धारक [**मुनिवराणां**] श्रेष्ठ मुनियों को [**सकलजनसुप्रसिद्धः**] सर्व लोक में भलेप्रकार प्रसिद्ध [**देवायुः प्रभृतिसत्प्रकृतिबन्धः**] देवायु आदि उत्तम प्रकृतियों का बन्ध [**एवं**] पूर्वोक्त प्रकार से [**कथम्**] किस तरह [**सिद्ध्यति**] सिद्ध होगा ?

टीका:—'**ननु रत्नत्रयधारिणां मुनिवराणां सकलजनसुप्रसिद्धः देवायुः प्रभृतिसत्प्रकृतिबन्धः एवं कथम् सिद्ध्यति ।**' – यहाँ कोई शका करे कि रत्नत्रय के धारक मुनिवरों के देवायु आदि शुभ प्रकृतियों का बन्ध होता है, ऐसा जो शास्त्रों में कथन है, वह कैसे सिद्ध होगा ?

भावार्थः—यहाँ कोई शका करता है कि हे स्वामी ! पहले आपने कहा है कि तीर्थंकर प्रकृति और आहारकद्विक का बन्ध योग और कषायों से होता है, यह बात तो मेरी समझ में आ गई, परन्तु रत्नत्रय के धारक मुनियों के देवायु आदि शुभ प्रकृतियों का बन्ध होता है – ऐसा जो शास्त्रों में कथन है, वह किसप्रकार से सिद्ध होगा ?

उसका उत्तर :–

रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य ।
आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभपयोगोऽयमपराधः ।।२२०।।

अन्वयार्थः—[**इह**] इस लोक में [**रत्नत्रयं**] रत्नत्रय धर्म [**निर्वाणस्य एव**] निर्वाण का ही [**हेतु**] कारण [**भवति**] होता है, [**अन्यस्य**] अन्य गति का [**न**] नहीं [**तु**] और [**यत्**] जो रत्नत्रय में [**पुण्यं आस्रवति**] पुण्य का आस्रव होता है, [**अयम्**] यह [**अपराधः**] अपराध [**शुभोपयोगः**] शुभोपयोग का है ।

टीका:—'**इह रत्नत्रयं निर्वाणस्य एव हेतुः भवति अन्यस्य न तु यत् पुण्यं आस्रवति अयं अपराधः शुभोपयोगः ।**' – इस लोक में रत्नत्रय

अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र मोक्ष का ही कारण होता है, दूसरी गति का नहीं तथा रत्नत्रय के सद्भाव में जो शुभ प्रकृतियों का आस्रव होता है, वह सब शुभकषाय और शुभयोग से ही होता है **अर्थात् वह शुभोपयोग का ही अपराध है, किन्तु रत्नत्रय का नहीं है**। भिन्न-भिन्न कारणों से भिन्न-भिन्न कार्य होते हैं, तो भी व्यवहार से एक दूसरे का भी कार्य कहने में आता है।

भावार्थः—(प्रथम श्लोक में शिष्य ने प्रश्न किया था कि तीर्थंकर और आहारकद्विक का बन्ध तो सम्यक्त्व के भावों में योग और कषायों से बताया, फिर देवायु आदि अन्य शुभप्रकृतियों का बन्ध रत्नत्रय में कैसे हो सकता है ? उसका समाधान यह किया कि वास्तव में रत्नत्रय तो निर्वाण का ही कारण है; परन्तु उसके होते हुए जो इन्द्रादि देवपद का आस्रव होता है, वह शुभोपयोग का अपराध है; रत्नत्रय का दोष किञ्चित् भी नहीं है।)

एकस्मिन् समवायादत्यन्तविरुद्धकार्ययोरपि हि।
इह दहति घृतमिति यथा व्यवहारस्तादृशोऽपि रूढ़िमितः ॥२२१॥

अन्वयार्थः—[**हि**] निश्चय से [**एकस्मिन्**] एक वस्तु में [**अत्यन्तविरुद्धकार्ययोः**] अत्यन्त विरोधी दो कार्यों के [**अपि**] भी [**समवायात्**] मेल से [**तादृशः अपि**] वैसा ही [**व्यवहारः**] व्यवहार [**रूढिम्**] रूढ़ि को [**इतः**] प्राप्त है, [**यथा**] जैसे [**इह**] इस लोक में '[**घृतम् दहति**] घी जलाता है' [**इति**] इसप्रकार की कहावत है।

टीकाः—'**हि एकस्मिन् अत्यन्तविरुद्धकार्ययोः अपि समवायात् यथ घृतम् दहति इति व्यवहारः अपि तादृशः व्यवहारः रूढिं इतः**।' – एक ही वस्तु में जिनका कार्य परस्पर अत्यन्त विरुद्ध दो कार्यों का बन्ध होने से 'जैसे घी जलाते हैं' ऐसे एक में दूसरे का व्यवहार हो जाता है, उसीप्रकार यहाँ भी व्यवहार प्रसिद्ध हो गया है कि सम्यक्त्व से शुभ प्रकृतियों का बन्ध होता है। परस्पर विरुद्ध है ऐसे ज्ञानभाव और रागभाव के समवाय अर्थात् मिलाप से जो कर्मों का बन्ध होता है, वह इस तरह जानना चाहिये – जैसे अग्नि के संयोग से उष्ण हुए घृत के द्वारा कोई पुरुष जल गया, वहाँ यद्यपि जलाने का स्वभाव घृत का नहीं है, अग्नि का ही है। परन्तु फिर भी उन दोनों के संयोग से लोक में ऐसा कहा जाता है कि घृत

ने शरीर को जला दिया, उसीप्रकार सम्यक्त्व और रागभाव इन दोनों के मिलाप में यद्यपि बन्ध का कारण तो राग ही है, सम्यक्त्व नहीं; फिर भी व्यवहाररूढ़ि से यही प्रसिद्ध है कि रत्नत्रय इन्द्र अहमिन्द्रादिक शुभबन्ध का कारण है अर्थात् सम्यक्त्व से शुभप्रकृतियों का बन्ध होता है।

भावार्थः—जैसे अग्नि और घृत दोनों का परस्पर विरुद्ध कार्य है। घृत का काम तो पुष्ट करने का है और अग्नि का काम जलाने का है। घी तो जलाता नहीं है, किन्तु ऐसा कहा जाता है कि घी जलाता है, उसीप्रकार सम्यक्त्व का काम कर्मबन्ध कराने का नहीं है, फिर भी जब आत्मा में सम्यक्त्व और रागभाव दोनों के सम्बन्ध से ऐसा कहा जाता है कि सम्यक्त्व से कर्म का बन्ध होता है; इसीलिये लोक में व्यवहार भी ऐसा होता है कि सम्यक्त्व से शुभकर्मों का बन्ध होता है, रत्नत्रय से मोक्ष का लाभ होता है।

(विचार करने से ज्ञात होगा कि जलाना घी का लक्षण नहीं है, वह तो अग्नि का ही लक्षण है; किन्तु दोनों का परस्पर संयोग हो जाने के कारण यदि यह कह दिया जाय कि अमुक पुरुष घृत से जल गया तो कोई दोष नहीं है। उसीप्रकार एक पुरुष में ज्ञानधारा और अज्ञानधारा दोनों एक ही समय में चल रही है, वहाँ बन्ध का कारण तो रागादिरूप अज्ञानधारा ही है, ज्ञानधारा बन्ध का कारण नहीं है, फिर भी दोनों का संयोग होने के कारण सम्यक्त्व को शुभबन्ध का कारण कह दिया जाय तो दोष नहीं है, ऐसा व्यवहार इस लोक में प्रसिद्धता को प्राप्त हुआ है)

रत्नत्रय से तो मोक्ष का लाभ होता है :—

सम्यक्त्वबोधचारित्रलक्षणो मोक्षमार्ग इत्येषः ।
मुख्योपचाररूपः प्रापयति परं पदं पुरुषम् ॥२२२॥

अन्वयार्थः—[इति] इसप्रकार [एषः] यह पूर्वकथित [**मुख्योपचाररूपः**] निश्चय और व्यवहाररूप [**सम्यक्त्व-बोध-चारित्रलक्षणः**] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र लक्षणवाला [**मोक्षमार्गः**] मोक्ष का मार्ग [**पुरुषं**] आत्मा को [**परं पदं**] परमात्मा का पद [**प्रापयति**] प्राप्त करवाता है।

टीकाः—'सम्यक्त्व-बोध-चारित्रलक्षणः इति एषः मोक्षमार्गः मुख्योपचाररूपः पुरुषं परं पदं प्रापयति ।' – सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-

चारित्र इन तीन स्वरूप ही मोक्षमार्ग अर्थात् निर्वाण का मार्ग है। यह मोक्षमार्ग निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार का है और यही आत्मा को मोक्ष पहुँचाता है।

भावार्थः—निश्चयरत्नत्रय तो मुख्य है और व्यवहाररत्नत्रय उपचार-रूप है, यह दोनों ही मोक्ष के मार्ग हैं और जीव को परमपद की प्राप्ति करवाले हैं अर्थात् निश्चयमोक्षमार्ग साक्षात् मोक्षमार्ग का साधक है तथा व्यवहारमोक्षमार्ग परम्परा से मोक्षमार्ग का साधक है अथवा व्यवहारमोक्ष-मार्ग निश्चयमोक्षमार्ग का कारण है।

अब परमात्मा का स्वरूप कहते हैं :—

नित्यमपि निरुपलेपः स्वरूपसमवस्थितो निरुपघातः ।
गगनमिव परमपुरुषः परमपदे स्फुरति विशदतमः ॥२२३॥

अन्वयार्थः—[**नित्यमपि**] हमेशा [**निरुपलेपः**] कर्मरूपी रज के लेप से रहित [**स्वरूपसमवस्थितः**] अपने अनन्तदर्शन-ज्ञान स्वरूप में भले प्रकार स्थित [**निरुपघातः**] उपघात रहित और [**विशदतमः**] अत्यन्त निर्मल [**परमपुरुषः**] परमात्मा [**गगनम् इव**] आकाश की भाँति [**परम-पदे**] लोकशिखरस्थित मोक्षस्थान में [**स्फुरति**] प्रकाशमान होते हैं।

टीकाः—'**नित्यम् अपि निरुपलेपः स्वरूपसमवस्थितः निरुपघातः विशदतमः परमपुरुषः गगनम् इव परमपदे स्फुरति**।' – सदाकाल कर्ममल रहित, निजस्वरूप में स्थित, घात रहित, अत्यन्त निर्मल ऐसे परमात्मा सिद्धपरमेष्ठी हैं, वे मोक्ष में आकाश के समान देदीप्यमान रहते हैं।

भावार्थः—पुरुष नाम जीव का है और परमपुरुष नाम परमात्मा सिद्ध भगवान का है। जीव तो नरनारकादि चारों गतियों में अपनी आयु प्रमाण थोड़े काल तक ही रहता है और सिद्ध भगवान मोक्ष में सदा अनन्तकाल तक विराजमान रहते हैं। संसारी जीव तो कर्ममल से संयुक्त होने के कारण मलिन हैं और सिद्ध भगवान कर्म मल से रहित हैं, इसलिये परम निर्मल हैं। ससारी जीव पुण्य-पापरूपी लेप से लिप्त हैं और सिद्ध परमात्मा आकाश समान निर्लेप हैं। संसारी जीव विभाव परिणति के योग से सदा देहादिरूप हो रहे हैं और सिद्ध भगवान सदा निजस्वरूप में ही विराजमान रहते हैं। संसार के जीव अन्य जीवों का घात करते हैं तथा दूसरे जीवों के द्वारा स्वयं भी घाते जाते हैं, परन्तु सिद्ध परमेष्ठी न तो किसी का घात करते हैं और न किसी के द्वारा घाते जात हैं। ऐसे

सिद्ध भगवान अखण्ड, अविनाशी, निर्मल, निजस्वरूप में स्थित सदाकाल परमपद अर्थात् मोक्ष में ही विराजमान रहते हैं।

कृतकृत्यः परमपदे परमात्मा सकलविषयविषयात्मा ।
परमानन्दनिमग्नो ज्ञानमयो नन्दति सदैव ।।२२४।।

अन्वयार्थः—[**कृतकृत्यः**] कृतकृत्य, [**सकलविषयविषयात्मा**] समस्त पदार्थ जिनके विषय हैं अर्थात् सर्व पदार्थों के ज्ञाता, [**परमानन्दनिमग्नः**] विषयानन्द से रहित ज्ञानानन्द में अतिशय मग्न, [**ज्ञानमयः**] ज्ञानमय ज्योतिरूप [**परमात्मा**] मुक्तात्मा [**परमपदे**] सर्वोच्च मोक्षपद में [**सदैव**] निरन्तर ही [**नन्दति**] आनन्दरूप से विराजमान हैं।

टीका:—'**परमात्मा कृतकृत्यः सकलविषयविषयात्मा (विरतात्मा वा) परमानन्द निमग्नः ज्ञानमयः परमपदे सदैव नन्दति ।**' — सिद्ध भगवान को कोई काम करना शेष नहीं रहा, वह सकल पदार्थों को अपने ज्ञान में विषय करनेवाले अथवा सर्व पदार्थों से विरक्त, परम सुख में निमग्न और केवलज्ञान सहित परमपद अर्थात् मोक्ष में सदाकाल आनन्द करते हैं।

भावार्थः—संसार के अर्थात् चतुर्गति के जीवों को अनेक कार्य करने की अभिलाषा है, इसलिये कृतकृत्य नहीं हैं, सिद्ध परमेष्ठी को कोई काम करना शेष नहीं रहा; इसलिये कृतकृत्य हैं। जगत के जीव परमपद से — मोक्ष से विमुख हैं और अपद में (संसार में) स्थित हैं, सिद्ध भगवान अपद से रहित हैं और परमपद में — मोक्ष में विराजमान हैं। संसारी जीव विषय-विकार सहित हैं, सिद्ध परमात्मा विषय-विकार से रहित हैं। संसारी जीव अनेक शरीर धारण करते हुए दुःखी हो रहे हैं, सिद्ध परमेश्वर मन, वचन, काय से रहित परम आनन्द मे लीन हैं इत्यादि अनन्त गुणों सहित सिद्ध भगवान विराजमान हैं।

जैन नीति अथवा नयविवक्षा

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण ।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी ।।२२५।।

अन्वयार्थः—[**मन्थाननेत्रम्**] दही की मथानी की रस्सी को खेंचनेवाली [**गोपी इव**] ग्वालिनी की तरह [**जैनी नीतिः**] जिनेन्द्रदेव की स्याद्वादनीति अथवा निश्चयव्यवहाररूप नीति [**वस्तुतत्त्वम्**] वस्तु के

स्वरूप को [एकेन] एक सम्यग्दर्शन से [आकर्षन्ती] अपनी तरफ खेंचती है, [इतरेण] दूसरे से अर्थात् सम्यग्ज्ञान से [श्लथयन्ती] शिथिल करती है और [अन्तेन] अन्तिम अर्थात् सम्यक्चारित्र से सिद्धरूप कार्य को उत्पन्न करने से [जयति] सर्व के ऊपर वर्तती है।

(अथवा दूसरा अन्वयार्थ)

अन्वयार्थः—[मन्थाननेत्रम्] दही की मथानी को रस्सी को खेंचनेवाली [गोपी इव] ग्वालिनी की तरह जो [वस्तुतत्त्वम्] वस्तु के स्वरूप को [एकेन अन्तेन] एक अन्त से अर्थात् द्रव्यार्थिकनय से [आकर्षन्ती] आकर्षण करती है – खेंचती है और फिर [इतरेण] दूसरी पर्यायार्थिकनय से [श्लथयन्ती] शिथिल करती है, वह [जैनीनीतिः] जैनमत की न्याय पद्धति [जयति] जयवन्ती है।

टीकाः—'**मन्थाननेत्रं गोपी इव जैनी नीतिः वस्तुतत्त्वं एकेन आकर्षन्ती इतरेण श्लथयन्ती अन्तेन जयति।**' – दही की मथानी की रस्सी को खेंचनेवाली ग्वालिनी की तरह जिनेन्द्र भगवान की जो नीति अर्थात् विवक्षा है, वह वस्तुस्वरूप को एक नय विवक्षा से खेंचती है, दूसरी नयविवक्षा से ढीला करती है, वह अन्तेन अर्थात् दोनों विवक्षाओं से जयवन्त रहे।

भावार्थः—भगवान की वाणी स्याद्वादरूप अनेकान्तात्मक है। वस्तुस्वरूप का निरूपण प्रधान तथा गौण नय की विवक्षा से करने में आता है। जैसे कि जीवद्रव्य नित्य भी है और अनित्य भी है। द्रव्यार्थिकनय की विवक्षा से नित्य है और पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से अनित्य है, यही नयविवक्षा है।

[इस श्लोक में यह बताया है कि शास्त्र में किसी स्थान पर निश्चयनय की मुख्यता से कथन है और किसी स्थान पर व्यवहारनय की मुख्यता से कथन है; परन्तु उसका अर्थ यह नहीं है कि सच्चा धर्म किसीसमय व्यवहारनय (अभूतार्थनय) के आश्रय से होता है और किसीसमय निश्चयनय (भूतार्थनय) के आश्रय से होता है। वास्तव में धर्म तो हमेशा निश्चयनय अर्थात् भूतार्थनय के विषय के आश्रय से ही होता है। मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार से होता है, किन्तु मोक्षमार्ग दो नहीं हैं। सरागता से भी मोक्षमार्ग और वीतरागता से भी मोक्षमार्ग – इसप्रकार परस्पर विरुद्धता तथा संशयरूप मोक्षमार्ग नहीं है।]

ग्रन्थ पूर्ण करते हुए आचार्य महाराज अपनी लघुता बताते हैं :—

वर्णैः कृतानि चित्रैः पदानि तु पदैः कृतानि वाक्यानि ।
वाक्यैः कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्माभिः ॥२२६॥

अन्वयार्थः—[**चित्रैः**] अनेक प्रकार के [**वर्णैः**] अक्षरों से [**कृतानि**] रचे गए [**पदानि**] पद हैं, [**पदैः**] पदों से [**कृतानि**] बनाये गए [**वाक्यानि**] वाक्य हैं [**तु**] और [**वाक्यैः**] उन वाक्यों से [**पुनः**] फिर [**इदं**] यह [**पवित्रं**] पवित्र पूज्य [**शास्त्रं**] शास्त्र [**कृतं**] बनाया गया है, [**अस्माभिः**] हमारे द्वारा [**'न किमपि कृतम्'**] कुछ भी नहीं किया गया है ।

टीका:—'**चित्रैः वर्णैः पदानि कृतानि तु वाक्यानि कृतानि वाक्यैः पवित्रं शास्त्रं कृतं पुनः अस्माभिः न ।**' – इस ग्रन्थ के कर्त्ता श्री अमृतचन्द्राचार्य महाराज ग्रन्थ पूर्ण करते हुए अपनी लघुता प्रदर्शित करते हुए कहते हैं कि यह **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय** नामक शास्त्र हमने नहीं बनाया है, तो फिर किसने बनाया है ? तब आचार्य ने उत्तर दिया कि नाना प्रकार के अक्षरों से छन्दों के चरण बने हैं और उन चरणों से छन्द अर्थात् वाक्य बने है तथा उन वाक्यों से शास्त्र की रचना हुई है; इसलिये इसमें मेरा कुछ भी कर्त्तव्य नही है ।

(दोहा)

अमृतचन्द्र मुनीन्द्रकृत ग्रन्थ श्रावकाचार ।
अध्यातमरूपी महा आर्या छन्द जु सार ॥

पुरुषारथकी सिद्धिको जामें परम उपाय ।
जाहि सुनत भवभ्रम मिटे आतमतत्त्व लखाय ॥

भाषा टीका ता उपरि कीनी टोडरमल्ल ।
मुनिवर वृत्त बाकी रही ताके माँहि अचल्ल ॥

यह तो परभवको गए जयपुर नगर मँझार ।
सब साधर्मी तब कियो मनमें यही विचार ॥

ग्रन्थ महा उपदेशमय परम धामको मूल ।
टीका पूरण होय तो मिटे जीवकी भूल ॥

साधर्मिनमें मुख्य है रतनचन्द दीवान ।
पृथ्वीसिंह नरेशको श्रद्धावान सुजान ।।

तिनके अतिरुचि धर्मसों साधर्मिनसों प्रीति ।
देव-शास्त्र-गुरुकी सदा उरमें महा प्रतीति ।।

आनन्दसुत तिनको सखा नाम जु दौलतराम ।
भृत्य भूपको कुल वणिक जाको वसवे धाम ।।

कुछ इक गुरु परतापसें कीनों ग्रन्थ अभ्यास ।
लगन लगी जिनधर्मसों जिन दासनको दास ।।

तासों रतन दीवानने कही प्रीति धरि येह ।
करिये टीका पूरणा उर धरि धर्म सनेह ।।

तब टीका पूरण करी भाषारूप निधान ।
कुशल होय चहुं संघको लहै जीव निज ज्ञान ।।

सुखी होय राजा प्रजा होय धर्मकी वृद्धि ।
मिटें दोष दुख जगतके पावें भविजन सिद्धि ।।

अठारहसें ऊपरे सम्वत् सत्ताईस ।
मास मार्गशिर ऋतु शिशिर सुदि दोयज रजनीश ।।

इति श्री अमृतचन्द्रसूरिकृत पुरुषार्थसिद्ध्युपाय अपरनाम
जिनप्रवचनरहस्यकोष ग्रन्थ सम्पूर्ण ।



पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के श्लोकों की
वर्णानुक्रमणिका